भारतीय मनोविज्ञान



संपादक
प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़
डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

भारतीय मनोविज्ञान



संपादक
प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़
डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

सांख्य एवं शांकर वेदान्त के विशिष्ट अध्ययन के साथ दर्शनशास्त्र में एम. ए. । प्री. पी. एच. डी. कोर्स इन आइ. आई. टी. दिल्ली । स्वतंत्रता का सम्प्रत्यय: एक आलोचनात्मक अनुशीलन (जिद्दू कृष्णमूर्ति के विशेष संदर्भ में) विषय पर पी-एच. डी. उपाधि । विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से कनिष्ठ एवं वरिष्ठ शोध अध्येयता वृत्ति । I.P.C.R. द्वारा 2006 में Nature and lelvels of consciousness with special reference to panchakosha text of taitiriya Upanishad नामक शोध योजना पर Post Doctoral General Fellowship Award । दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, जे. आइ. सी. पी. आर. आदि पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन । समकालीन भारतीय दार्शनिकों के अध्ययन में विशेष रूचि है । श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य तथा जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन का विशेष अध्ययन । जे. कृष्णमूर्ति के विचारों पर आधारित 'मानव स्वातंत्र्य की अवधारणा' को लक्षित करते हुए एक ग्रंथ शीघ्र प्रकाश्य ।



भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के
एक प्रमुख नायक
भारती के उद्भट विद्वान
मर्मज्ञ दार्शनिक
महामहिम डॉ० सम्पूर्णानन्द जी को
सादर समर्पित

भारतीय मनोविज्ञान

सम्पादक

प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़

संवर्द्धित संस्करण

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
मध्यप्रदेश

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए प्रकाशित

भारतीय मनोविज्ञान

प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड़

डॉ. राजेश चौरसिया

संवर्द्धित संस्करण 2007

ISBN-81-88289-25-6

मूल्य - 350/-

विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
247, जवाहरगंज वार्ड
सागर - 470002 (म.प्र.)
✆ 07582-243598

आवरण चित्र : डॉ. राजेश चौरसिया

लेजर कम्पोजिंग
एक्टिव कम्प्यूटर्स
नमक मंडी, कटरा, सागर (म. प्र.)
9826434225

प्ररोचना

भारतीय चिंतन में 'मन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे बंधन तथा मोक्ष का कारण माना गया है - *मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:*। अन्त:करणों में प्रमुख 'मन' की अवधारणा का योगवाशिष्ठ एवं योगसूत्र में समृद्ध विवेचन किया गया है। इसकी गति एवं शक्ति अपरिमेय है।

पाश्चात्य परम्परा के अंतर्गत मन संबंधी विश्लेषण प्रारंभ से लेकर अद्यतन होते रहे है। यूनानी दर्शन में इसे 'नूस' (nous) कहा गया है। 'मन का दर्शन' ही 'मनोविज्ञान' है। इसमें चेतना, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, स्मृति, इच्छा, क्रिया इत्यादि विषय पर भी व्यापक रूप से विमर्श होता है।

अनेक शताब्दियों तक दर्शन एवं मनोविज्ञान युगल विधायें रहीं। इन्हें परस्पर-पूरक या परस्परावलंबी भी कहा जा सकता है। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में दर्शन एवं मनोविज्ञान के पृथक्करण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में मनोविज्ञान में प्रायोगिकी के स्वतंत्र विभाग प्रारम्भ हो गये। पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में मनोविज्ञान में प्रायोगिकी का ही बोलबाला रहा और ये विभाग स्वायत्तता का दावा करने लगे। परिणामत: दर्शनशास्त्र एवं मनोविज्ञान के शिक्षण विभागों में क्रमश: असंवाद तथा अपरिचय की स्थिति निर्मित हो गई। निस्संदेह इससे दोनों को ही क्षति हुई है। चेतना के स्वरूप को समझने के लिए दर्शन एवं मनोविज्ञान में संबंध बना रहे यह अति आवश्यक है।

अखिल भारतीय दर्शन-परिषद् द्वारा 1963 में प्रकाशित संकलन 'भारतीय मनोविज्ञान' के परिवर्द्धित संस्करण का परिषद् द्वारा ही 2007 में यह प्रकाशन दोनों विधाओं के पुनर्मिलन का सशक्त सोपान है। परिषद् द्वारा अनेक नये ग्रन्थों के प्रकाशन के वर्तमान चरण में यह पुनर्नवा उल्लेखनीय रहेगी। इसके कलेवर को समृद्ध करने में परिषद् के मंत्री एवं मेरे अनन्य सहभागी डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा का योगदान सराहनीय है। इसके सम्पादन-कार्य में युवा दार्शनिक डॉ. राजेश कुमार चौरसिया ने सहयोग दिया है। इन्हें साधुवाद। श्री राजेश केशरवानी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर भी धन्यवाद के पात्र हैं जो अखिल भारतीय दर्शन परिषद् को अपना प्रकाशकीय सहयोग प्रदान करते रहे हैं।

श्रीप्रकाश दुबे

अध्यक्ष

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

विषय सूची

संवर्द्धित संस्करण की भूमिका

दर्शन, विज्ञान एवं मनोविज्ञान

भारतीय मनोविज्ञान मन एवं मन की प्रक्रियाओं पर भारतीय दर्शनों में जो चिन्तन किया गया है उससे संबंधित विमर्श है। मन जैसे आत्मनिष्ठ विषय पर, वास्तव में, प्रत्यङ्मुख चेतना के धरातल पर ही मूलगामी रूप से विचार किया जा सकता है। किन्तु आधुनिक मनोविज्ञान ने इस आत्म निरीक्षणात्मक प्रत्यङ्मुख चेतना के धरातल को छोड़कर, प्रायोगिक एवं बाह्य निरीक्षण के धरातल पर स्वयं को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयास में वह मन जैसे अमूर्त प्रत्यय को अपने अध्ययन केन्द्र से पृथक् करता है; जो कि बाह्य निरीक्षण एवं वैज्ञानिक प्रयोग के लिये उपलब्ध नहीं है; तथा उसके दैहिक व्यवहार (*behaviour*) को मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विषय-वस्तु बनाता है; इस पूर्वग्रह के साथ कि मानवीय व्यवहार का निरीक्षण एवं प्रयोग एक 'तथ्य' की भांति किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान मन की जटिल प्रकियाओं यथा प्रत्यक्ष, स्मृति, अधिगम इत्यादि की व्याख्या इसी धरातल पर करने की कोशिश करता है। दर्शन शास्त्र के मन संबंधी अध्ययन के प्रतिपादन एवं आधुनिक मनोविज्ञान के मन संबंधी विवेचन एक दूसरे से स्वरूपतया भिन्न होते हैं। अत: यह प्रश्न यहाँ समीचीन है कि क्या मन एवं उसकी प्रक्रियाओं का अध्ययन वैज्ञानिक तथ्य की भांति किया जा सकता है ? या कि मनोविज्ञान को दर्शन को आदर्श बनाकर एक अन्य धरातल पर अपनी पद्धति विकसित करनी चाहिये। अपने इस प्रश्न के समाधान हेतु हमें सर्वप्रथम वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं की परीक्षा करनी चाहिये जिसका प्रभुत्व आज मनोविज्ञान ही नहीं बल्कि सभी सामाजिक विज्ञानों पर देखा जा सकता है। सभी सामाजिक विज्ञान अपनी विषयवस्तु का अध्ययन अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुरूप पद्धति विकसित न करके इसका अध्ययन वैज्ञानिक रीति से करना चाहते हैं। वैज्ञानिक-ज्ञान प्रमाणिकज्ञान का निकष बन चुका है।

इस भूमिका में आगे हम इसी बात की परीक्षा करने का प्रयत्न करेंगे कि क्या

मानवीय व्यवहार का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जा सकता है ? वैज्ञानिक ज्ञान की सीमायें क्या हैं ? तथा वैज्ञानिक-ज्ञान के अतिरिक्त सैद्धांतिक चेतना (*Theoretical consciousness*) के और कितने स्तर हो सकते हैं ? स्वनामधन्य श्रीकृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने अपने आलेख "*The concept of philosophy*"[1] में इन प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने के लिये एक उचित आधारभूमि निर्मित करने का प्रयत्न किया है। द्रष्टव्य है कि ज्ञान की प्रक्रिया में विषयी (*Subject*)एवं विषय (*Object*) की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है, इन्हीं को संदर्भ बनाकर ज्ञान के स्तरों का निरूपण किया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर इस ज्ञान की भाषायी अभिव्यक्ति भी आवश्यक है तभी यह सार्वजनीन और सम्प्रेषणीय बन सकता है। श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने सैद्धांतिक चेतना में विषय एवं विषयी की स्थिति एवं भाषायी अभिव्यक्ति के प्रकार को आधार बनाकर इसके स्तरों का प्रतिपादन किया है। सैद्धांतिक चेतना का प्रथम स्तर है, आनुभविक विचार (*Empirical thought*)।[2] इस ज्ञान का आधार इन्द्रियों द्वारा विषय के संबंध में प्राप्त संवेदनायें होती हैं। अत: इस ज्ञान को यथातथ्य सूचना के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। इस ज्ञान के लिये इसकी भाषायी अभिव्यक्ति अनिवार्य नहीं क्योंकि यह इसके निर्माण में हिस्सा नहीं लेती है। सैद्धांतिक चेतना के शेष तीन स्तर किसी न किसी रूप में प्रतीकात्मक भाषायी अभिव्यक्ति वाले हैं तथा इनकी संरचना में भाषायी अभिव्यक्ति भी प्रतिभागी बनती है। अत: यह इस चेतना का अनिवार्य अंग होती है। चूंकि मनुष्य की इन्द्रियों का स्वरूप एवं बनावट समान है अत: इनसे सभी मनुष्यों में एक ही प्रकार की संवेदनाएं प्राप्त होती हैं, परिणामस्वरूप इन पर आधारित ज्ञान सर्वस्वीकार्य एवं सार्वजनीन होता है। पुन: भाषायी अभिव्यक्ति भी, इस ज्ञान की संरचना का भाग नहीं होती है अत: यह भी इस सैद्धांतिक चेतना की सार्वजनीनता में बाधक नहीं बनती है। यद्यपि विषयी (*Subject*) की सहभागिता के बिना कोई भी ज्ञान निर्मित नहीं होता है तथापि ज्ञान के इस स्तर का आधार प्रधानतया तथ्य या ऐन्द्रिक संवेदनायें ही होती हैं। यही कारण है कि ज्ञान के इस प्रकार में वस्तुनिष्ठता होती है अर्थात् ज्ञान वस्तु में ही नि:शेष हो जाता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि सैद्धांतिक चेतना के अन्य स्तरों में, जहाँ पर विषयी की भूमिका प्रधानता ग्रहण करती जाती है एवं भाषायी अभिव्यक्ति इन

---

1. Concept of Philosophy, K.C. Bhattacharya, studies in Philosophy, edt. by Gopinath Bhattacharya Vol. 2, Progressive Publication, 37 collage street calcutta - 12, 1958, P.95.
2. K.C. Bhattacharya, concept of philosophy, P. 95, 102 & 107.

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की दार्शनिक पुस्तक माला के अन्तर्गत, भारतीय मनोविज्ञान से संबंधित मौलिक लेखों के प्रस्तुत संकलन को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें बहुत हर्ष का अनुभव हो रहा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी जगत् में यह पुस्तक एक बिलकुल नया प्रयास है। मनोविज्ञान पर वैसे बीसियों पुस्तकें आज तक हिन्दी में छप चुकी हैं लेकिन इनमें से एक ने भी भारतीय मनोविज्ञान की पूर्ण या आंशिक भी विवेचना प्रस्तुत नहीं की। जो मनोविज्ञान महाविद्यालयो या विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है,और पहले भी पढ़ाया जाता था, वह पश्चिम के विद्वानों की ही खोजबीन का परिणाम है। इस पढ़ाई से सुशिक्षित जनता इतनी प्रभावित हो गयी है कि उसके लिये यह जानकारी कि भारतीयों ने भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से अनुसंधान किये हैं, बिलकुल आश्चर्यकारक होती है।

भारतीय वाङ्मय में प्रभूत मात्रा में मनोवैज्ञानिक सामग्री होते हुए भी उसका संकलन करना अतीव कठिन कार्य है। यह स्थिति आकस्मिक नहीं है। भारतीयों की संश्लेषणात्मक दृष्टि ही इसका कारण है। मन एक ओर शरीराधिष्ठित है और दूसरी ओर वह आत्मा के द्वारा नियंत्रित है। उसका अस्तित्व केवल आंतरिक अनुभवगम्य या अनुमेय है। ऐसे मन का अध्ययन आत्मा या शरीर का विचार अलग रखकर नहीं किया जा सकता। इसी कारण, जिस प्रकार आयुर्वेद के ग्रंथों में मन का विचार भारतीयों ने प्रस्तुत किया है उसी प्रकार योगशास्त्र में - जो शरीराधिष्ठित मन का शास्त्र है - और अन्यान्य दर्शनों में भी उसके संबंध में अनेकानेक विचार प्रस्तुत किये हैं। मनोवैज्ञानिक विचारों का बिलकुल ऐसा स्वतंत्र, ऐसा प्रस्थान भारतीय वाङ्मय में रचा नहीं गया है।

यह बात सही है कि संसार में सभी बातें एक दूसरे से साक्षात् या परंपरया संबंधित है। अत: यद्यपि एक विषयके विचार को दूसरे विषयों के विचार से बिलकुल पृथक् नहीं किया जा सकता तथापि सभी विचार एक ही साथ चलने असंभव होने के कारण थोड़ा तो वैचारिक पृथक्करण करना ही पड़ता है। अत: मनोविज्ञान के स्वतंत्र अध्ययन का अभाव, यदि वह वास्तव में भारतीय वाङ् मय में होता तो, जरूर खटकता। लेकिन सौभाग्य से ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। 'योगदर्शन' ऐसा एक प्रस्थान

है जिस में मन या चित्त को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान देकर विचार किया गया है। यही कारण है कि अन्यान्य दर्शनों ने इस दर्शन के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्रभूत मात्रा में अपनाया है।

प्रस्तुत पुस्तक को यथाशक्ति सर्वांग परिपूर्ण बनाने की हमारी तीव्र अभिलाषा थी। लेकिन अनेक अनिवार्य कारणों से हम अपनी अभिलाषा पूर्ण नहीं कर सके और हमें प्रस्तुत सामग्री से ही संतोष कर लेना पड़ा। भारतीय मनोविज्ञान का समीक्षणात्मक अध्ययन करने वाले विद्वान् भारत में ही बहुत कम हैं, और जो हैं उनमें से बहुत ही कम लोगों ने हिन्दी में लिखने में रुचि दिखलाई है। हमारे कुछ दार्शनिक बन्धुगण तो इस विचार के थे कि हिन्दी में किसी भी दार्शनिक विषय पर कुछ भी लिखना व्यर्थ है। शायद उनका यह ख्याल है कि जैसे हमने पश्चिम से अंग्रेजी उधार ली है वैसे ही अक्ल भी। हममें अपनी अक्ल या मौलिकता हो ही कहाँ सकती है। ऐसे महापुरुषों के लिये यह प्रयास नहीं है, यह हम पहले ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

जिन जिन लोगों से हमें विचारपूर्ण निबंधों की आशा थी उनमें से कईयों ने हमें निराश किया, आश्वासन देकर भी उनकी पूर्ति नहीं की और महीनों तक हमें लटकाये रखा। इन महानुभावों के प्रति हमें कुछ कहना नहीं है। लेकिन डॉ. आत्रेय, डॉ. जावडेकर, श्री बेडेकर जैसे अत्यन्त व्यस्त, कार्यरत विद्वानों ने अपनी अनेक व्यस्तताओं के बावजूद भी हमें जो सहयोग प्रदान किया उसके लिए हम उनके, और हमारे अन्य लेखकों के भी, चिरऋणी रहेंगे।

आशा है भारतीय मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक बन्धु हमारी इस अपने ढंग की निराली कृति को अपना कर हमें प्रोत्साहित करेंगे।

13, दि एन्क्लेव गार्डस, मैनूका
ऑकलैंड (न्यूजीलेण्ड)

नारायण शास्त्री द्राविड़

डोनाल्ड डेविडसन ने अपने आलेख साइकोलॉजी एज फिलॉसफी [6](*Psychology as Philosophy*) में अपने तरीके से उपयुक्त बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार मानवीय व्यवहार में आशय,अभिप्राय (*Intention*) निहित होता है। यह इन्टेंशन मन की उन जटिल प्रकियाओं को मनोविज्ञान की विषयवस्तु की सीमा में ले आता है जो कि वास्तव में दार्शनिक विमर्श का विषय होती हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान में दर्शन का आगमंन, इन्टेंशन के साथ अनिवार्यतया हो जाता है। डोनाल्ड डेविडसन ने अपने एक अन्य लेख "एक्शन, रीजन एण्ड कॉजिस"[7] (*Action, Reason and Causes*) में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि मानवीय व्यवहार में निहित हेतु (*Reason*), वस्तुओं का संबंध बताने वाले कारण (*Cause*) से भिन्न होता है। डेविडसन के अनुसार कॉज बाह्य वस्तओं से संबंधित होने के कारण एक **बंद व्यवस्था** (*Close system*) है। बंद व्यवस्था कहने से तात्पर्य है कि एक निश्चित कार्य का निश्चित कारण तलाश करने के पश्चात् बात वहीं खत्म हो जाती है; जैसे चंद्रग्रहण का कारण है पृथ्वी का सूर्य एवं चंद्रमा के बीच आ जाना। चंद्रग्रहण कार्य के कारण की तलाश यहीं समाप्त हो जाती है। कारण (*Cause*) के अनंतर हेतु (*Reason*) में अनेक कारणों का साकल्य होता है जिसे डेविडसन **ओपन सिस्टम** (*Open system*) कहते हैं। उदाहरण के लिये यदि किसी व्यक्ति ने अपने कमरे का बल्ब स्विच ऑफ किया है तो इस कार्य के अनेक हेतु हो सकते हैं। जैसे संभव है वह व्यक्ति सोना चाहता हो और यह बल्ब उसकी आँखों में चुभ रहा हो या कमरे की प्रकाश व्यवस्था किसी अन्य स्रोत से पूरी हो रही हो, तथा यह बल्व अनावश्यक रहा हो, या हो सकता है बल्व के प्रकाश से आकर्षित होकर कीड़े अंदर आ रहे हों एवं वह व्यक्ति बल्व को बुझा कर कीड़ों के आने को नियंत्रित करना चाहता हो। स्पष्ट है कि वस्तुओं का संबंध जिस कारणता से निर्धारित किया जाता है वही कारणता मानवीय व्यवहार के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकती।

उपर्युक्त विवेचन से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि साधारण मानवीय व्यवहारों की व्याख्या भी वैज्ञानिक ज्ञान के तथ्यात्मक धरातल पर पूरी तरह से नहीं हो सकती है। मानव जीवन में उपयोगिता से परे जो भी मानव के गरिमामय सृजन हैं; जैसे साहित्य,

---

6. Donald davidson, psychology as philsophy. Philosophy of psychology edt. by S.C. Brown, the macmillan press ltd. London and B asingatake 1979. P. 41.
7. Dohald Davidson, Actions Reasons and Causes. The Journal of Philosophy, LX, No. 23 (1963), P. 685-700.

मूल्य, सौन्दर्यबोध, दर्शन इत्यादि; उनका सम्प्रत्ययन पदार्थ मीमांसा में न होकर आत्मचेतना में होता है। जब हम वेदों को वैज्ञानिक सिद्ध करने की कोशिश करते हैं या प्राणायाम एवं समाधि की मानसिक अवस्था की व्याख्या वैज्ञानिक तथ्य की भांति करने का प्रयत्न करते है, तब शायद ज्ञान की प्रक्रिया की सम्यक समझ न होने के कारण, इन उच्च स्तर के विशुद्ध आत्मनिष्ठ विचारों को पदार्थमीमांसा के अंतर्गत लाने का एक अनुचित प्रयत्न करते हैं एवं इनका अवमूल्यन अनजाने में कर देते हैं। इन क्षेत्रों में वैज्ञानिक एवं तथ्यात्मक हस्तक्षेप की एक सीमा तय की जानी चाहिये।

आधुनिक मनोविज्ञान ने व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन के धरातल पर ही स्वयं को एक स्वतंत्र विषय के रूप में स्थापित किया है। अत: उसकी दुविधा दोहरी है। उसे दार्शनिक पद्धति अपनाने में अपने अस्तित्व का खतरा उत्पन्न हो सकता है। लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि यह भय निराधार है। क्योंकि दर्शन एक सामान्य ज्ञान की विधा भी है। इसी आधार पर इतिहास दर्शन, गणितीय दर्शन, विज्ञान दर्शन इत्यादि विषय बनते हैं। जिस प्रकार विज्ञान क्या है यह विज्ञान के ज्ञान की विषयवस्तु नहीं बल्कि विज्ञान-दर्शन की विषयवस्तु है उसी प्रकार मन क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? ये प्रश्न आधुनिक मनोविज्ञान के न होकर मनोविज्ञान-दर्शन के प्रश्न हैं। लेकिन 'व्यवहार' जिसे मनोविज्ञान अपनी विषयवस्तु मानता है इसका अध्ययन वह दार्शनिक पद्धति से करके भी अपनी स्वायत्तता एवं निजता बनाये रख सकता है। भारतीय मनोविज्ञान चूंकि मन के स्वरूप पर प्रधानतया विचार करता है अत: इसे **अधिमनोविज्ञान** पद से अभिहित करना चाहिये। लेकिन भारतीय मनोविज्ञान स्मृति, प्रत्यक्ष, असामान्य व्यवहार (आधि/व्याधि), अधिगम इत्यादि मनोव्यवहारों का भी अध्ययन करता है जो कि आधुनिक मनोविज्ञान की विषयवस्तु से सीधे संबंधित हैं। आधुनिक मनोविज्ञान को तथ्यात्मक वैज्ञानिक रीति का दुराग्रह त्यागकर इन्हीं को अपने अध्ययन के प्रयोग का अभिकल्प बनाना चाहिये। जी.डी. बोआस की 'सामान्य विज्ञान' पुस्तक की प्रस्तावना में सर सिरिल वर्ट कहते हैं कि "प्राकृतिक विज्ञानों की प्रत्येक शाखा सारभूत रूप से आनुभविक अध्ययन है तथापि इसकी प्रत्येक शाखा में दार्शनिक पृष्ठभूमि समाहित होती है। विज्ञान के अनेक आधारभूत सम्प्रत्यय; जो इसके मुख्य प्रायोगिक बिन्दु हैं या अतीत में थे, जैसे - द्रव्य, गुण, कारण, संबंध, देश,काल, मात्रा, पदार्थ, ऊर्जा आदि कोटियां; दर्शन से ही गृहीत हैं या इनका ऐसा आधुनिक अनुकल्प (*Substitute*) हैं जिन्हें दार्शनिक विमर्श की अपेक्षा है। यहाँ तक कि ऐसे वैज्ञानिक जो मानते हैं कि प्रत्येक यथार्थ ज्ञान

स्तरों की संरचना में न्यूनाधिक रूप से हिस्सा लेती है, हम सैद्धांतिक चेतना के प्रथम स्तर की भांति इनमें सर्वजनीनता एवं वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। सैद्धांतिक चेतना के इन स्तरों में आत्मनिष्ठता वास्तव में कोई दोष न होकर इनकी संरचना का आवश्यक अंग होती है और इस रूप में इनकी विशिष्टता होती है। प्राकृतिक विज्ञानों का ज्ञान सैद्धांतिक चेतना के 'आनुभविक विचार' के स्तर का ही ज्ञान है, इसीलिये इसमें सार्वभौमिकता एवं वस्तुनिष्ठता पाई जाती है। इस ज्ञान के लिये किसी पदार्थ का इन्द्रियों के समक्ष तथ्य के रूप में उपस्थित होना अनिवार्य है। यही इस ज्ञान की सीमा भी है कि यदि कोई वस्तु इन्द्रियों को तथ्य के रूप में उपलब्ध नहीं है तो इस वस्तु का ज्ञान सैद्धांतिक चेतना के इस स्तर पर नहीं हो पायेगा। जटिल वैज्ञानिक सिद्धांत जैसे सापेक्षता का सिद्धांत, क्वान्टम थ्योरी इत्यादि गणित एवं तर्कशास्त्र के नियमों की सहायता से प्रतिपादित किये जाते हैं। ऐसे सभी सिद्धांत विज्ञान की प्रयोग और निरीक्षणधर्मिता की सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं। चूंकि इन सिद्धांतों का निर्देश्य बाह्य जगत् ही होता है अत: हम इन्हें भी **'आनुभविक विचार'**, के स्तर पर ही गिनते हैं।

सैद्धांतिक चेतना का दूसरा स्तर **विशुद्ध विषयनिष्ठ विचार** (*Pure objective thought*) है।[3] जहाँ सैद्धांतिक चेतना के आनुभविक विचार का आधार विषय से प्राप्त संवेदनायें थीं वहीं विशुद्ध विषयनिष्ठ विचार में विषय विषयी के द्वारा निर्देशित होने लगता है। यह ज्ञान विषय के बारे में होकर भी पूरी तरह से विषयता से मुक्त रह सकता है। इसीलिये इसे **स्वत:वर्ती** (*Self subsistent*) कहते हैं। तर्कशास्त्र के नियम एवं गणितीय-ज्ञान सैद्धांतिक चेतना के इसी स्तर के उदाहरण हैं। ये नियम यद्यपि वस्तुओं के बारे में होते हैं तथापि ये वस्तुओं से मुक्त अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रखते हैं। यह चिन्तनात्मक विचार तात्पर्य (*Meant*) के रूप में कथनीय होता है। सैद्धांतिक चेतना के इस स्तर पर इसकी कथनीयता या भाषायी अभिव्यक्ति इसके निर्माण में हिस्सा लेती है, तभी इसका अस्तित्व वस्तुओं से स्वतंत्र हो पाता है। चूंकि यह ज्ञान बाह्य वस्तुओं से स्वतंत्र होता है अत: इसकी सहायता से तत्त्वमीमांसीय अध्ययन भी संभव हो पाता है। यद्यपि स्वत:वर्ती विचार का प्रयोग वस्तुओं की व्याख्या में भी हो सकता है तथापि यह ज्ञान मात्र बाह्य वस्तुओं की व्याख्या तक ही सीमित नहीं हैं।

सैद्धांतिक चेतना का तीसरा स्तर **आध्यात्मिक विचार** (*Spiritual thought*) है।[4] ज्ञान का यह स्तर **विशुद्ध विषयीनिष्ठता** (*Pure subjectivity*) का स्तर है। यह

3. K.C. Bhatttacharya concept of philosophy. P. 95, 102 & 110.
4. Ibid, P. 95 & 102.

आस्वादिनी मनोवृत्ति (*Enjoying attitute*) प्रतीकात्मक रूप से किन्तु लिटरेली कथनीय होती है। सैद्धांतिक चेतना का चौथा स्तर **अनुभवातीत विचार** (*Trancendental thought*) है।[5] इस स्तर पर विषय एवं विषयी दोनों का अतिक्रमण हो जाता है, यह विचार मात्र प्रतीकात्मक रूप से कथनीय होता है। इन सैद्धांतिक चेतना की चार अवस्थाओं में वैज्ञानिक-ज्ञान **आनुभविक-विचार** के अंतर्गत आता है जिसे पदार्थमीमांसा भी कह सकते हैं। द्वितीय **'विशुद्ध विषयनिष्ठ विचार'** को विषय का दर्शन भी कहा जा सकता है। गणित, तर्कशास्त्र एवं तत्वमीमांसा का ज्ञान इस स्तर पर प्रतिपादनीय है। तृतीय **'विशुद्ध विषयिनिष्ठ विचार'** जिसे आत्मदर्शन भी कह सकते हैं के अंतर्गत मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र एवं धर्म दर्शन (भारतीय)आदि विषय आते हैं। **परम सत्य** (*Absolute truth*) का विचार सैद्धांतिक चेतना के चतुर्थ स्तर पर किया जाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि वैज्ञानिक ज्ञान जो कि तथ्यों पर आधारित होता है, एक मात्र प्रामाणिक ज्ञान नहीं है। मानव व्यवहार; जिसमें कि जटिल मानसिक क्रियायें संलग्न होती हैं; का अध्ययन इन्द्रियानुभूत तथ्यों की भांति पूरी तरह से नहीं किया जा सकता है। सैद्धांतिक चेतना के उपर्युक्त वर्गीकरण में यह बात चिंतनीय है कि विषय विषयी के द्वारा ही प्रकाशित होता है। तथ्यात्मक जगत् का वैज्ञानिक ज्ञान भी विषयी की सहायता से ही क्रमबद्धता प्राप्त करता है एवं एक नियम का रूप धारण करता है। स्पष्ट है कि ज्ञान की प्रक्रिया में विषयी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। विषय अपने ज्ञान के लिये विषयी पर निर्भर है लेकिन विषयी स्वयं प्रकाश है और वह अपना ज्ञान स्वयं कर सकता है (अवेद्यत्वेसति अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्वम्)। जब हम प्रथम स्तर से द्वितीय स्तर की ओर प्रतिवर्तित होते हैं तो क्रमशः विषयी की भूमिका सैद्धांतिक चेतना में महत्त्वपूर्ण होती जाती है। यही कारण है कि विषय की मीमांसा से विषय का दर्शन उच्च स्तर का ज्ञान है। चूंकि मानवीय-व्यवहार को एक इन्द्रियानुभविक तथ्य की भांति प्राप्त नहीं किया जा सकता; अतः समाज विज्ञान की समस्त शाखायें जो कि मानवीय-व्यवहार का अध्ययन किसी न किसी रूप में करती हैं उन्हें वैज्ञानिक ज्ञान की सीमा को समझना चाहिये एवं वैज्ञानिक पद्धति के अनन्तर अपनी-अपनी विषयवस्तु के अनुरूप दार्शनिक अध्ययन पद्धतियां विकसित करनी चाहिये।

---

5. Ibid, P. 95

आनुभविक होना चाहिये, ऐसे दार्शनिक सिद्धांत अपना रहे हैं जिन्हें दार्शनिक प्रमाण (*Philosophical Proof*) कहा जाता है। मनोविज्ञान में भी इस उभय चरित्र का आधार-भूत महत्त्व है जिसे अक्सर ही अनदेखा कर दिया जाता है।''[8] जिसप्रकार से प्राकृतिक विज्ञान द्रव्य, गुण, कारण, संबंध, देश, काल, पदार्थ, ऊर्जा इत्यादि कोटियों को दर्शन से अपना कर इनका अध्ययन अपनी निजता में करता है उसी प्रकार मनोविज्ञान को भी मानसिक व्यवहार संबंधी मूलभूत सम्प्रत्ययों को दर्शन से ग्रहण करके; अपनी स्वायत्तता एवं निजता में अपनी अध्ययन पद्धति विकसित करके; इनका अध्ययन करना चाहियें। भारतीय दर्शनों में आत्मा और मन संबंधी चिन्तन जिस व्यापकता में उपलब्ध हैं वह सब आधुनिक मनोविज्ञान को अपनी समृद्धि के लिये व्यापक सामग्री प्रदान कर सकते हैं। एक समय दर्शन और मनोविज्ञान का विकास ज्ञान की एक विधा के रूप में साथ-साथ हुआ था, लेकिन आज इनके विषय एवं क्षेत्रों की अपनी-अपनी स्वायत्ततायें हैं। आज दर्शनशास्त्र जैसा विषय भी जब अनुप्रयुक्त दर्शन के (*Appliked Philosofex*) आयाम को आत्मसात कर रहा है तो ऐसी स्थिति में दर्शन एवं मनोविज्ञान को फिर से एक दूसरे से संपूरक के रूप में सामने आने की महती आवश्यकता है।

भारतीय मनोविज्ञान नामधेय इस कृति का नवीन एवं परिवर्द्धित संस्करण प्रस्तुत करते हुये मुझे अतीव हर्ष एवं आत्मसम्मान का अनुभव हो रहा है। यह पुस्तक इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इस शीर्षक से हिन्दी भाषा में यह एक मात्र प्रामाणिक पुस्तक है। साथ ही साथ जिन विद्वानों ने निबंध लिखकर इस पुस्तक में योगदान दिया है वे दर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त विशिष्ट एवं ख्यातिलब्ध रहे हैं। इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण का सम्पादन कार्य करने का दायित्व मुझे अखिल भारतीय दर्शन परिषद के मंत्री डॉ. **अम्बिकादत्त शर्मा** जी के द्वारा प्रदान किया गया; साथ ही साथ इस पुस्तक के संवर्द्धन एवं संशोधन में उन्होंने कदम-कदम पर मेरा मार्ग दर्शन किया ; जिसके लिये मैं अनुग्रह अनुभव करता हूँ। साथ ही साथ अखिल भारतीय दर्शन परिषद के अध्यक्ष **प्रो. श्रीप्रकाश दुबे** एवं समस्त पदाधिकारियों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के संपादक प्रो. नारायण शास्त्री द्राविड ने अपने आलेख में स्पष्ट किया है कि चूंकि इस पुस्तक में भारतीय मनोविज्ञान को अनेक स्वतंत्र निबंधों के द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, अत: यह पुस्तक एक व्यवस्थित ग्रंथ का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सकी। पुस्तक के नवीन संस्करण में दो आलेख - **'वल्लभ वेदान्त में अंत:करण का स्वभाव और क्रियाकलाप'** तथा **'भारत**

---

8. सिरिल बर्ट, इसी पुस्तक के (आयुर्वेद का मनोविज्ञान) निबंध में उद्धृत।

तथा मनोविश्लेषण का जोखिम' (डायोजिनीज़ के अंक 14 से साभार) जोड़े गये हैं। इनके अलावा 'भारतीय दर्शनों में मन की अवधारणा के मूलभूत संदर्भ' नामक एक बृहद् परिशिष्ठ भी जोड़ा गया है। चूंकि पुस्तक के नवीन संस्करण में सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के मन संबंधी विचार प्रस्तुत करना संभव नहीं हो पाया एतदर्थ यह परिशिष्ठ; जिसमें कि भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदायों के मन संबंधी मूलभूत संदर्भों को प्रस्तुत किया गया है; एक सीमा तक पुस्तक की इस कमी की भरपाई कर देता है। इस ग्रंथ के संवर्द्धित संस्करण के निर्माण में संपादक की भूमिका का निर्वाह करते हुये संपादन कर्म में मुझे डॉ. शत्रुघ्न चतुर्वेदी, और ऋषभ जैन, डॉ. नवीन कांगो एवं श्रीमती मंजुलारत्न से सहयोग एवं प्रेरणायें प्राप्त होती रहीं हैं। इस अवसर पर मैं उन सबका सहचर भाव से शुभस्मरण करता हूँ। अपने सम्मानित शिक्षकों में प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी, डॉ. अखिलेश दुबे एवं अन्य विभागीय सहयोगियों का भी मैं इस अवसर पर कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रो. दयाकृष्ण जी का भी मैं इस अवसर पर स्मरण कर रहा हूँ जिनका स्मरण मात्र ही अकादमिक कार्य में संलग्न रहने की प्रेरणा देता है। विश्वविद्यालय प्रकाशन के प्रोप्राइटर श्री राजेश केशरवानी को भी साधुवाद देता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ की अकादमिक आवश्यकता को समझा और इसके संवर्द्धित नवीन संस्करण को प्रकाशित करने में विशेष रूचि दिखाई। प्रथम संस्करण के आलेख यद्यपि ज्यों के त्यों इस संस्करण में प्रस्तुत किये गये हैं तथापि इनमें अत्यल्प भाषा सम्बन्धी परिष्कार, आलेख की मूलभावना को संरक्षित रखते हुये, किये गये हैं। साथ ही साथ कुछ आलेखों के शीर्षकों में भी भाषायिक परिष्कार करने का प्रयास किया गया है। आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान आलेख में उद्धरण अंग्रेजी भाषा में दिये गये थे। हिन्दी भाषी पाठकों को ध्यान में रखते हुये इनका हिन्दी में भावानुवाद करके मूल अंग्रेजी उद्धरणों को उसी स्थान पर कोष्टीकृत कर दिया गया है। स्वबुद्धि एवं स्वक्षमतानुरूप पुस्तक के नवीन संस्करण को परिष्कृत करने का प्रयास किया गया है।

राजेश कुमार चौरसिया

देव प्रबोधिनी एकादशी
एच. आई. जी. 37, द्वारिका बिहार
द्वितीय फेज़ सागर (म.प्र.) 470001

1

भारतीय मनोविज्ञान : पर्यवेक्षण

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रस्तुत पुस्तक में जिन निबंधों का संकलन किया गया है वे भारतीय मनोविज्ञान के अन्यान्य पक्षों में से कुछ का ही संक्षिप्त रूप उपस्थित करते हैं। हर लेखक की अपनी अपनी प्रतिपादन क्षमता तथा विवेचन शैली है, और मनोविज्ञान के अपने अपने स्वीकृत क्षेत्र में किन बातों का समावेश करना चाहिये, किनका नहीं, इस बात के निर्णय का दायित्व लेखक पर ही छोड़ दिया गया है। इसका परिणाम यह होना अनिवार्य था कि समूची पुस्तक में से भारतीय मनोविज्ञान के विभिन्न पहलुओं का सुस्पष्ट तथा सुसंघटित स्वरूप न झलक पड़े। हर संकलनात्मक ग्रंथ में इस प्रकार की अस्पष्टता रह जाना स्वाभाविक ही है। भारतीय मनोविज्ञान जैसे विषय से संबंधित ग्रंथ में इस अस्पष्टता का पाया जाना तो और भी स्वाभाविक है। भारतीय मनोविज्ञान अन्य विभागों के समान ही दर्शन का अभिन्न अंग रहा है। मन, मनोवृत्तियां और मानसिक जीवन इन सब विषयों का विभिन्न दृष्टिकोणों से जो विचार भारतीय दार्शनिकों ने किया है वह दर्शन के अन्य पक्षों को नजर के सामने रख कर ही किया गया है। इस कारण मनोविज्ञान और अन्य दार्शनिक विभागों का अंतर भारतीय दर्शन में विशेष स्पष्ट कभी नहीं रहा है। अतएव मनोविज्ञान की चर्चा करते हुए तत्व शास्त्र, ज्ञान मीमांसा आदि की विस्तृत या आनुषंगिक चर्चा टालना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कठिनाई इस पुस्तक के प्राय: सभी लेखों में हमें दिखलाई पड़ती है। फिर भी इस पर से यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि भारत में मनोविज्ञान का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन प्राचीन काल में किया नहीं जाता था। प्राचीन काल की विभिन्न अध्ययन पद्धतियों के निदर्शक प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इतना हम बेझिझक कह सकते हैं कि मन संबंधी अनेक वैज्ञानिक तथ्य भारतीय मनीषियों को अज्ञात नहीं थे। इतना ही नहीं, मनोजीवन के जिन पक्षों को आधुनिक काल में भी ठीक तरह अध्ययन नहीं किया जा रहा है उनका बड़ी गहराई के

साथ योग दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद आदि में प्राचीन पंडित विचार किया करते थे। आजकल परामनोविज्ञान के नाम से जिस विषय का यत्र-तत्र निर्देश और थोडा बहुत विचार भी प्रस्तुत किया जाता है वह भारतीय मनोविज्ञान की आधारभित्ति थी। सामान्य मनोविज्ञान इसी का अपकृष्ट या निष्कृष्ट रूप समझा जाता था। सामान्य और असामान्य या विकृति संबंधी *(Abnormal)* मनोविज्ञान यह विभाग भारतीयों को कभी मान्य नहीं हुआ है।

यह बात ऊपरी तौर से केवल विषय विभाग से ही संबंधित अतएव उपेक्षणीय समझी जा सकती है। लेकिन हमें इसमें प्राचीन और अर्वाचीन वैचारिक दृष्टियों का मूलगामी फर्क ही दिखलाई पड़ता है। आधुनिक मनोविज्ञान, और वैसे देखा जाय तो विज्ञानमात्र ही, सामान्य मानसिक घटनाओं को ही अपना मुख्य विषय मानता है। असामान्य मनोवृत्तियों-जैसे प्रतिभा, अन्त:स्फूर्ति, परचित्त ज्ञान आदि - का विचार अनिवार्य होने के कारण ही आधुनिक मनोविज्ञान में एक आनुषंगिक अध्ययन के रूप में समाविष्ट किया गया है। किन्तु आज से पच्चीस वर्ष पूर्व के पाश्चात्य वैज्ञानिक मनीषी असामान्य की सत्यता भी मानने के लिये तैयार नहीं थे। किन्तु इग्लैंड और अमेरिका में संस्थापित अतिमानस गवेषणा संस्थाओं *(Psychical Research Societies)* में अतिमानस संबंधी तथ्य अधिकाधिक संकलित होने लगे और थोड़े ही समय में यह संग्रह इतना बड़ा हो गया कि इसकी उपेक्षा करना ही असंभव हो गया। ब्रॉड जैसे वैज्ञानिक दृष्टि के विचारक को भी अतिमानस की सत्ता स्पष्टतया माननी ही पड़ी। अमेरिका के ड्यूक विश्वविद्यालय ने अतिमानस के अध्ययन के हेतु एक सुसज्जित प्रयोगशाला की नींव डाली जिसका पिछले कुछ वर्षों में काफी विस्तार हुआ है। अब तक इस प्रयोगशाला ने भी तथ्यों का संकलन ही किया है, उनकी कोई वैज्ञानिक उपपत्ति प्रस्तुत करने में प्रयोगकर्त्ताओं को सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

यह स्थिति कुछ विचित्र सी है। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में असामान्य *(Abstractions)* की कल्पना से ही विचार का प्रारंभ किया जाता है और सामान्य को असामान्य का एक परिस्थिति साक्षेप मूल्य माना जाता है। ब्रॉड ने इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। पुराने गणितज्ञ वृत्त को पूर्ण आकृति मानकर परवलय *(Parabola)*, अति परवलय *(Hyparbola)* आदि शंकुच्छेदन्न आकृतियों को वृत्त की विकृति समझते थे। आज के गणितज्ञ वक्र रेखा निर्मित आकृति मात्र को एक सामान्य स्वरूप द्विपद समीकरण के रूप में प्रथमन्या निर्धारित करते हैं और बाद में इसके घटक प्रमुख गुणक को विभिन्न मूल्य प्रदान कर वृत्त, परवलय आदि विभिन्न वक्रावृत्तियों को इस समीकरण से निष्कृष्ट करते हैं। असामान्य में सामान्य का समावेश कर डालने की आधुनिक वैज्ञानिक प्रवृत्ति इतनी आगे बढ़ गयी है कि सरल रेखा को भी वक्र रेखा का ही एक परिस्थिति साक्षेप स्वरूप माना जाने लगा है। समानान्तर रेखाओं को अनन्त

दूरी पर एक दूसरे को काटने वाली रेखायें मानना भी उपर्युक्त प्रवृत्ति का ही उदाहरण है।

मनोविज्ञान में यदि अब तक असामान्य को प्रधानता प्राप्त नहीं हुई है तो इसका कारण यही हो सकता है कि यह विज्ञान अभी बहुत ही अनुन्नत है और उसकी भावी प्रगति की दिशा भी अब तक निश्चित नहीं हो पायी है। प्रायोगिक मानस शास्त्री मनोविज्ञान को मन का विज्ञान ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में संपूर्ण शरीर का विज्ञान *(Science of organism)* ही मनोविज्ञान है, मन जैसी अदृश्य, अज्ञात वस्तु से उसका कोई संबंध नहीं है। किन्तु परामनोविज्ञान के अध्येता इस विचार से सहमत नहीं हो सकते हालांकि मन का स्वतंत्र अस्तित्व प्रस्थापित करने के लिये अपेक्षित वैज्ञानिक साधन अब तक उन्हें उपलब्ध नहीं हुए हैं। इसका मतलब यह है कि विभिन्न मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों के एकीकरण का समय अभी तक निकट नहीं आया है। यह स्वाभाविक भी है। किसी भी विषय के वैज्ञानिक अध्ययन को प्रारंभ में अपने क्षेत्र को विभिन्न विभागों में बांट लेना ही पड़ता है। उसके बिना बारीकी के साथ विषय पर अध्ययन संभव नहीं होता। लेकिन विभागीय अध्ययनों के फलस्वरूप जब अनेकानेक वैज्ञानिक तथ्य असंघटित रूप में इकट्ठे हो जाते हैं तब इनकी परस्पर संगति का विचार करना आवश्यक हो जाता है। मनोविज्ञान आज भी 'अपनी अपनी डफली अपना अपना राग' इस हालत से ही गुजर रहा है। यह बात अलग है कि उसके अन्तर्गत आज मतभेद या दृष्टिभेद केवल सैद्धान्तिक *(Theoratical)* नहीं हैं जैसा कि वे कुछ समय पूर्व थे। गेस्टाल्ट, बिहेवियरिज्म, फंक्शनलिज़्म, स्ट्रक्चरलिज़्म आदि मनोवैज्ञानिकवादों का पहले जैसे आज बोलबाला नहीं है। लेकिन परामनोविज्ञान *(Para-Psychology)*, विकृत मनोविज्ञान *(Abnormal Psychology)*, मनोविश्लेषण *(Psychoanalysis)*, सामान्य मनोविज्ञान *(General Psychology)* आदि के रूप में अध्ययन पद्धतियों या अध्ययन विषयों के भेद मनोविज्ञान के क्षेत्र में बने ही हुए हैं।

भारतीय मनोविज्ञान का प्रारम्भ से ही असामान्य और सामान्य को एक सूत्र में समाविष्ट करने की ओर झुकाव रहा है। इतना ही नहीं, उसने असामान्य को सामान्य का मूलाधार मानकर ही मनोविज्ञान की रचना की है। योग दर्शन के पहले सूत्र के भाष्य में ही यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। योग का स्वरूप 'चित्तवृत्ति निरोध' है, इस सूत्र का स्पष्टीकरण करते हुए योग के भाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं : 'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'। अर्थात् 'योग' यह कम अधिक मात्रा में चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त आदि सभी अवस्थाओं में विद्यमान होता है। चित्त की सामान्य अवस्था इस प्रकार योगरूप ही है। तो भी योग का पूर्ण निरोधात्मक स्वरूप निरोध समाधि में ही प्रगट हुआ करता है। इस पर से सामान्य मनोवृत्तियां योग का ही अपकृष्ट स्वरूप हैं, यह बात स्पष्ट हो

जाती है। सांख्य दर्शन का प्रकृति और विकृति रूप से मूलतत्वों का वर्गीकरण भी, जो योग दर्शन ने स्वीकार किया है, इसी बात की पुष्टि करता है। 'प्रकृति' याने स्वाभाविक नैसर्गिक या सामान्य, वह तत्व नहीं जो स्थूल, दृश्य तथा सामान्य-अनुभवगम्य है। ऐसे तत्वों को 'विकृति' कहा जाता है। जो दृश्य या स्थूल मन के स्वरूप तथा प्रक्रियाओं के संबंध में जानकारी प्राप्त करने की भारतीय दार्शनिकों की पद्धति सामान्य तथा 'अन्तर्दर्शन' इस नाम से पहचानी जाती है। आधुनिक मानसिक अध्ययन पद्धति इसके विपरीत 'बहिर्दर्शन' या 'निरीक्षण' (इसमें प्रयोग भी शामिल हैं) इस संज्ञा से निर्दिष्ट होती है। इन दो पद्धतियों का भेद मोटे तौर पर यद्यपि स्पष्ट ही है तो भी अन्तर्दर्शन के स्वरूप को ठीक तरह समझने की विशेष आवश्यकता है। अंग्रेजी में जिसे *Introspection* कहा जाता है वह भारतीयों का अन्तर्दर्शन नहीं है। बाह्य दर्शन या आन्तरिक दर्शन और उनका मूलभूत भेद प्राय: सभी भारतीय विचारकों को ज्ञात था। विषय *(Object)* के रूप में किसी वस्तु का जो ज्ञान इन्द्रियों को हुआ करता है उसे बाह्य निरीक्षण कहते हैं। यदि मनोवृत्तियों का भी इसी प्रकार विषय के रूप में ज्ञान संभव हो तो उस ज्ञान को बाह्य निरीक्षण या निरीक्षण कहने में कोई हर्ज नहीं। केवल वैशेषिक दार्शनिकों ने ही इस प्रकार के ज्ञान की संभावना स्वीकार की है। लेकिन उन्होंने भी मन के द्वारा प्राप्त होने वाले मनोवृत्तियों के ज्ञान को इतर इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले बाह्य विषयों के ज्ञान से अलग ही रक्खा। प्रायोगिक पद्धतियों से मन का पूर्ण ज्ञान प्राप्य है, यह बात किसी भी भारतीय विचारक को मान्य नहीं है। इसके लिये विभिन्न कारण विभिन्न दर्शनों ने बतलाये हैं। उदाहरणत: बौद्ध-दर्शन मन को परमाणुरूप, आन्तर व अनिरीक्ष्य मानता है। कुछ उसे सत्व गुण का सार समझकर उसकी इन्द्रियागोचरता साबित करते हैं। कुछ उसे कई भागों में बंटा हुआ किन्तु अतीव सूक्ष्म समझते हैं। ऐसे मन का ज्ञान यदि संभव है तो वह मनोवृत्तियों के जरिये ही। अर्थात् मनोवृत्तियों का अनुभव करते हुए ही उनके जरिये उनका अपना तथा उनके अधिष्ठानभूत मन का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इस ज्ञान पद्धति को कुछ विचारक *'A priori psychology'* यह नाम देते हैं। इस नाम के पीछे यह कल्पना छिपी हुई है कि मनोवृत्तियों को उनके विषयों से क्रमश: अलगाना ही उनके ज्ञान का साधन या स्वरूप है। वह अलगाना एक मनोवृत्ति के द्वारा दूसरी के निरीक्षण के ज़रिये नहीं हो सकता। इस निरीक्षण मनोवृत्तियों को बाह्य वस्तुओं का ही स्थान हम प्रदान कर देते हैं। आन्तरिकता *(Intimacy, privacy)* मनोवृत्तियों के ज्ञान की प्रमुख विशेषता है। यही विषयिता *(Subjectivity)* है जिसकी कई अवस्थायें *(Grades of subjectivity)* भारतीय तत्वचिन्तकों ने बतलायी हैं। विषयिता की एक अवस्था छोड़ दूसरी अवस्था की ओर अग्रसर होने पर ही छूटी हुई अवस्था या मनोवृत्ति का उसके विषयों से अलगाव संपन्न होता है। इस अलगाव को ख्याल में रखते हुए हम

मनोवृत्तियों के क्रमिक ज्ञानों को स्वातंत्र्यानुभूति की विभिन्न श्रेणियां *(Grades of freedom)* भी मान सकते हैं। इस विचारानुसार मन का अधिकाधिक सूक्ष्म निरीक्षण, अधिकाधिक मानसिक या आध्यात्मिक जीवन-पद्धति के पुरस्कार से ही संभव हो सकता है। आधिभौतिक जीवन की सामान्य स्थिति में आत्मा तथा मन विषयों में निमग्न हुए ही रहते हैं। इन विषयों में से - शरीर, इन्द्रिय आदि में से - मन का क्रमिक अलगाव यही आध्यात्मिक जीवन का सोपान है। और इस जीवन-मार्ग में अग्रसर होने पर ही मन का ज्ञान हो सकता है निरीक्षण या *(Introspection)* अन्तर्दर्शन मात्र से नहीं। जो कुछ निरीक्षण है वह सब बाह्य है अतएव वह अमानसिक है। आधुनिक मानस शास्त्रियों ने मनोवृत्तियों के संबन्ध में जो तथ्य प्रकाश में लायें हैं उन्हें उक्त भारतीय विचार सारणी अस्वीकार तो नहीं करेगी लेकिन उन्हें मानसिक मानने के लिये वह कतई तैयार नहीं होगी। उदाहरणत: रसेल का *'Analysis of mind'* में किया हुआ मनोवृत्तियों का विश्लेषण लीजिये। सभी मनोवृत्तियों को रसेल ने संवेदना *(Sensation)* तथा काल्पनिक प्रतिकृति *(Image)* में वर्गीकृत किया है। जहां तक वह वर्गीकरण ठीक है वहां तक वर्गीकृत मनोवृत्तियां बाह्य वस्तुएं ही हैं, ऐसा मानने में भारतीय मानस शास्त्री को कोई आपत्ति नहीं होगी। लेकिन जब वर्गीकरण में त्रुटियां दिखलायी पड़ने लगेंगी तब मनोवृत्तियों का वास्तविक मानसिक अंश वर्गीकृत नहीं हो पाया है, यह निष्कर्ष स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। रसेल के इच्छा संबंधी विश्लेषण तथा वर्गीकरण को ही लीजिये। अनेक उदाहरणों के द्वारा रसेल ने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि इच्छा भौतिक-शक्ति *(Force)* से भिन्न कोई तत्व नहीं है। भौतिक शक्ति का अस्तित्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और यह भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि इच्छा इस शक्ति के रूप में ही प्रथम शरीर में और बाद में बाह्य वस्तुओं में प्रगट होती है। लेकिन इस शक्ति के पीछे मनुष्य के मन में भी, केवल शरीर के अन्दर नहीं, कुछ है या नहीं, इस प्रश्न का हल उक्त कथन से प्राप्त नहीं होता। भारतीय विचारकों का मतलब है कि ऐसा कुछ तत्व अवश्य हुआ करता है जो स्थूल या सूक्ष्म भौतिक शक्तियों से नितान्त भिन्न है। इस बात का निर्णय किसी प्रायोगिक पद्धति से नहीं हो सकता, इसका एकमात्र साधन मनोवृत्तियों का आध्यात्मिक अनुभव ही है।

भारतीय दर्शनों में मनोवैज्ञानिक प्रमेयों का विश्लेषण इतर प्रमेयों के समान खंडन-मंडन के तरीके से ही किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इस विश्लेषण में ऐतिहासिक विवेचन के उपयुक्त सिलसिला *(continuity)* बहुत कम पाया जाता है। किसी सतही *(Superficial)* निरीक्षक को भारतीय मनोविज्ञान में भिन्न-भिन्न विद्वानों के विभिन्न मतों का समुच्चय मात्र ही उपलब्ध होगा, लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर इन मतमतान्तरों में विकास की कई अवस्थायें हमारी नज़र में आये बिना नहीं

रहेंगी। यदि प्रयत्न किया जाय तो भारत के मनोवैज्ञानिक साहित्य में से *Physiological psychology, comparative Psychology, Animal Psychology* जैसी अन्यान्य शाखायें निष्कृष्ट करना असंभव नहीं है। इस लघु निबंध में इन सब विषयों की चर्चा नहीं की जा सकती। तथापि वेद, उपनिषद्, भगवद् गीता, आयुर्वेद, आदि के दर्शन की मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन यहां किया जायगा। उस पर से, भारत का एतत्संबंधी वाङ्मय कितना सुविस्तृत है, इस बात का कुछ अन्दाज़ा लग सकता है। अभी इस दिशा की ओर अनुसंघाता लोग अग्रसर नहीं हुए हैं। गवेषणा के लिये प्रभूत सामग्री पड़ी हुई है। कम से कम दो तीन दशकों के विद्वानों के सुनियोजित प्रयत्नों से ही भारतीय मनोविज्ञान के विस्तार का ठीक ठीक आभास प्राप्त हो सकता है।

भारत का सबसे प्राचीन वाङ्मय वेद है जो ऋक्, यजु:, साम और अथर्व इन चार प्रकारों तथा संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक इन तीन खंडों में विभक्त है। श्रौत सूत्र, कल्पसूत्र और गृह्य सूत्र और इसी प्रकार शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष आदि छ: वेदांग इन सब का भी वैदिक वाङ्मय में ही अन्तर्भाव किया जाता है। इनमें से प्रत्येक में मनोवैज्ञानिक अध्ययन सामग्री प्राप्य है। तो भी वेदों के रूप में हम केवल ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के कुछ प्रमुख मन: संबंधी विचारों की ही यहां चर्चा करेंगे। इससे अधिक के लिये यहां अवसर नहीं है। उपनिषदों की कल्पनाओं पर विचार, उनकी मौलिकता का ख्याल करते हुए, स्वतंत्र रूप से ही यहां किया जाएंगा।

मनुष्य के आन्तरिक जीवन के आधारभूत तत्व के रूप में मन की पहचान ऋग्वेदकर्ता ऋषियों को अच्छी तरह है। मन का चन्द्रमा के साथ संबंध वेदों में माना गया है। चन्द्रमा रात्रि का प्रकाशक होने के नाते वह मनुष्य के स्वप्न जीवन का उद्भासक समझा गया है, ऐसा इस पर से प्रतीत होता है। चन्द्रमा के विपरीत सूर्य जागृति का अधिष्ठाता माना गया है। मन की शक्तियां बाह्य पदार्थों की शक्तियों से भिन्न हैं, इतना ही नहीं, वे उनकी आधार हैं यह कल्पना भी स्पष्टतया ऋग्वेद में उपस्थित की गयी है। विश्व की सृष्टि करने वाला ईश्वर स्वयं अभौतिक ('अनस्था' याने अस्थिरहित अतएव अभौतिक) होते हुए भी भौतिक ('अस्थष्टवंतं अर्थात् 'अस्थियुक्त') सृष्टि करने में समर्थ है, यह वर्णन इस बात का प्रमाण है।

मन को शरीर के बाह्य अंगों से अलग और महत्वपूर्ण स्थान वेदों में दिया गया है, इतना ही नहीं, उसकी असामान्य शक्तियों का अनेक स्थानों पर वैदिक वाङ्मय में उल्लेख आया है। 'मनसोरत:' इस प्रयोग से, भौतिक शरीर के समान ही मन का भी वीर्य हुआ करता है, यह बात स्पष्ट होती है। 'स्वधा' यह शब्द भौतिक शरीर की किसी शक्ति का वाचक न होकर मन की आन्तरिक शक्ति का ही वाचक है। यह बात इस शब्द के शाब्दिक विश्लेषण से भी ज़ाहिर हो जाती है। 'स्व' याने अपने ही द्वारा धारण किया

हुआ, अर्थात् मनुष्य की अपनी ही जो आन्तरिक शक्ति होती है उसी का नाप 'स्वधा' है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में, सृष्टिपूर्व काल में स्वधा के आधार पर ही विश्व का आधारभूत तत्व अपना अस्तित्व बनाये हुए था, ऐसा 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' इस पाद में वर्णित है। 'स्वधा' का दूसरा अर्थ स्वयं धारित या आत्मनिर्भर ऐसा भी होता है जिस पर से यह भाव प्रगट होता है कि मन की शक्ति किसी बाह्य आधार की अपेक्षा नहीं करती। मन के स्वतंत्र इन्द्रिय होने की कल्पना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में स्पष्टतया उल्लिखित है। मन की विभिन्न वृत्तियों का - काम, संकल्प आदि का - यद्यपि वेदों में विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता तथापि कुछ मनोवृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन वैदिक वाङ्मय में अवश्य प्रस्तुत है। मन्यु सूक्त, श्रद्धा का वर्णन करने वाला सूक्त तथा अन्य छिटपुट सूक्त इस बात के प्रमाण हैं। केवल इन्हीं कुछ इनीगिनी मनोवृत्तियों का वेदों में वर्णित होना शायद इनके विशेष महत्व के आकलन के कारण हो। देवताओं का क्रोध और उनके प्रति श्रद्धाभाव ये दो मनोवृत्तियां वैदिक ऋषियों को विशेष महत्वपूर्ण प्रतीत हुई हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यद्यपि स्पष्ट शब्दों में अन्य मनोवृत्तियों का निर्देश करने वाले सूक्त वेदों में नहीं दिखलायी पड़ते तथापि 'स्कंभ', 'काल' आदि व्यापक संज्ञाओं की आड़ में मन और मनोवृत्तियों का ही वर्णन हम वहां प्राप्त करते हैं। स्कंभ सूक्त में मन का परोक्षरूप से विश्व के आधार शक्ति के रूप में उल्लेख है। इस तथा अन्य सूक्तों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों को मन का अस्तित्व शरीर, इन्द्रिय तथा अन्य भौतिक पदार्थ इनसे कहीं अधिक व्यापक रूप में स्वीकार्य है। हरेक शरीर में उसी का अपना मन होना चाहिये और यह मन दूसरे शरीर के मन से अलग होना चाहिये, यह बात स्पष्टतया वेदों में उल्लिखित नहीं मिलती। वैदिक मन यह बहुत कुछ वैश्विक मन है जो सांख्य के दर्शन के 'महत्तत्व' से समानता रखता है।

इस संबंध में एक बात विशेष रूप से विचारणीय है। मन और प्राण, अपान व्यान, उदान, समान आदि वायुओं और इसी प्रकार तप तथा शब्द शक्ति इन विभिन्न आन्तरिक तत्वों को एक दूसरे से स्पष्टतया वेदों में अलगाया नहीं गया है। वैसे तो ये सभी आन्तरिक ही तत्व हैं लेकिन इनमें श्रेणी भेद है यह कल्पना उपनिषदों में ही विशद की गयी है। इसका मतलब यह नहीं कि इन सब तत्वों को वेदों ने आपस में घपला दिया है। तैतिरीय आरण्यक में प्राण, अपान आदि का शरीर धारक वायु तत्व के रूप में सुस्पष्ट निर्देश विद्यमान है। उसी प्रकार सृष्टि का निर्माण कर सकने वाले शब्द या व्याहति का स्वतंत्रतया निर्देश अन्यत्र उपलब्ध है। 'तप' या शरीर की आन्तरिक उष्णता को अनेक तरीकों से तीव्र कर उसके ही द्वारा अन्यान्य कार्य सम्पन्न किये जाने की बात भी कई स्थानों में वेदों में वर्णित है। कहीं कहीं विज्ञान के रूप में भी आन्तरिक शक्ति का उल्लेख

आता है। इन सब निर्देशों पर से मन संबंधी वैदिक कल्पनाओं को हम प्राणादि वायु, उनको परिचालित करने वाली शब्द शक्ति, इस शब्द शक्ति को जागृत करने वाला तप, इस तप का अधिष्ठान स्वधा-शक्ति और इस सब का आधारभूत मन इस क्रम से उपस्थित कर सकते हैं।

आभ्यन्तर वाक्तत्व के साथ मन के अभेद की कल्पना उपर्युक्त विवेचन में ध्यान देने योग्य है। लोगस *(Logos)* के रूप में इस कल्पना का पुरस्कार पाश्चात्य विचारकों ने भी किया था। किन्तु यवन दार्शनिकों के अनन्तर किसी भी पाश्चात्य विचारक ने इस कल्पना के परिष्कार का विशेष प्रयत्न नहीं किया। अधिकतर बाह्य तत्व *(Objective reason)* के रूप में ही लोगस *(Logos)* को परवर्ती पाश्चात्य विचारकों ने ग्रहण किया किन्तु वैदिक काल से लेकर पंद्रहवीं सोलहवीं सदी के भारतीय वैयाकरणों तक सभी ने शब्द या वाक् तत्व के आध्यात्मिक स्वरूप को हमेशा ध्यान में रक्खा। वाक् के आध्यात्मिक याने मानसिक स्वरूप के ठीक आकलन के कारण ही व्याकरण-दर्शनाकार 'स्फोट' सिद्धान्त को प्रस्थापित तथा विकसित कर सके। स्फोट का शाब्दिक अर्थ है क्षोभ (व्याकरण में इसका अलग पारिभाषिक अर्थ किया गया है। उसका विचार यहां करने की कोई आवश्यकता नहीं)। स्वधा रूप मन की तप या विशेष प्रकार की साधनाओं के द्वारा जब उष्णता बढ़ायी जाती है (लाक्षणिक अर्थ में) तब उसका अन्तर में प्रक्षोभ होने लगता है। यह प्रक्षोभ प्राणापानादि वायुओं की सूक्ष्म (आणविक) गति, उसमें से मध्यमा, वैखरी आदि शब्दों की अभिव्यक्ति, इस अभिव्यक्ति का विभिन्न वाक्यों, वाक्यार्थों आदि के रूप में आविष्कार और तदनन्तर अर्थान्तर्गत समस्त विश्व की उत्पत्ति इस मोटे क्रम से विश्व की स्फोटात्मकता का वैयाकरणों ने समर्थन किया है। मन के इस वागात्मक पक्ष का निर्देश कर वेदों ने व्याकरण दर्शन के आविर्भाव की ही नींव डाली है। इस संबंध में यह वैदिक मंत्र 'चत्वारी वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिण:' मननीय है। इसमें यह बतलाया गया है कि मन के तत्व को जानने की इच्छा करने वाले विद्वान चार प्रकार की वाणियों के स्वरूप को पहचानते हैं। ये वाणियां हैं परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी। इनमें अन्तिम वैखरी मन का अभिव्यक्त शब्दों *(Articulate sounds)* के रूप में मुख के द्वारा बाह्य विश्व में विकीर्ण स्वरूप है। मोटे तौर पर आधुनिक परिभाषा को अपनाते हुए हम कह सकते हैं कि मन का वस्तु निर्देशात्मक या तात्पर्यात्मक *(Intentional or meaning aspect)* जो पहलू है वही शब्द या *Proposition* है।

जिस प्रकार अर्थात्मक विश्व मन के वागात्मक पहलू के विकास का परिणाम माना गया है उसी प्रकार वस्तवात्मक या भौतिक विश्व भी मन के प्राणापानादि पंच तत्वात्मक पहलू का ही परिणाम माना गया होगा, ऐसा हम समझ सकते हैं। आभ्यन्तर

से बाह्य की उत्पत्ति का स्पष्टीकरण करने की प्रक्रिया में प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पांच आन्तरिक वायुओं को ही आकाश, पृथ्वी, भौतिक वायु (यह आन्तरिक वायु तत्व से बिलकुल भिन्न समझना चाहिये), जल तथा तेज इन पंच महाभूतों का जनक यदि माना गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस संबंध में सुस्पष्ट निर्देश वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध भले ही न हो तो भी यह विचार वैदिक ऋषियों का मन की कल्पना में अन्तर्निहित है, ऐसा निश्चय से कहा जा सकता है।

वेदों के बाद हम उपनिषदों की ओर बढ़ेंगे। जिन बातों का केवल आभास संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक आदि में प्राप्त होता है उनका सुविकसित रूप उपनिषदों में देखने में आता है। विज्ञान और आनन्द इन आभ्यन्तर अवस्थाओं का मन के संबंध में उल्लेख वेदों में नहीं के बराबर है लेकिन इनका सुस्पष्टतया श्रेणीबद्ध रूप उपनिषदों में अच्छी तरह वर्णित है। मन केवल एक व्यापक तत्व के रूप में ही नहीं किन्तु प्रत्येक शरीर के स्वतंत्र घटक तथा प्रेरक तत्व के रूप में उपनिषदों ने परिगृहीत किया है। मन के अस्तित्व के सम्बन्धमें तार्किक प्रमाण भी बृहदारण्यक ने उपस्थित किया है (देखिये- 'अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्, अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्' जो आधुनिक तर्को से विशेष भिन्न नहीं है। मन और मनोवृत्तियों का फर्क भी उपनिषदों में अच्छी तरह प्रस्तुत किया गया है। काम, संकल्प, चिकित्सा, द्वेष, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय इत्यादि का मनोवृत्तियों में परिगणन कर, इनका मन में ही वास्तव्य है, ऐसा बृहदारण्यक में कहा है। इन मनोवृत्तियों का वर्गीकरण सामान्य से क्रमशः विशेषीभाव के तत्व पर अधिष्ठित है। (क्योंकि 'काम' मनोवृत्तियों का सामान्य स्वरूप है तो ह्री, धी और भय ये उसके विशेष प्रकार हैं)।

मन के सम्बन्ध में एक नयी बात जो उपनिषदों में दिखलायी पड़ती है वह है, तत्संबंधी कोष-कल्पना की। मनुष्य को या जीव को अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द इन पांच कोषों या खोलों से बना हुआ या ढँका हुआ तत्व ऐसा तैत्तिरीय ने बतलाया है। यहां दो प्रकार की विचार-सरणियों का सम्मिश्रण दिखलाई पड़ता है। एक यह कि अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द ये एक के भीतर एक ऐसे आवरण हैं जिनमें से अंतिम के भीतर आवृत वस्तु ही मनुष्य का वास्तविक तत्व है। दूसरी विचार सरणी के अनुसार मनुष्य के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय इत्यादि पांच श्रेणीबद्ध पूर्ण स्वरूप हुआ करते हैं। इनमें से एक-एक में मनुष्य पूर्णतया उलझा हुआ रहता है। जब तक एक का वह परित्याग नहीं करता तब तक दूसरे का वह परिग्रह नहीं कर पाता। जैसे अन्नमय अवस्था से परे प्राणमय की अवस्था तक पहुँचने के लिये अन्नमय का पूर्ण परित्याग आवश्यक है। यही बात अन्य अवस्थाओं पर भी लागू होती है। वेदान्त के अद्वैत और विशिष्टाद्वैत इन दो प्रमुख संप्रदायों के विकास में उपर्युक्त विचार-सरणियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मन के स्वरूप के संबंध में श्वेताश्वतरोपनिषद् में काफी विचार प्रस्तुत है। सांख्य दर्शन की मूलभूत अवधारणा कि 'मन यह अहंकार में से उद्भूत हुआ है और वह स्वयं सत्व, रज और तम इन तीन गुणों का समुच्चय है' (इनमें सत्व का अंश प्रधान होता है) - इस उपनिषद् से ही सर्वप्रथम निष्कृष्ट की गयी है। मन का प्राणादि वायुओं से अलग बिल्कुल स्वतंत्र रूप में अस्तित्व भी उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है। प्राणमय कोष से मनोमय कोष को अधिक आभ्यंतर बतलाकर मन की प्राण से सूक्ष्मता और श्रेष्ठता को ही उपनिषदें बतलाती हैं।

मन को कुछ उपनिषदों ने इससे अधिक व्यापक रूप में भी देखने की कोशिश की है। प्राण और विज्ञान के बीच की मनुष्य के आन्तर जीवन के विकास की अनेक सीढ़ियां मानकर मन को इन सब में सामंजस्य प्रस्थापित करने वाले एक व्यापक साधन के रूप में कल्पना कुछ उपनिषदों ने उपस्थित की है। इस व्यापक रूप के लिये सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है - अन्त:करण, जिसका विशेष प्रयोग परवर्ती दार्शनिक वाङ्मय में ही विशेषतया पाया जाता है। अन्त:करण के बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये चार अंग मोटे तौर पर माने गये हैं। सामान्यरूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों ने अन्त:करण के चार घटकों में से एक न एक को प्रमुख तथा शेष को गौण ठहराकर अपने अपने विचार संप्रदायों की रचना की है। उदाहरणत: बौद्ध दर्शन ने मन के मननात्मक कार्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानकर अन्त:करण को बाह्य वस्तुओं का केवल आलोचक निर्धारित किया। अहंकार, धारणा आदि मानसिक प्रक्रियाओं को महत्व देना बौद्धों ने आवश्यक नहीं माना। सांख्य ने चित्त पक्ष को (थोड़ा बहुत बुद्धि को भी उन्होंने महत्व दिया था) मानसिक जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। वेदान्त ने अहंकार के कार्य को इतर मानसिक प्रक्रियाओं की अपेक्षया विशेष रूप से आवश्यक ठहराया। न्याय ने बुद्धि, मन और चित्त इन तीनों के कार्यों के समन्वय का प्रयत्न जरूर किया लेकिन उसमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

इस संबंध में उपनिषदों ने कोई निश्चयात्मक भूमिका नहीं अपनायी है। कहीं तो बुद्धि, मन आदि अलग अलग अन्त:करण संज्ञा के अभिधेय समझे गये हैं और कहीं इन सब को अन्त:करण के अन्तर्गत ही बतलाया गया है। सांख्य और वेदान्त ने इस दुविधा को ही दूर करने के लिये शायद अन्त:करण और उसकी वृत्तियों ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत किया हो। इसमें अन्त:करण बुद्धि है लेकिन उसकी वृत्तियों में मनन, धारण, अहंकार आदि का अंतर्भाव किया जा सकता है।

उपनिषदों की मन:संबंधी अवधारणा केवल आध्यात्मिक *(Subjective)* ही नहीं है। यदि वह अन्तर्दर्शन सापेक्ष एक वैयक्तिक अवधारणा ही होती तो उसमें से अंत में ब्रह्म की कल्पना का विकास ही नहीं हुआ होता। उपनिषद्कार ऋषियों ने केवल

आत्मनिरीक्षण ही नहीं किया अपितु विश्व का भी निरीक्षण बड़ी बारीकी के साथ उन्होंने किया था। किन्तु वैज्ञानिकों की तरह आधिभौतिक दृष्टि से बाह्य विश्व का निरीक्षण करना तत्वान्वेषण के लिये उन्हें उपयुक्त नहीं जँचा। बाह्य विश्व का भी आध्यात्मिक निरीक्षण ही उनके अन्तर्निहित सत्य की जानकारी के लिये उन्होंने अपनाया। अन्तर्यामी ब्राह्मण में इस बात का सुस्पष्ट उल्लेख उपलब्ध है। पृथ्वी,जल, तेज आदि सभी बाह्य पदार्थों में जो तत्व समाविष्ट है वह निम्नलिखित प्रकार से इस ब्राह्मण में वर्णित है।

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं यमयति यः पृथिवीं वेद, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्.... ।' जो पृथिवी के भीतर समाविष्ट है, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी को जानता और नियमित करता है किन्तु जिसे पृथिवी न जानती है न नियमित कर सकती है, वह पृथिवी का आत्मा है, उसी प्रकार जल आदि का भी। इस वर्णन में आध्यात्मिक दृष्टि का ही पुरस्कार किया गया है। पृथिवी या किसी अन्य भौतिक पदार्थ में जो तत्व अन्तर्भूत है उसका ज्ञान बाहर से पृथिवी का निरीक्षण कर प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये जो द्रष्टा को पृथिवी रूप होकर ही अंतर्निरीक्षण करना होगा। कोई इस पर पूछ सकता है कि जड़ पृथिवी के साथ किसी भी चेतन द्रष्टा का ऐक्य हो कैसे सकता है, और यदि कदाचित् ऐसा ऐक्य संपन्न भी हो तो भी ऐसा जड़ीभूत द्रष्टा आत्मनिरीक्षण क्या करेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पृथिवी का जाड्य उतना ही सत्य या असत्य है जितना मनुष्य के शरीर घटक किसी अवयव का। यदि किसी से पूछा जाय कि तुम तो चेतन हो लेकिन तुम्हारा हाथ भी चेतन है, इस बात का क्या सबूत तुम दे सकते हो ? तो इसका उत्तर देना बहुत कठिन हो जायगा। हाथ हिलता है इसलिये वह चेतन है, यह जवाब समाधानकारक नहीं हो सकता, क्योंकि हाथ को स्वयं हाथ नहीं हिलाता अपितु जिसका वह है वह उसे हिलाता है। फिर भी हम अपने हाथ, पैर या अन्य किसी अंग को अचेतन नहीं मानते। इसी प्रकार पृथिवी अचेतन इसीलिये प्रतीत होती है कि उसका संपूर्ण विश्व के एक घटक के रूप में हम न विचार करते हैं न कर पाते हैं। भौतिक शास्त्री भी पृथिवी को जड़ विश्व के एक घटक के रूप में ही देखता है, याने आंशिक दृष्टिकोण से ही उसका यह विचार करता है। यदि व्यापक और सर्व समावेशी दृष्टि से पृथिवी का विचार करने का प्रयत्न किया जाय तो उसमें प्रतीत होने वाला जाड्य बिलकुल लुप्त हो जाय। ऐसी दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि ही है, यह सभी उपनिषदों का मन्तव्य है। इस दृष्टि को बाह्य और आभ्यंतर, शरीर और उससे भिन्न वस्तुएं इत्यादि भेद दिखलायी ही नहीं पड़ सकते। उसे एक ही आत्मा ('य आत्मा सर्वान्तरः य आत्मा सर्वानुभूः') सर्वत्र व्याप्त प्रतीत होगा और विश्व में भी मनस्तत्व की विद्यमानता का प्रत्यय प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगा। इस दृष्टि का उत्कृष्ट वर्णन माणडूक्य उपनिषद् में इन शब्दों में प्रस्तुत है --

'नान्त: प्रज्ञं न बहि: प्रज्ञं नोभयत: प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।' अर्थात् इसमें अन्तर्बाह्य का भेद या ज्ञान-अज्ञान का भेद विद्यमान नहीं होता। यह सर्वभेदातीत दृष्टि है। इसकी 'तुरीय' यह संज्ञा भी रखी गयी है।

उपनिषदों के मनोविचार को यहीं छोड़कर अब हम महाभारत की ओर बढ़ेंगे। 'महाभारत' का भारतीय वाङ्मय में वेदों जितना ही महत्व माना जाता है। 'वेदान - ध्यापयामास महाभारत पञ्चमान्' इस प्राचीन उक्ति में पंचम वेद के रूप में ही महाभारत की गणना की गयी है। सुप्रसिद्ध 'भगवद्गीता' महाभारत का ही एक छोटा सा अंश है। लेकिन गीता के विचारों की परिपुष्टता देखते हुए उसका अलग विवेचन करना ही उचित होगा। प्रस्तुत पुस्तक में 'महाभारत में अन्त:करण का स्थान' इस शीर्षक का जो लेख समाविष्ट है उस पर से महाभारत के मनोवैज्ञानिक विचारों की कुछ झलक पाठकों को प्राप्त होगी ही। उससे अधिक और अज्ञात ऐसे तथ्य यहां प्रस्तुत करने का हम इरादा नहीं रखते। केवल महाभारतीय मनोवैज्ञानिक विवेचन की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर ही हम आगे बढ़ेंगे।

इस संबंध में पहली ध्यान देने बात यह है कि महाभारत में जो भी दार्शनिक विचार आये हैं वे सब आनुषंगिक हैं, उनका वहां स्वतंत्र स्थान नहीं है। गीता जैसे कुछ गंभीर दार्शनिक खंड ग्रंथ यत्रतत्र महाभारत में जरूर पाये जाते हैं। लेकिन उनका मूल ग्रंथ के संदर्भ से विशेष मेल नहीं बैठता। यही कारण है कि आज भी यह विवाद बना हुआ है कि गीता का उपदेश समर भूमि पर वास्तव में हुआ था या किसी परवर्ती विद्वान ने इस पुस्तक की रचना कर महाभारत में इसको समाविष्ट कर दिया था। दूसरी बात यह विचारणीय है कि महाभारत काल में भारतीय दार्शनिक विचारों को सुव्यवस्थित रूप शायद प्राप्त नहीं हुआ था। ये विचार उस समय केवल प्रवाही परम्पराओं *(Floating traditions)* के रूप में ही प्रचलित थे। तार्किक पद्धति से दार्शनिक सिद्धान्तों का खंडन मंडन इस समय प्रचलित नहीं हुआ था जिसके फलस्वरूप विभिन्न दार्शनिक विचारों का श्रवण प्राय: श्रद्धा भाव से ही विद्वान् लोग किया करते थे। तीसरी बात महाभारत के संबंध में ज्ञातव्य यह है कि अन्यान्य दार्शनिक विचारों की चर्चा लोगों में प्रचलित थी तथापि श्वेताश्वतरोपनिषद् में चर्चित सांख्य दर्शन की मूलभूत विचार प्रणाली इन सब में अधिक लोकप्रिय हुई थी। यही कारण हैं कि मूलतत्व पच्चीस हैं या छब्बीस, या चौबीस ही हैं इस प्रकार की चर्चा में तत्कालीन विद्वान लोग उलझे रहते थे। (सांख्य दर्शन का 'सांख्य' यह नामकरण भी शायद इस मूलतत्व की संख्या संबंधी पूर्वकालीन मतभेद का द्योतक हो)।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में उपनिषद्कालीन विचार से महाभारत को काफी आगे बढ़ा हुआ हम पाते हैं। अन्त:करण और उसके घटक इनका स्वरूप अब पूर्णतया

निश्चित हुआ दिखलाई पड़ता है। चित्त के संबंध में काफी विस्तृत चर्चा - जो योग दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती है - महाभारत में बिखरी हुई मिलती है। अहंकार का और उसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन भी पर्याप्त मात्रा में इस ग्रंथ में उपलब्ध है। मन की असामान्य शक्तियों का वर्णन भी अनेक स्थानों में किया गया है। सब कुछ मिलाकर महाभारतीय मनोविज्ञान के संबंध में हम यह कह सकते हैं कि पारंपरिक सांख्य तथा योग दर्शन की लगभग सभी मूल कल्पनाओं को महाभारत ने - अव्यवस्थित रूप में ही क्यों न हो - हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया है।

महाभारत और पुराण इनकी तुलना करने पर उनके मनोवैज्ञानिक विचारों में जो फर्क दिखलाई पड़ता है उसका दो प्रकार से हमारे लिये महत्व है। एक यह कि अधिकांश पुराणों की मनोविषयक अवधारणा पर भगवद्गीता के सुविकसित विचारों का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। यह अतीव स्वाभाविक बात है। गीता केवल नीतिशास्त्र के एक महत्वपूर्ण तंत्र के रूप में ही उपादेय नहीं है उसका मनोविश्लेषण भी बहुत गहरा और अद्ययावत् *(up-to-date)* है। महाभारत में ही भगवद्गीता की नकल करने वाली लगभग चौबीस गीतायें समाविष्ट की गयी हैं, जिस पर से यह स्पष्ट है कि महाभारत कालीन नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारों की सीमा का ही निर्धारण जैसे गीता ने कर दिया था। अतएव पुराणों पर गीता का प्रतिबिंब पड़ना अवश्यंभावी था।

दूसरा महत्व मन संबंधी पौराणिक विचारों का यह है कि उन्होंने - और उनमें भी विशेष कर भागवत तथा अध्यात्म रामायण जैसे भक्ति संप्रदाय प्रवर्तक पुराणों ने - अपने विचारों को भक्ति संप्रदाय के पोषण के लिये काम में लाया। भगवद् भक्ति को सुसंस्कृत मानव जीवन का स्थायिभाव मान कर उसके अधिकाधिक विकास के हेतु संपूर्ण मानवीय व्यवहार को कैसे प्रयुक्त किया जाय इसी समस्या को भक्ति प्रधान पुराणों ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना। इसी कारण मन की स्वाभाविक संकुचित प्रवृत्तियों का कैसे उन्नयन किया जाय ताकि उनका ज्ञात या अज्ञात लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही हो जाय, इस प्रश्न की छानबीन पुराणों में, भगवत्कथा की आड़ में, की गयी थी। उदाहरण के लिये, कृष्ण का चरित्र लीजिये। इसमें ऐसी अनेक बातें समाविष्ट हैं जिनका समाज जीवन पर बहुत ही बुरा असर पड़ सकता है। उदाहरणत: कृष्ण की रास लीलायें, गोपियों का उनके प्रति आकर्षण, सहस्रों स्त्रियों के साथ उनका विलास आदि बातें समाज मन को अनायास ही कलुषित कर सकती थीं। यह बात पुराणकर्ता व्यास या अन्य मनीषियों को अज्ञात थीं, यह कहना बिल्कुल बालिशता पूर्ण होगा। इस सब बातों को अच्छी तरह जानकर ही व्यास ने उनके उन्नयन *(Sublimation)* का प्रयत्न किया होगा। व्यास ने कृष्ण जैसे देवताओं की लोकोत्तर लीलाओं को बहुजन समाज के उत्कट प्रेम मिश्र आदर (भक्ति) की भावना का पात्र बनाकर इनकी ओर देखने का एक नया दृष्टिकोण

लोगों को प्रदान किया। इस दृष्टिकोण के प्रभाव से दु:ख-दर्द से पीड़ित मानव की आत्मग्लानि की भावना पूर्ण रूप से लुप्त होकर उसके स्थान में आशापूर्ण, उदात्त और भगवच्चरित्र के विशाल आलंबन पर आधारित ऐसी व्यापक जीवन दृष्टि प्रतिष्ठित हो सकी। आधुनिक मनोविश्लेषण पद्धति का प्राचीन भारतीयों द्वारा किया हुआ यह एक सफलतम प्रयोग है।

गीता का मनोवैज्ञानिक परिशीलन उतना ही गहन और मूलगामी है जितना उसका नैतिक चिन्तन। गीता ने जो तथ्य हमारे सामने लाये हैं वे अत्याधुनिक मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं के बिलकुल समकक्ष माने जा सकते हैं। जिस नीतिशास्त्र का गीता ने उपदेश किया है वह मनुष्य जीवन की ठोस वास्तविकता पर आधारित है। उसमें कल्पना की बे सिर पैर की उड़ान बिलकुल नहीं है और न कोरी दार्शनिकता का ही उसमें अवलंब किया गया है। मनुष्य समाज को गीता मोटे तौर पर चार वर्गों में बांटती है। ये हैं आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। यह विभाजन बहुत ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रमुख व्यक्तित्व-घटक विशेषताओं *(Chief personality traits)* के आधार पर व्यक्तित्व के जो विविध वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं उनके साथ गीता के वर्गीकरण की तुलना की जाय तो उसकी अनेक विशेषतायें झलक पड़ती हैं। जबकि आधुनिकों के प्राय: सभी वर्गीकरण व्यक्तित्व के घटकों को सामान्यतया मानसिक विकृतियों के रूप में ही देखते हैं, गीता इन्हें विभिन्न स्वभावों के मनुष्य की प्राकृतिक विशेषतायें ही समझती है। उदाहरणार्थ 'आर्त' व्यक्ति अधिकतर अन्तर्मुख *(Introvert)* ही पाया जायगा लेकिन इस कारण आर्त की अन्तर्मुखता को मनोविकृति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। बल्कि इसी अन्तर्मूखता के कारण आर्त सन्मार्ग की ओर अग्रगामी होता हो तो उसके लिये अन्तर्मुखता दोष न होकर गुण ही समझना चाहिये।

वास्तव में अन्तर्मुख और बहिर्मुख यह मनोवृत्तियों संबंधी अवास्तविक अवधारणा ही गीता को अमान्य है। सामान्यतया मनुष्य जीवन में जो मूलभूत ऐसी प्रवृत्तियां हैं उन्हीं को गीता ने अपने वर्गीकरण का आधार बनाया है। दु:ख हानि (या शरणागति), ज्ञान प्राप्ति, अर्थ या सुख समृद्धि का साथ और ज्ञान प्राप्ति से होने वाला संतोष ये सब वे प्रमुख मनोवृत्तियां हैं जो गीता के वर्गीकरण के आधार हैं। इनमें अन्तर्मुख-बहिर्मुख जैसे परस्पर विरोधी वर्गों का संबंध ही नहीं आता। ज्ञान जैसे कुछ ध्येय ऐसे हैं जिनकी साधना करने वाले में थोड़ी बहुत अन्तर्मुखता आये बिना रहेगी ही नहीं। इसी प्रकार अर्थ की प्राप्ति के लिये लालायित व्यक्ति में बहिर्मुखता होना अनिवार्य है। अत: मनुष्य का कोई भी यथार्थ वर्गीकरण उसके जीवन में अभिव्यक्त होने वाली मूल प्रवृत्तियों के आधार पर यदि किया जायगा तो ही उपयुक्त होगा, अन्यथा नहीं।

गीता का संपूर्ण नैतिक दर्शन, मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा है। आर्त साधक

के लिये शरणागति या भक्ति का मार्ग, जिज्ञासू के लिये निष्काम कर्मयोग का उपदेश, अर्थार्थी को शास्त्रीय कर्मों का यथाविधि पालन करने का आदेश और ज्ञानी को स्थितप्रज्ञ के समान, सुस्थिर और परितृप्त ऐसा आत्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने का गीता का उपदेश; ये सब इन लोगों की विभिन्न मनोवृत्तियों के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित हैं। आर्त या दीन-दुखी और अपाहित व्यक्ति को किसी धर्म या साधना का उपदेश करना बिलकुल व्यर्थ है। उसमें इतनी जिजीविषा ही नहीं होती कि अपने पैर पर खड़े होकर वह जीवन मार्ग पर अग्रसर हो सके। ऐसे व्यक्ति को समाज के भरोसे छोड़ना भी उचित नहीं। इससे उसके स्वाभिमान का - जो आपत्तियों के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गया है- पूर्ण विनाश ही हो जाने का खतरा है। ऐसे व्यक्ति का उद्धार तो भगवान् की शरणागति से ही हो सकता है। आर्त के लिये और कुछ संभव नहीं हो तो न सही, दीनता तो उसमें ही है। इसी दैन्य भाव को परमात्मा के चरण में लगाकर उसका उन्नयन वह करने लगे तो उसी के भरोसे वह तर सकता है, ऐसा गीता का मंतव्य है।

अर्थार्थी या सुख स्वार्थ की इच्छा करने वाले साहसी व्यक्ति को (तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ) शास्त्र, याने कायदे कानून, और रूढ़ नैतिक नियमों के भरोसे गीता जो छोड़ देती है उसका एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है। अर्थार्थी जानबूझ कर अपनी जिम्मेदारी पर जीवन में अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए खतरा उठाता हैं। उसकी सफलता की जिम्मेदारी भगवान् या नियति अपने ऊपर क्यों ले ? यदि इसका आचरण नियमानुकूल हो तो वह यशस्वी हो सकता है। ऐसा वह न हो तो उसके आचरण की भलाई-बुराई उसके सिर पर। समाज को, भगवान् को या नियति को उसके यशापयश से कोई सरोकार नहीं।

जिज्ञासू के लिये निष्काम कर्मयोग का जो उपदेश गीता ने किया है वह उसकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का उत्कृष्ट प्रमाण है। जिज्ञासू सत्य को स्वयं जाने बिना उसका पुरस्कार नहीं कर सकता। लेकिन वर्तमान कर्म का फल तो भविष्य में होने वाला होता है। अत: उस पर से वर्तमान कर्म के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय संभव नहीं। किन्तु जीवन यह ऐसी वस्तु नहीं है कि उसमें पग पग पर रुक कर भविष्य का निर्णय करके ही आगे बढ़ा जाय। हरेक को कर्म करना पड़ता है और अक्सर अधिक विचार करने की फुरसत भी नहीं होती। ऐसी परिस्थिति में एक सत्यनिष्ठ जिज्ञासू के लिये एक ही मार्ग अवलंबनार्ह हो सकता है। वह है निष्काम कर्मयोग का। यदि भविष्य का विचार संभव नहीं तो वर्तमान कर्म का विचार तो संभव है ही। अत: इसी पर सारा ध्यान केन्द्रित कर जिज्ञासू को आचरण करना चाहिये। इसका मतलब यह नहीं कि ऐसा आचरण सफल होने की आशा नहीं। जहां तक मनुष्य की बुद्धि का सवाल है, आचरण की सफलता-निष्फलता का निर्णय उसके द्वारा असंभव है। इस निर्णय के अभाव में जितनी तत्परता

(sincerity) के साथ समझदार मनुष्य के लिये कार्य करना संभव है उतनी तत्परता - वर्तमान के प्रति - दिखाना ही उसका परम कर्त्तव्य है। किन्तु जिन आध्यात्मिक तत्वों के आधार पर विश्व की रचना हुई है उनके रहते तत्परतापूर्वक किया गया मनुष्य का कोई कार्य निष्फल हो ही नहीं सकता, ऐसा गीता का पूर्ण आश्वासन है - 'स्वल्पप्तप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' । इस तरह, काण्ट, प्लेटो और अरस्तु इन तीनों महान् पाश्चात्य दार्शनिकों के नीति दर्शनों का सुन्दर समन्वय गीता में हमें उपलब्ध होता है।

गीता में अनेक मूलगामी मनोवैज्ञानिक तथ्य यत्रतत्र बिखरे पड़े हैं। इन सब का संकलन कर गीता के मनोविज्ञान की पूर्ण तस्वीर खड़ी करने के लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ की जरूरत है। यहां हम कुछ तथ्यों का नामनिर्देश मात्र कर सकेंगे। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का विधाता है या नहीं इस प्रश्न के संबंध में कितने सहज रूप में गीता यह अंतिम उत्तर दे देती है :-

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

मनुष्य का शारीरिक जीवन तो नैसर्गिक घटना-चक्र का ही एक अंग है। नियति ही मनुष्य के जीवन का संचालन उसके जाने या अनजाने किया करती है। फिर भी अहंकारग्रस्त मनुष्य व्यर्थ ही कर्तृत्व का घमंड करता रहता है।

मानवीय व्यक्तित्व की रचना किस मूलतत्व पर अधिष्ठित होती है, इस मनोवैज्ञानिक प्रश्न के आधुनिक विद्वानों ने अलग अलग उत्तर दिये हुए हैं। कोई कहता है कि व्यक्तित्व का प्रमुख घटक जटिल भावनायें *(Sentiments)* हैं और कोई कहता है कि यह घटक विभिन्न ध्येय *(Purposes)* हुआ करते हैं। गीता का इस प्रश्न का समाधान अतीव सरल और मूलगामी है। वह कहती है कि -

'श्रद्धामयोऽयं पुरुष: यो यच्छ्रद्ध: स एव स:' ।

मनुष्य का व्यक्तित्व श्रद्धाओं से गढ़ा जाता है। श्रद्धायें न उद्वेग होती हैं, न ध्येय। किसी ध्येय का बुद्धिपूर्वक और सतत पुरस्कार करते करते जब उनका मन के अवचेतन स्तर तक प्रवेश हो जाता है और उन्हीं के द्वारा ज्ञात या अज्ञात रूप से आचरण का निर्देशन होने लगता है तब उन्हें श्रद्धा का स्वरूप प्राप्त होता है। ये श्रद्धायें ही व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।

आधुनिक उन्नयन सिद्धान्त *(Theory of sublimation)* का कितने सहजरूप में गीता में स्पष्टीकरण किया गया है, यह जानना हो तो यह श्लोक देखिये -

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

आग्रहपूर्वक इन्द्रिय संयम *(Repression)* करने वाला व्यक्ति वास्तविक संयम में कभी सफल नहीं हो सकता। विषयों में उसकी सूक्ष्म आसक्ति तो बनी ही होती है। इस आसक्ति का पूर्ण निराकरण तो सब विषयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ ऐसे परमात्मा के साक्षात्कार से ही हो सकता है।

गीता पर अब तक अनेकानेक ग्रंथ लिखे गये हैं। लेकिन गीता की मनोवैज्ञानिक गवेषणाओं का इनमें से शायद ही किसी ग्रंथ ने विचार किया हो। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिये गीता में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जो यदि प्रकाश में लायी जाय तो गीता की अद्यतन औचित्य से विद्वान् लोग प्रभावित हुए बिना नहीं रहेंगे।

विभिन्न भारतीय दर्शन-संप्रदायों की विभिन्न मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर प्रस्तुत पुस्तक में कुछ लेख हमने संकलित किये हैं। ये लेख अपने विषयों का दिग्दर्शन मात्र कराते हैं। इस पर से भारतीय मनोविज्ञान के विस्तार की समुचित कल्पना नहीं की जा सकती। कुछ विषयों पर के लेख अतीव संक्षिप्त हैं। चाहते हुए भी हम कुछ विद्वानों के पर्याप्त सहयोग के अभाव में, और कुछ लेखकों की अत्यन्त व्यस्तता के कारण, इस विषय से संबंधित संपूर्ण सामग्री को पाठकों के सामने उपस्थित नहीं कर सके। इतना ही नहीं, भारत के प्रायोगिक मनोविज्ञान संबंधी निष्कर्षों को ही हम यथाविधि - संक्षेप में ही क्यों न हो - इस पुस्तक में संकलित नहीं कर सके। इस तरह अनेकानेक त्रुटियां पुस्तक में रह गयी हैं। तथापि हम आशा करते हैं कि हिन्दी भाषा में उपस्थित की गयी अपने ढंग की निराली इस सर्वप्रथम कृति का विद्वान पाठक, और सभी समीक्षक, स्वागत ही करेंगे।

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् ने अत्यधिक विश्वास के साथ यह कार्य मेरे ऊपर सौंपा था। अनेकों के सहयोग से ही संपन्न हो सकने वाले इस कार्य की कठिनाइयों का, कार्यभार स्वीकार करते समय, मैं अनुमान भी नहीं कर सका। मेरे प्रिय मित्र तथा परिषद् के मंत्री श्री यशदेव जी शल्य का पूर्ण सहयोग और बढ़ावा मुझे समय समय पर न मिलता तो इस रूप में भी इस पुस्तक को प्रस्तुत करना मुझ से संभव न होता। मेरे अन्यान्य मित्रों और गुरुओं ने भी इस कार्य में मुझे पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। इन सब के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करना मैं अपना परम कर्त्तव्य समझता हूँ।

2

आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान

ब.स. येरकुंटवार

'तस्य सुख दु:खे इच्छाद्वेषौ प्रयत्न: प्राणापानौ उन्मेषनिमेषौ बुद्धि: मन: संकल्पो विचारणा स्मृति: विज्ञानं अध्यवसाय: विषयोपलब्धिश्च गुणा: ।'

सुश्रुतसंहिता, शा.स्था अ. 1, 17

यह विषय जितना विस्मयजनक है उतना ही मनोरंजक भी है, जितना विशाल है उतना ही जटिल भी है। इतना बड़ा विषय एक लेख में ग्रंथित करना अनेक दवाइयां एक छोटी सी पुड़िया में बाँधने के जैसा ही होगा।

'आयुर्वेद तथा मनोविज्ञान' यह शीर्षक कुछ आधुनिक विचारकों को हास्यापद सा लगेगा। लेकिन जिन परिश्रमशील अध्येताओं ने इस विषय का मनन किया है उन्हें ज्ञात होगा कि पुरातन समझे जाने वाले लेकिन 'पुरा अपि नवम्' ऐसे भारतीय शास्त्रों में मनोविज्ञान सर्वत्र ही व्याप्त है। इन्हीं शास्त्रों में आयुर्वेद एक प्रमुख शास्त्र है।

प्रारंभ में ही यह समझ लेना आवश्यक है कि सभी मानवीय शास्त्रों के संबंध में भारतीय दृष्टिकोण आधुनिक दृष्टिकोणों से भिन्न है। इस भिन्नता का एक मूलभूत कारण है। वह यह है कि जबकि आधुनिक दृष्टिकोण ऐसा समझता है कि अल्पज्ञान से अधिकाधिक ज्ञान की ओर प्रगति होती है तब भारतीय दृष्टिकोण सामान्यतया ज्ञान को प्रगति की सीमा तक पहुँच कर स्थिर हुआ समझता है। भारतीय लोग ज्ञान की सीमा तक कैसे व कब पहुँच पाये, यह कहना कठिन है। तथापि परंपरा से जो दृष्टिकोण हमें प्राप्त हुआ है वह इसी प्रकार का है। इसमें मूलतत्वों का प्राधान्य, सुव्यवस्था और सुसंघटितता इत्यादि बातें दिखलायी पड़ती हैं। यही कारण है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान की रचना निगमनात्मक ही है। उसकी यह विशेषता यदि समझ में न लायी जाय तो आयुर्वेदीय मनोविज्ञान समझ में तो आयेगा ही नहीं, उसके संबंध में गलतफहमियां ही पैदा होंगी।

इस प्रस्तावना पर से इतना तो स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक मानस शास्त्रों के समान आयुर्वेद में स्वतंत्र मनोविज्ञान संबंधी विचार तो उपलब्ध नहीं होंगे। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद इतना परिपक्व शास्त्र है कि वह दूसरे शास्त्रों के साथ केवल एक अजनबी जैसा संबंध नहीं प्रस्थापित कर सकता। मानव जीवन तथा मनोविज्ञान ये एक दूसरे के साथ ऐसे मिले जुले हैं कि जिन्हें मनोविज्ञान का अध्ययन करना है उन्हें मानव जीवन का सर्वांगीण अध्ययन करना आवश्यक हो जायगा। आयुर्वेद में मनोविज्ञान तथा दर्शन दुग्धांबुवत् सम्मिलित हो गये हैं। अत: इस मनोविज्ञान की जानकारी के लिये आयुर्वेद के दार्शनिक दृष्टिकोण की जानकारी भी परमवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान के विचारों में सुसूत्रता लाने वाली एक शाखा है जिसे हार्मिक मनोविज्ञान *(Hormic Psychology)* यह संज्ञा दी जाती है। इस शाखा का प्रवर्तक मैक्डुगल मनोविज्ञान का सीमित क्षेत्र लांघ कर दार्शनिक मीमांसा में अक्सर प्रवेश करने लगता है। इस बात की कई विद्वानों ने शिकायत की है। वुडवर्थ ने इस शाखा की जो समालोचना की है वह देखने लायक है। *(His influence was probably greater then he thought, but it was limited by his insistence that psychologists should follow him beyond the proper bounds of psychology into region that seems to us the province of philosophy. (Contemporary Schools of Psychology, P. 231.) I*

इस विवाद पर आयुर्वेद की भूमिका स्पष्ट है। शरीर और मन परस्पर परिणाम करते तथा परस्पर का अनुसरण करते हैं (शरीरं हि सत्वमनुविधीयते, सत्वंच शरीरम्। चरक संहिता, शा.स्था. अ. 8, 36)। अत: इन दोनों के क्षेत्र, स्वरूप तथा उनका अध्ययन करने वाले शास्त्र भिन्न भिन्न होने पर भी प्राय: इनका परस्पर संपर्क होता ही है। मनोविज्ञान तथा मनोविकृति इनमें दर्शन का अनेक दिशाओं में प्रवेश अनिवार्य है। अत: मन और दर्शन इन्हें एक दूसरे से अलगाया नहीं जा सकता, ऐसी आयुर्वेद की दृढ़ भूमिका है। यही कारण है कि आयुर्वेदीय ग्रंथों में सांख्य, योग आदि दर्शनों की चर्चा की गयी है। इस प्रकार आयुर्वेदीय मनोविज्ञान को जो धर्म का अधिष्ठान प्राप्त हुआ है उसके अनुषंग से डॉ. युंग की निम्न उक्ति विचारार्ह प्रतीत होती है। युंग कहते है कि "मेरे 30 वर्षों के गहन चिकित्सीय अनुभव में सैकड़ों रुग्ण व्यक्तियों में, ऐसे रुग्ण व्यक्ति जो कि जीवन के द्वितीय दौर (35 वर्ष के ऊपर) से गुजर रहे थे। एक भी बीमार ऐसा नहीं था जिसकी समस्या अपने जीवन के अंतिम स्थल में जीवन का धार्मिक दृष्टिकोण तलाश न कर पाना न रहा हो। जब एक आधुनिक चिकित्सक किसी न्यूरोसिस (तंत्रिका तापी) से ग्रस्त व्यक्ति का निदान कर रहा होता है तो वह बड़ी ही स्पष्टता से देख पाता है कि उसका रोगी किन कारणों से रुग्ण है। यह उत्पन्न होता है - प्रेम के अनन्तर केवल यौन क्रिया मे संलग्न रहना; अंधकार से ग्रसित होने के भय से आस्था का अभाव;

जीवन व जगत से मोह भंग होने के कारण आशा का अभाव; तथा प्रज्ञा के अभाव के कारण क्योंकि वह जीवन का अर्थ समझने में असफल रहा है। ऐसे रुग्ण व्यक्ति का निदान है - आस्था, आशा तथा अंतर्दृष्टि।'' *(In my immense clinical experience of over thirty years and many hundreds of patients, among those in the second half of life, over thirtyfive, there has not been one whose problem in the last resort was not that of finding a religious outlook on life. When a modern physician is confronted with a neurotic patient he sees only too clearly why his patient is ill. It arises from his having no love but only sexuality, no faith because he is afraid to grope in the dark; no hope because he is disillusioned by the world and life; and no understanding because he has flilled to read the meaning of his life. What the patient needs is faith, love, hope and insight)* युंग के मनोविज्ञान का उपर्युक्त सूत्र तथा अन्य मनोविज्ञानों का सूत्र चरक तथा वाग्भट्ट ने इस श्लोक में प्रस्तुत किया है: 'मानसो ज्ञान विज्ञान धैर्य स्मृति समाधिभि:' (सू.स्था. अ. 1.58)। मनुष्य अनेक पहलुओं से युक्त प्राणी है। अत: उसका विचार करने वाली पद्धति अनेकमुख होनी चाहिये। आयुर्वेद मानव की ओर सर्वांगीण दृष्टि से ही देखता है। सुश्रुत ने 'स्वस्थ' व्यक्ति की परिभाषा बतलाते हुए ऐसा कहा है कि जिस व्यक्ति के दोष, धातु, अग्नि तथा मल, आत्मा, मन और इन्द्रियां प्रसन्न हों वह स्वस्थ होता है (सू. स्था. अ. 15, 54)। इस परिभाषा में शारीरिक तथा मानसिक इन दोनों क्षेत्रों की आधुनिक *(Homeostesis)* होमियोस्टिस की कल्पना किस तरह समाविष्ट है, इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे आयेगा ही। इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान में से जैसे शरीर अलग नहीं जा सकता वैसे ही दर्शन भी उससे अलगाया नहीं जा सकता। यही कारण है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान में आत्मा, योग, अतीन्द्रिय दर्शन, स्वप्न विचार इत्यादि अनेक बातों की चर्चा की गई है।

आयुर्वेद की इस भूमिका का समर्थन आधुनिक मानस शास्त्री भी करने लगे हैं। जी.डी. बोआस के 'सामान्य विज्ञान की प्रस्तावना' में सर सिरिल बर्ट कहते हैं :- ''प्राकृतिक विज्ञानों की प्रत्येक शाखा सारभूत रूप से एक आनुभविक अध्ययन है तथापि प्रत्येक शाखा में अनिवार्य रूपेण दार्शनिक पृष्ठभूमि समाहित है। विज्ञान के अधिकांश आधारभूत समप्रत्यय; जो इसके मुख्य प्रायोगिक बिन्दु हैं या अतीत में थे जैसे द्रव्य, गुण, कारण, सम्बन्ध, देश, काल, मात्रा, पदार्थ, ऊर्जा इत्यादि कोटियां दर्शन से ही गृहीत हैं या इनका आधुनिक अनुकल्प (सब्सटीट्यूट) हैं जिन्हें दार्शनिक विमर्श की आवश्यकता है। यहाँ तक कि ऐसे वैज्ञानिक जो मानत हैं कि प्रत्येक यथार्थ ज्ञान आनुभविक होना चाहिए; ऐसे वैज्ञानिक भी वे दार्शनिक सिद्धांत अपना रहे हैं जिन्हें दार्शनिक प्रमाण (प्रूफ) कहा जाता है। मनोविज्ञान में भी इस उभय चरित्र का

आधारभूत महत्व है, जिसे अक्सर ही अनदेखा कर दिया जाता है।'' *(Every branch of natural science is essentially an empirical study, yet each necessarily implies a philosophical background. Many of the fundamental concepts which the sciences employ or have employed in the past - substance, property, cause, relation, space, time, quantity, matter, energy and the like - are either categories borrowed from philosophy or modemised substitutes which still require philosophical examination. Even those scientists who hold that all genuine knowledge must be impirical, are adopting a specific philosophic doctrine which itself calls for philosophic proof. Now in psychology this double character is of basic importance, and is too often overlooked.')*

उसके अनन्तर श्री बर्ट कहते हैं कि मज्जा धातु शास्त्र में स्नायविक, व प्रयोगशालाओं में जो अन्वेषण हुए हैं, उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि भिन्न भिन्न संस्कृतियों में विकसित हुई है। यह सच है कि पाश्चात्य विचारक अपनी कल्पनायें अधिकाधिक साकार *(concrete)* रखना पसंद करते हैं और यही उनकी जड़वादिता का मतलब हो सकता है। और मनुष्य की चैतन्य शक्ति यद्यपि जड़ परिस्थिति पर निर्भर करती है तथापि वह स्वयं जड़ है ऐसा मानना कठिन है। इस शक्ति के आविर्भाव के तरीकों का विचार भारतीयों ने अधिक सूक्ष्मदर्शिता के साथ किया है। पदार्थ विज्ञान-शास्त्र को भी अब दर्शन में प्रवेश करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। प्राणी विज्ञान की भी अब यही हालत है।

मानस शास्त्री को अपने विज्ञान की सीमा के बाहर जाकर दार्शनिक उलझनों में अपने को नहीं उलझा लेना चाहिये, यह वुडवर्थ का उपरिर्निष्ट आक्षेप अब तक के विवेचन से निराकृत हो जाता है। जो समस्यायें दो ज्ञान शाखाओं की संधि-स्थानीय हैं उनका विचार उन शास्त्रों में से किसी एक की सीमा के भीतर ही रहकर कैसे किया जा सकता है ? फ्रायड, युंग आदि पंडित प्रारंभ में औषधि विज्ञान के ही अध्येता थे। किन्तु इस विज्ञान की सीमा-रेखाओं पर अवस्थित समस्याओं के लिये उन्हें मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना ही पड़ा। श्री बोआज़ कहते हैं कि "चाहे हम विश्व का द्वैतवादी दृष्टिकोण ग्रहण करें या एकतत्त्व वादी, मनो विज्ञान में भी यह दृष्टिकोण विचार करने की एक चरम रूपरेखा प्रदान करते हैं। हम मनोविज्ञान की किसी विशिष्ट समस्या पर, इस प्रकार के दार्शनिक वाद उठाये बिना भी विचार कर सकते हैं। किन्तु जब हम अपने मनो वैज्ञानिक ज्ञान के अंतिम संश्लेषण तक आयेंगे तथा इसे सत्ता की व्यवस्था में स्थान प्रदान करेंगे, इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्न खड़े हो जाते हैं।'' *(Whether we take a dualistic or a monistic view of the universe is important as an ultimate frame work for our thinking in psychology also. We may pursue particular problems of psychology without raising such philosophical issues. But when we come to a final synthesis of our psychologlcal Knowledge and*

give it a place in the scheme of realities, such, philosophical problems do arise. (Gen. Psy. P. 30.) इस सब पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के बिना मनोविज्ञान का विचार ही असंभव है।

आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का विशेषतया विचार करते समय यह सखेद स्वीकार करना पड़ता है कि अधिकांश अन्वेषकों ने आयुर्वेद में समाविष्ट बुद्धि, अहंकार इत्यादि सांख्य प्रमेयों का बहुत ही संकुचित अर्थ किया है। आयुर्वेद ने अपने विज्ञान की रचना सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिकों के तत्व चिन्तन के आधार पर प्रमुखतया की हुई है। सृष्टि प्रक्रिया के संबंध में वेदान्त ने भी सांख्य विचारकों को मान्यता दी हुई है।

सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष इन दो अनादि तत्वों के संयोग से प्रथम विभिन्न स्तरों वाली अतीन्द्रिय सृष्टि उत्पन्न होती है। इस अतीन्द्रिय सृष्टि का मंत्र तथा योग शास्त्रों ने सप्त लोकात्मक वर्णन किया हुआ है। सांख्य महत्, अहंकार इत्यादि तत्वों के रूप में सृष्टि का वर्गीकरण करते हैं। यहां तत्व का अर्थ है वस्तु, कल्पना नहीं है। ये तत्व चौबीस हैं या पच्चीस इसके संबंध में जो विवाद दिखलाई पड़ता है वह विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। जैसा कि भागवत के एकादश स्कन्ध में श्री कृष्ण ने उद्धव को समझाया है, ये सब तत्व एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होने के कारण उनकी संख्या तथा पौर्वापर्य के संबंध में प्रश्न उठा करते हैं।

बुद्धि, अहंकार इत्यादि सांख्योक्त तत्व अतीन्द्रिय सृष्टि से ही संबंधित हैं। आयुर्वेद में इसी रूप में इन तत्वों का निर्देश आया हुआ है। यह निर्देश दृश्य सृष्टि के वर्णन के लिये आधार के रूप में ही वहां आया हुआ है। सुश्रुत ने एक स्थान में जो दृष्टांत दिये हुए हैं वे दृश्य तथा अदृश्य सृष्टि के संबंध को स्पष्टतया हमारे सामने रखते हैं। ग्रह बाधा के कारण बतलाते हुए सुश्रुत कहते हैं कि 'आइने में जिस प्रकार प्रतिबिंब प्रवेश करता है, शीत या उष्ण जैसे हमारे शरीरों में प्रवेश करते हैं या सूर्यकांत मणि में जैसे सूर्यशक्तियां प्रवेश करती हैं उसी प्रकार जीवात्मा, (आदि अदृश्य तत्व) ग्रह वगैरह मानव शरीर में प्रवेश करते हैं (उत्तरतंत्र अ. 60, 19)।

अब हम सीधे आयुर्वेदीय मनोविज्ञान के विस्तार में प्रवेश करें। मनोविज्ञान के प्रमुखतया सामान्य तथा असामान्य *(Normanl and Abnormal)* ऐसे दो वर्ग होते हैं। अवांतर वर्ग तो अनेक हैं। आजकल अतीन्द्रिय मनोविज्ञान *(Para-Psychology)* के रूप में एक स्वतंत्र शाखा भी उपर्युक्त दो वर्गों के साथ गिनायी जाती है। इन सभी शाखा, प्रशाखाओं का आयुर्वेद में सुस्पष्ट उल्लेख यद्यपि नहीं है तथापि कुछ के सूत्र उसमें उपलब्ध होते ही हैं। यहां हम आयुर्वेद के सामान्य मनोविज्ञान तक ही अपने को सीमित रखेंगे। सुश्रुत का जो वाक्य इस लेख के आरंभ में उद्धृत किया हुआ है उसमें आयुर्वेदीय मनोविज्ञान का सूत्ररूपेण उल्लेख है। जिस 'कर्म पुरुष' के गुणों का सुश्रुत ने

वर्णन किया है उसकी रचना इस प्रकार है : पैदा होने वाला प्रत्येक मनुष्य यद्यपि मां-बाप से प्राप्त होने वाले अन्नमय शरीर के साथ ही जन्म लेता है तथापि उसका अपना भी कुछ उसके साथ लगा होता है। अर्थात् कर्म पुरुष के शरीर में वंशपरंपरा से प्राप्त, परिस्थिति से प्राप्त तथा अपना कुछ व्यक्तिगत ऐसी त्रिविध सामग्री समाविष्ट रहती है। उपनिषदों के शब्दों में, कर्मपुरुष का शरीर अन्योन्यानुप्रविष्ट कोषों का बना हुआ होता है। उपनिषदों में बतलाये अन्नमय, प्राणमय इत्यादि कोष तो आयुर्वेद का सम्मत हैं ही। वैसे ही सुश्रुत ने ये यह भी बतलाया है कि गर्भ में पितृज, मातृज, रसज, आत्मज, सत्वज, सात्म्यज ऐसे गुण हुआ करते हैं। इन गुणों का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने शरीरोपचय, बल, वर्ण, स्थिति, हानि ये रसज इन्द्रियां : ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, सुख, दु:खादि अनुभव ये आत्मज, विभिन्न स्वभाव सत्वज तथा वीर्य, आरोग्य, बल, वर्ण, मेघा इत्यादि बातें सात्म्यज ऐसा स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। चरक ने आत्मज में आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियां, प्राणापान, प्रेरण, धारण, आकार, स्वर, वर्ण इत्यादि, की : सात्म्यज में आरोग्य, अनालस्य, अलोलुपता, इन्द्रिय प्रसाद आदि की, रसज में शरीर की परिपूर्णता, वृद्धि, बल, तृप्ति आदि की तथा सत्वजमें इच्छा, शील, शौर्य, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय आदि की गणना की है। इन गुणों में कुछ के कारण दो, कुछ के एक ऐसा वियोग दिखलाई पड़ता है। इसका मलतब यह है कि मनुष्य की कुछ बातें दो-दो कारणों की अपने विकास के लिये अपेक्षा रखती हैं।

कर्म पुरुष अनेक स्तरीय हुआ करता है। अन्नमय स्तर भौतिक तथा रसायन विज्ञानों का विषय है। इसमें विद्युतीय *(Electrical)*, परमाणविक *(Atomic)*, आणविक *(Molecula)* आदि उप स्तर होते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धान्त में इस स्तर का ही वर्गीकरण तथा एकसूत्रीकरण उपलब्ध है। आयुर्वेद के कुछ संप्रदाय इस स्तर तक ही सीमित रह जाते हैं। कर्म पुरुष का दूसरा स्तर 'प्राणमय' है। इसमें शारीरिक *(physiological)* तथा जैविक *(Biological)* ऐसे उपस्तर भी होते हैं। आयुर्वेद का शरीर विज्ञान तत्वत: आज के शरीर विज्ञान जितना ही विकसित है। जैविक के बारे में भी आयुर्वेद का आधुनिक तत्सम विज्ञान से बहुत कुछ साम्य है। इस द्वितीय स्तर के परे है मनोमय स्तर। बुद्धि, भाव, भावना इत्यादि इस स्तर की विशेषताएं हैं। इनके बारे में भी आयुर्वेद का आधुनिक विचारों से काफी आनुरूप्य है। इसके ऊपर है अतीन्द्रिय स्तर जो परामनोविज्ञान का विषय है।

अब प्रथम अन्नमय को लें। आयुर्वेद इतर भारतीय दर्शनों के समान प्राण तथा मन को स्वतंत्र तत्व मानता है। जड़ के ही विशेष आविष्कार के रूप में इन तत्वों का पुरस्कार आयुर्वेद नहीं करता। इस संबंध में अभियांत्रिक*(Mechanistic)*, आपातिक, *(Emergent)*,द्वंद्वात्मक*(Dialectical)*, प्राणतत्त्ववादी *(vitalistic)*, ऑर्गेनिक

(Organistic), साकल्यवादी *(Holistic)* आदि जो सिद्धान्त आधुनिकों ने उद्भावित किये हैं उनकी तत्तदंश में आंशिक सत्यता को ही आयुर्वेद स्वीकार करेगा। प्राणतत्व अन्न में और मनस्तत्व प्राण में विलीन न होकर ये एक दूसरे के आधार पर ही अपना प्रभाव दिखाते हैं, ऐसा आयुर्वेद का मत है। अन्नमय के वर्णन पर सूत्र त्रिदोष सिद्धान्त में उपलब्ध है। त्रिदोषों के अनुसार विभिन्न विकृताविकृत मानसिक क्रियायें कैसे हुआ करती हैं यह आयुर्वेद में स्पष्टतया बतलाया गया है। वाट्सन के चेष्टावाद *(Behaviourism)* का मूलरूप त्रिदोषवाद में सन्निहित है।

मनुष्य के अधिकांश व्यापार अन्नब्रह्म तथा पांच भौतिक द्रव्यों के आधार पर होते रहते हैं, यह बात स्पष्ट सिद्ध है। भौगोलिक परिस्थिति का मनोव्यापारों के साथ जो संबंध है उस पर इडिंग्टन जैसे भूगोल शास्त्रियों ने प्रकाश डाला ही है। भौगोलिक वर्ष में किये गये संशोधनों से भी यह ज्ञात हुआ है कि वायुमंडल के वैद्युत तथा चुंबकीय गुणों के परिणाम स्वरूप मानसिक विकारों की वृद्धि होती है। नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ. लिनस पॉलिंग ने *'Chemistry of Mental illness'* इस विषय पर संशोधन कर जो विचार प्रकाश में लाये हैं *(Molecular diseases)* वे आयुर्वेदीय त्रिदोष विचारों के पोषक ही हैं। हॉर्मोंज़ का शरीर में स्थान तथा मादक *(Tranquilising)* शक्तिप्रद द्रव्यों की बढ़ती मांग ये सब, शरीर के पांच भौतिक स्तरों के साथ मन:स्तर का कितना घनिष्ठ संबंध है, यह बतलाते हैं। विभिन्न बीमारियों की पूर्व-रूप अवस्थाओं में जिन स्वप्नों का घटित होना आयुर्वेद ने बतलाया है उन पर से भी पंच भौतिक शरीर तथा मन के निकट संबंध का प्रत्यय आता है।

चलते चलते इसी विषय से संबंधित एक बात का उल्लेख कर दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अत: उल्लेखनार्ह न लगने वाली ऐसी अनेक बातों का महत्व आयुर्वेद ने पहिचाना है। एक बात यह है कि स्त्री-पुरुष जिस मानसिक स्थिति में समागम करते हैं उसका संतति पर प्रभाव पड़ता ही है। यही कारण है कि ऋतुस्नात स्त्री के लिये कई निषेध आयुर्वेद ने बतलाये हैं। इसी प्रकार गर्भिणी के आहार विहारादि का गर्भस्थ पिंड पर गहरा असर पड़ता है, इस बात पर भी आयुर्वेद ने बड़ा जोर दिया है। आयुर्वेदीय सिद्धान्तों की विशेषता ही यह है कि उसने आनुवांशिक तथा संस्कार्य इन दोनों मानव शरीर के घटकों का बड़ा ही सुन्दर सायुज्य प्रस्थापित कर दिखाया है।

अब प्राणमय स्तर का विचार करें। आयुर्वेद इसे स्वतंत्र तत्व मानता है। मैक्डुगल ने कथन के अनुरूप आयुर्वेद ने इसे सोद्देश्य *(Purposive)* कहा है। इसी स्तर में सहज प्रवृत्तियों *(Propensities)* का समावेश होता है। यहां यह कह देना आवश्यक है कि आयुर्वेद ने भी मनुष्य का निम्न प्राणि-कोटियों से कुछ बातों में सातत्य स्वीकार

किया है। इस हेतु वानस्पत्य तथा पाशवीय बातों की भी उपलब्धि मनुष्य के प्राणमय कोष में होती है।

मैक्डूगल ने यह जो बतलाया है कि मानव-मन में कुछ निसर्गसिद्ध स्वयंभू घटक रहते हैं तथा उनके आधार पर इस मन में विभिन्न स्तर बना करते हैं, यह बातें आयुर्वेद को भी अमान्य नहीं हैं। सुश्रुत इस संबंध में एक जगह कहते हैं -

'सर्वाणि अङ्ग प्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वतरि: गर्भस्य सूक्ष्मत्वात् नोपलभ्यते वंशाङ्कुरवत् चूतफलवच्च।' इस पर से आयुर्वेद को सभी सजीव व्यापारों के सम्बन्ध में यांत्रिकतावादी अभ्युपगम उपयुक्त नहीं जँचता, यह बात स्पष्ट है।

मैक्डूगल ने सहजात प्रेरणाओं *(Propensities)* को निश्चित स्वरूप की तथा ठोस न मान कर जैसे उन्हें अन्योन्य जनक *(Plastic, reciprocal, variable)* कहा है वैसे ही उन्हें उसने 'मनोभौतिक' *(Psycho-physical)* भी समझा है। इसी कारण उसने विश्रान्ति या निद्रा, श्वासोच्छ्वास, हँसना, रोना, दु:ख या कष्ट टालना इत्यादि बातों को भी मूल प्रेरणाओं में ही समाविष्ट किया है। इस लेख के प्रारंभ में उद्धृत किये हुए सुश्रुत के वचन में तथा गर्भ की आत्मज कह कर निर्दिष्ट बातों के विषय में आयुर्वेद-वेत्ताओं की भूमिका मेक्डूगल जैसी ही दिखलाई पड़ती है। सुख, दु:ख, इच्छा-द्वेष, प्रयत्न, प्राणापान, उन्मेषनिमेष, विषयोपलब्धि इनका अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा। इन्द्रियां इत्यादि प्राणतत्व के स्तर में समाविष्ट हैं। जन्म लेने वाला जीव अपने साथ जो सामग्री लाता है उनमें इन बातों का समावेश है। इन्हीं के साथ उच्च स्तर की बातें भी जुड़ी हुई हैं। उनकी आगे चर्चा की जायेगी। आयुर्वेद त्रिदोषों को शरीर तथा रज व तम को मानस दोष बतलाता है। और रज तथा तम इनका किन किन शरीरों दोषों से संयोग होकर कौन से शरीर-मानस व्यापार घटित होते हैं, इसका विवरण भी आयुर्वेद में दिया गया है। उदाहरणत: निद्रा को लीजिये। मैक्डूगल के मतानुसार निद्रा एक सहज प्रवृत्ति *(Innate propensity)* है। सुश्रुत भी इतने ही स्पष्ट शब्दों में कहता है कि 'स: स्वभावत: एव सर्वप्राणिन: अभिस्पृशति, निद्राहेतु-स्तम:......स्वभाव एव वा हेतु:, (शा. स्था., अ. 8)। तमोगुण तथा श्लेष्मगुण इनके संयोग से निद्रा घटित होती है, याने वह मनोभौतिक *(Psychophysical)* है और वह स्वाभाविक *(Innate)* भी है। मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा इत्यादि के बारे में भी सुश्रुत ने ऐसा ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। अपने विषय के अनुरूप सुश्रुत ने जो स्वप्नमीमांसा उपस्थित की है वह अधिक उद्बोधक है। सुश्रुत कहते हैं कि रज: प्रेरित मन के कारण निद्रावश हुआ जीव पूर्वानुभूत बातों को स्मरण करता है तथा उन्हें यह स्वप्न में देखता है। (पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपत: प्रभु:। रजोयुक्तेन ने मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान्।। शा. स्था. अ. 4, 3-6)। स्वप्न संबंधी विवरण में इसकी अधिक चर्चा की जा सकती है। संप्रति यही दिखलाना अभीष्ट है कि

प्राणतत्व के स्तर की प्रेरणाओं के संबंध में आयुर्वेदीय तथा हॉर्मिक दृष्टियां बहुत कुछ समान हैं।

इस स्तर के बारे में आयुर्वेद ने इतर जो ऊहापोह किया है उसका विचार कर हम आगे बढ़ेंगे। मैक्डूगल के तरीके से भले ही न हो फिर भी फ्रायड तथा युंग ने मूल प्रेरणाओं को स्वीकार किया है। फ्रायड ने अहं संबंधी सहज प्रवृत्ति*('ego-instinct)* तथा मृत्यु संबंधी सहज प्रवृत्ति *(death-instinct)* ऐसा वर्गीकरण किया है। फ्रायड को अत्यंत प्रिय जो ध्रुवात्मकता *(Polarity)* है उसे सुख-दु:ख, इच्छा-द्वेष इत्यादि शब्दों के द्वारा आयुर्वेद वेत्ताओं ने स्वीकार किया ही है। फ्रायड के जिजीविषा *(eros)* तथा मरण प्रवृत्ति *(thanatos)* ये ही इच्छाद्वेष हैं। सुख-दु:ख ये ही 'प्लेजर-पेन' (pleasure pain) सिद्धांत हैं। आगे चलकर फ्रायड ने लिबिडो *(libido)* की कल्पना को इतना व्यापक स्वरूप दिया है कि वह लगभग प्राणतत्व से ही एकाकार हो जाती है। मैक्डूगल ने अपने और फ्रायड के मतभेदों की चर्चा के प्रसंग में यह बात अच्छी तरह दिखला दी है *(Social Psychology and Psychoanalysis)*। फ्रायड के 'इड' *(Id)* में प्राणतत्व की घटक सब प्रेरणायें समा जाती हैं। किन्तु भय की प्रेरणा को उसने अपवादभूत समझा है। युंग ने 'लिबिडो' *(libido)* इस संज्ञा में सब प्रेरणाओं को संन्निविष्ट कर लिया है। फ्रायड का 'लिबिडो' *(libido)* तथा एड्लर का शक्ति की आकांक्षा *(will for Power)* इनका भी इसी में उसने अन्तर्भाव किया है। युंग ने फ्रायड की अचेतन *(unconscious)* संबंधी धारणा को अधिक व्यापक तथा गहन स्वरूप प्रदान किया है। उसका उसने सामुहिक अचेतन *(collective)* या जातीय अचेतन *(recial unconscious)* ऐसा नामकरण किया है। उसके मत से इसमें सभी मूल प्रेरणायें विद्यमान होती हैं और उसमें उसके कथनानुसार मूल प्रकृति *(Archetypes)* भी उसके अन्तर्गत है।

आयुर्वेदीय मनोविज्ञान को फ्रायड की (मैक्डूगल के शब्दों में कहा जाये तो) सर्वलैङ्गिकता *(Pansexuality)* मान्य नहीं है। एक बात यह है कि प्राणतत्व तथा लिङ्ग प्रेरणा *(Sexual Impulse)* ये समव्याप्त बातें नहीं हैं, ऐसा आयुर्वेद का स्पष्ट कथन है। 'काम' शब्द का भारतीय शास्त्रों में काफी व्यापक ऐसा मतलब दिया जाता है। *'Sex'* यह शब्द मर्यादित अर्थ का वाचक है। वात्स्यायन ने दो प्रकार के काम बतलाये हैं। वे प्रस्तुत संदर्भ में विचारार्ह हैं। काम माने अनुकूल प्रवृत्ति या इच्छा। फ्रायड को प्राण शक्ति तथा 'लिबिडो' *(libido)* याने लिङ्ग प्रेरणा, ये दोनों ही एक ही प्रतीत हुई; इसका कारण है उसका विपर्यास। वाङ्भट के कथनानुसार मानव ऊर्ध्वमूल तथा अधोशाख हुआ करता है। सिर उसकी जड़ तथा सारा शरीर उसकी शाखा है। इस जड़ में चरक के कथनानुसार सब प्राण इन्द्रियें तथा स्रोत वास करते हैं। किन्तु उनका प्रथम प्रकटीकरण देहरूप शाखाओं में जो होता है वह निचले पेट में होता है। वहीं पर लिङ्गविशिष्ट अवयवों

की मूल प्रेरणायें होती हैं। इन दोनों बातों के साहचर्य के कारण ही प्राण शक्ति तथा लिङ्ग प्रेरणा इनका एक होने का भ्रम फ्रायड को हुआ। आयुर्वेद के अनुसार वातदोष का स्थान वहीं है और इस दोष का सूक्ष्म स्वरूप प्राणतत्व ही है। श्री अरविन्द के कथनानुसार, योग शास्त्र के मत में मूलाधार चक्र में, जो निचले पेट में हुआ करता है, मनुष्य की वानस्पतिक चेतना कार्य करती रहती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति पेट के अंतर्गत मणिपुर चक्र तथा हृदय के अंतर्गत अनाहत चक्र द्वारा होती है।

फ्रायड के उपर्युक्त प्रवृत्ति के निरोध के आधार पर अपनी मनोविज्ञान तथा मानसचिकित्सा की पद्धति का जो निर्माण किया है वह आयुर्वेद को मान्य नहीं है। भारतीय शास्त्रों को ही यह बात मान्य नहीं है तो आयुर्वेद को कैसे वह मान्य होगी ? आवेशों का धारण नहीं करना चाहिये, ऐसा शरीर दृष्टिकोण से सुस्पष्ट रूप में आयुर्वेद ने बतलाया है; लेकिन इसके साथ उसने यह भी बतलाया है कि अनिष्ट परिणाम कारक तथा साहसात्मक, याने अपनी शक्ति के परे रहने वाली मानसिक, कायिक तथा वाचक क्रियाओं के आवेश को, इह पर कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को धारण याने नियंत्रण करना आवश्यक है। लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, नैर्लर्ज्य, ईर्ष्या, अतिराग, परद्रोह का अनुचिन्तन इत्यादि के आवेगों पर समझदार व्यक्ति को नियंत्रण रखना चाहिये (सू. स्था. अ. 7, 26-31) यह चरक की उक्ति इस संबंध में विचारार्ह है। चरक, सुश्रुत इन दोनों ने उन्माद के कारणों में उन सब बातों का सन्निवेश किया है जो आधुनिक मनोविज्ञान में न्यूरोसिस *(Neurosis)* तथा साइकोसिस *(Psychosis)* इन नामों से पुकारी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य आधुनिक मानव शास्त्र सम्मत बातों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। इतने पर भी उन्होंने फ्रायड के अनुसार आवेग-निरोध को आत्यंतिक महत्व नहीं प्रदान किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ. दास गुप्ता यह बात फ्रायड को समझा सकने में सफल हुए थे, ऐसा कहा जाता है। प्रयत्नपूर्वक तथा सही ढंग से किये गये आवेग निरोध का महत्व फ्रायड भी अस्वीकार नहीं कर सकेंगे *(The cultural Heritage of India. Vol. I*, पृष्ठ 317)।

प्राणमय स्तर में इन्द्रियों का भी अंतर्भाव होता है। चरकने इस संबंध में बहुत ही मूलगामी तथा मार्मिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। इन्द्रियां तथा उनके अधिष्ठान ये परस्पर भिन्न हैं, यह चरक का दृष्टिकोण आधुनिक गवेषणाओं के मूलसूत्र को ही उपस्थित करता है। मस्तिष्क का वर्णन करते हुए उसने 'प्राण: प्राणभृतां यत्राश्रिता: सर्वेन्द्रियाणि च (सू. स्था, अ. 17, 12)। शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रिय प्राण वहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गभस्तय: संश्रितानि' इन वाक्यों में उसका स्वरूप प्रतिपादित कर तथा उसका महत्व बतला कर ब्रेनलोकेलाइजेशन *(brain Localisation)* की पद्धति से, शिरोविघात होने पर कौन कौन सी बीमारियां होती हैं, यह भी स्पष्टतया निर्दिष्ट

किया है (सू. स्था. अ. 9, 46)। इसी संदर्भ में हृदय को आयुर्वेद ने जो महत्व दिया है उसका भी उल्लेख करना आवश्यक है। हृदय इन्द्रियां, बुद्धि, मन, तथा चैतन्य इनका स्थान बतलाया गया है। इस कारण आयुर्वेद में हृदय, तथा मस्तिष्क इन दो अवयवों के बारे में काफी मतभेद विद्यमान है। लेकिन वह निरर्थक है। हृदय का संबंध भाव, भावना तथा दैनंदिन प्राणव्यवहार *(Vegetative functions)* इनसे अधिक होने के कारण ही उसका आयुर्वेद ने महत्व बतलाया है। साधक चित्त का हृदय स्थान होने के कारण सिम्पेथेटिक सिस्टम *(ISympathetic system)* की दृष्टि से हृदय महत्वपूर्ण अंग है और केवल इसी कारण उसकी प्रशंसा आयुर्वेद के ग्रंथों में की गई है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण अप्रस्तुत है। किन्तु आयुर्वेद तथा आधुनिक दृष्टिकोण इस संबंध में एक जैसे हैं, यह ध्यान में रखना ही पर्याप्त है।

इन्द्रियों के विचार से मस्तिष्क को उनका स्थान बतलाकर चरक उनके अधिष्ठानों का जो निर्देश करता है उस पर से उसकी सूक्ष्म दृष्टि का हमें प्रत्यय प्राप्त होता है। त्वक् को छोड़ कर बाकी सब इन्द्रियों को शरीर के दायें तथा बायें भागों में उसने विभक्त किया है। त्वक् यह शरीर-व्याप्त है। लेकिन ये सब इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। इन्द्रियां तो मस्तिष्क में ही होती हैं। आधुनिक संशोधन की यह सुस्पष्ट उपलब्धि है कि हरेक संवेदना का ज्ञान तथा उसकी विशेषता इन्द्रियों में *(Receptor Organ)* या उसमें से निकलने वाली वातवाहिनी *(Nerve)* में न होकर, मस्तिष्क के विशिष्ट भागों में ही उपलब्ध होती है। गर्भपिंड की उत्तरोत्तर प्रकृष्ट अभिव्यक्ति की पार्श्व भूमि पर चरक के उस मत का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि प्राणतत्व स्वयंभू प्रेरणाओं के द्वारा ही इन्द्रियाधिष्ठानों की निर्मित करता है। इस प्रक्रिया की एक अवस्था ही मस्तिष्क का पंचधा विभक्तीकरण है। यह विभक्तीकरण ही पंच ज्ञानेन्द्रियां तथा उनकी इन्द्रियां *(Receptor Organs)* और उनकी नाड़ियां *(Nerves)* याने पंचेन्द्रियाधिष्ठान हैं। इस विषय पर से अब हम आधुनिक मनोविज्ञान के एक बड़े ही विवाद्य विषय के, जो अब निर्मित हो चुका है, आंगन में प्रवेश करते हैं।

आयुर्वेद का यह सुस्पष्ट कथन है कि मनुष्य को संवेदनाओं का जो ज्ञान होता है वह केवल इन्द्रियार्थ, इन्द्रिय तथा इन्द्रियाधिष्ठान इनके संयोग से ही नहीं प्राप्त होता। इसमें मन का भी अस्तित्व समाहित है। चरक ने अनेक स्थानों में यह बात कही है। आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा इन्द्रियार्थ इनका संयोग ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। ग्रोस क्लार्क *(Gros Clarke)* इस विद्वान ने जो निष्कर्ष इस संबंध में उपस्थित किया है वह मनोविज्ञान के लिये महत्वपूर्ण है। वह कहता है कि "सचेतन प्रत्यक्ष में अनिवार्य रूपेण अवधान का तथ्य विद्यमान रहता है, तथा अवधान रुचि को पूर्वगृहीत करता है, जिसमें कि भावात्मक एवं क्रियात्मक मानसिक क्रियायें समाहित रहती हैं। दूसरे शब्दों में किसी बाह्य

उद्दीपक के प्रत्यक्षयन में निश्चित ही हम इसी प्रकार से अनुभव के विषयी पक्ष से जुड़ते हैं, जिसे अहं का प्रत्यय भी कह सकते हैं।'' (...........*for conscious perception necessarily involves a factor of attentin, and attention presupposes interest, which in tum involves the affective and conative aspects of mental activity. In other words, to be perceived the effects of extemal stumuli must in some way be linked up with the subjective side of experience; that is to say, with the idea of the self. (New Biology, No. I, The Basis of Sensory experience, p. 82)*. श्री क्लार्क ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि मस्तिष्क के प्राथमिक खंड में, जिसमें आधारिक गुच्छ *(Basalganglia)* की गणना की जाती है - मनुष्य की अहं वृत्ति प्रकट होती है। वैकृतिक *(Pathological)*, रूग्णविषयक *(clinical)*, शरीर विषयक *(Anotomical)* तथा प्रयोगात्मक *(Experimental)* इस तरह सभी परस्परोपकारक निरीक्षणों पर से यह सिद्ध होता है कि मन यह मस्तिष्क के ऊपरी आवरण *(Cerebral cortex)* का सभी संवेदनाओं के संकलन तथा समायोजन के साधन के रूप में उपयोग करता है। मस्तिष्क का तीसरा विवर *(Third Venterical)* 'अहं' वृत्ति का अधिष्ठान है ऐसा क्लार्क का मत है। इस अवयव के कार्य के बिना कोई भी संवेदना ठीक तरह आकलित नहीं होती।

उपर्युक्त कथन में अनेक बातें अंतर्भूत हैं जिनका क्रमशः विचार करना आवश्यक है। सांख्य के अनुसार ('त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः' - सांख्यकारिका) इन्द्रिय व्यापार के मूल में दृष्ट या अदृष्ट रूप में बुद्धि, मन तथा अहंकार इनकी प्रक्रियायें विद्यमान होती हैं। आयुर्वेद ने भी यह बात मानी है। एक बात तो अब सर्वमान्य हो चुकी है कि मस्तिष्क में स्थानीय विशेषतायें यद्यपि दिखायी देती हैं तो भी उनको मर्यादित महत्व ही देना चाहिये। मस्तिष्क संपूर्ण रूप से ही कार्य करता है। यह बात लेशले, शेरिंगटन इन अनेक मनोवैज्ञानिकों ने सप्रयोग दिखला दी है। मस्तिष्क तथा वातवाहिनी संस्थान *(Nervous System)* सहचर विभाग तथा सहचर वातवाही तन्तु *(Areas association fibres)* अनेक होते हैं, यह बात सर्व परिचित ही है। इन सब प्रमाणों या विचार किया जाय तो आयुर्वेदीय तथा इतर भारतीय शास्त्रों की मानसशास्त्रीय पृष्ठभूमि काफी स्पष्ट हो जाती है। प्राणतत्व स्वयंभू स्वरूप से अंतर से ही ज्ञान सामग्री को प्रेरणा देता है, यह बात सच है। यहां एक और आयुर्वेदीय, तथा परोक्ष रूप में सभी भारतीय शास्त्रों की, एक संज्ञा का स्पष्टीकरण करना अपेक्षित है। वह संज्ञा 'अहंकार' है। आधुनिक शास्त्रों में भी *Self, selfconciousness, ego. Individual* अथवा *Personality* इन संज्ञाओं में आपस में फर्क किया ही जाता है। आयुर्वेद में इन शब्दों के अर्थ-भेद स्वीकृत किये गये हैं। प्राणतत्व यह गर्भपिण्ड तथा वर्द्धमान व्यक्ति में समग्र रूप से ही *(Holistrically)* कार्य करता है। वह भी 'अहंकार' है। फ्रायड जिसे 'ईगो' *(Ego)* कहता है वह भी

अहंकार ही है। और सुश्लिष्ट व्यक्ति तत्व, जिसका स्पष्टीकरण मैक्डूगल ने 'परसनेलिटी' *(Personality)* का विचार करते समय अतीव उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है वह भी अहंकार ही है। सत्वज बातों के विवेचन के प्रसंग में इसका हम थोड़ा दिग्दर्शन करायेंगे।

मनोविज्ञान की गेस्टाल्ट शाखा ने प्रत्यक्ष *(Perception)* और अधिगम *(learing)* इन प्रक्रियाओं का विशेष विचार किया है। इसके विचारानुसार संपूर्ण प्राणी ही इन प्रक्रियाओं का कारक होता है। उसमें अंतर्दृष्टि *(Insight)* इस नाम से पहिचानी जाने वाली शक्ति होती है, यह बात गेस्टाल्टवादी स्पष्टतया बतलाते हैं। इन्द्रियां, इन्द्रियाधिष्ठान, प्रत्यक्षज्ञान *(Perception)* इस संबंध में आयुर्वेद ने जिस दृष्टिकोण का पुरस्कार किया है उसमें 'गेस्टाल्ट' किस तरह समाविष्ट है यह बात सुश्रुत के द्वारा प्रयुक्त 'विषयोपलब्धि' इस शब्द से तथा 'भयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः' इस सांख्य वचन से भी स्पष्ट होती है। विषयोपलब्धि का अर्थ है शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनकी प्रतीति। यह प्रतीति 'अहं' पूर्वक ही होगी। उसमें सामान्य और विशेष ये दोनों रहेंगे ही। गेस्टाल्ट प्राणतत्व की स्वतंत्र सत्ता नहीं मानता। फिर भी अंश से अंशी को वह अधिक महत्व देता है। इसका मतलब यह है कि गेस्टाल्ट की सहायता से प्राणतत्व की स्वयंपूर्णता सिद्ध होती है। *(Organisation)* या संघटन गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का मूलतत्व है। 'अहं' भी एक संघटन ही है। शरीरशास्त्र तथा मनोविज्ञान इनमें उपलब्ध होने वाला समस्थिति *(Homeostasis)* का तत्व और मानव की मानवीय चेष्टायें *(Behaviour)* सांघातिक *(Molar)* होती हैं, यह व्यवहारवादियों *(Behaviourists)* का प्रतिपादन मूलतः 'अहंकार' रूप तत्व के स्वरूप का ही अभिव्यंजक है। पावलोव अनुबद्ध रिफलेक्स *(Conditioned Reflex)* पर आधारित मनोविज्ञान में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। स्थल संकोच के कारण इस बात की चर्चा यहां हम नहीं करना चाहते।

प्राणतत्व के संबंध में एक और बात। इसके अनंतर मनोमय तत्व की ओर हम अग्रसर होंगे। आधुनिक विज्ञानों में मनुष्य प्राणि के वर्गीकरण के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। हिपोक्रेटिस के चार वर्ग आयुर्वेद प्रतिपादित तीन प्रकृतियों के अपभ्रष्ट स्वरूप हैं यह बात तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को विदित ही है। वात प्रकृति, पित्त प्रकृति, कफ प्रकृति और कहीं कहीं उल्लिखित सम प्रकृति यह वर्गीकरण हिपोक्रेटिस के वर्गीकरण का मूल है। वर्तमानकाल में जर्मन विद्वान् एर्स्ट क्रेश मूर ने इस विषय की चर्चा छेड़ने का प्रयास किया है। उसके अनंतर लॅन् हंटर ने इस संबंध में कुछ निष्कर्ष प्राप्त किये। स्प्रज्ट, आल्पोर्ट, शेल्डन, फ्रायड, युंग, सिरिल बर्ट, एरिक फ्राम इन विद्वानों ने भी इस विषय का विचार किया है। प्रो. बोआज ने त्रिगुणों के आधार पर किये गये वर्गीकरण का अपने मनोविज्ञान में निर्देश किया है लेकिन उसकी विशेष चर्चा नहीं की है। उस पर से ऐसा प्रतीत होता है कि एतत्संबंधित भारतीय विचारकों की भूमिका बोआज के

समझ में नहीं आ पायी या उसे समझने का उसने प्रयत्न नहीं किया। आयुर्वेद ने त्रिदोषात्मक प्रकृतियों का भी उल्लेख किया है, यह बात ध्यान में रखने योग्य है। त्रिदोषात्मक प्रकृतियां *'Temperamental'* हैं। उनके मूल में मैक्डूगल के कथनानुसार रासायनिक प्रक्रियायें हुआ करती हैं। अत: इस प्रकृति का सम्बन्ध प्राणतत्व के स्तर के साथ आता है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है। इतर प्रकृतियों का संबंध मनोमय स्तरों से है। अत: इस स्तर का विचार अब कम प्राप्त है।

आयुर्वेद में 'मन' और 'सत्व' ये शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हैं और मन के कार्य के निर्देश की दृष्टि से मन को शरीरतन्त्रक अर्थात् शरीर का नियंत्रण करने वाला, ऐसा कहा गया है। 'सत्वमुच्यते मन:' । तच्छरीरस्य तन्त्रकं आत्मनेयोगात्' (च.सं.वि. स्था., अ. ८, ११९)। आयुर्वेद में दो प्रकार से सत्व का निर्देश आया है। एक गर्भपिण्ड की दृष्टि से तथा दूसरा वर्द्धमान व्यक्ति की दृष्टि से। मनोमय स्तर के ये दो उपभेद हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में डॉ. युंग के विचार-संप्रदाय ने मनुष्य की मनोरूप गुहा बहुत ही गहरी होने की बात सिद्ध कर दिखायी है। फ्रायड ने केवल बाल्य की मर्यादा तक ही मन की गहराई पहिचानी है। युंग ने सामूहिक अचेतन *(Collective)* या जातीय अचेतन *(Racial)* तक मन की गहराई का पता लगाया। किन्तु आयुर्वेद के मतानुसार यह गहराई पूर्वजन्म तक पहुँचती है। गर्भकारक भावों में मन भी है, ऐसा उसका सुस्पष्ट कथन है। उसके द्वारा अधिष्ठान के रूप में स्वीकार किये हुए सांख्ययोग के आधार पर से यह बात निकलती है कि गर्भ में पूर्वजन्म का मन प्रविष्ट होता है। यह मन जिस जाति का हो उसी प्रकार की गर्भ की मानस प्रकृति बनती है। मन तीन ही तरह का हो सकता है - सात्विक, राजस तथा तामस। पूर्वजन्म के ब्राह्म, ऐन्द्र, वारूण, कौलेट, गान्धर्व, आर्ष, याम्य ये सात सात्विक तरीके; आसुर, सार्प, शाकुन, राक्षस, पैशाच, प्रेत ये छ: राजस तरीके और पाशव, मत्स्य, वानस्पत्य के तीन तामस तरीके हुआ करते हैं। इन तरीकों में सोलह मानव प्राणी की सोलह विभिन्न प्रकारों की मानसिक प्रवृत्तियां हुआ करती हैं, ऐसा चरक और सुश्रुत इन दोनों का मत है। इन सभी प्रकृतियों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। विभिन्न अनुक्रमों से इन प्रकृतियों के मिश्रण के फलस्वरूप अपरिसंख्येय प्रकृतियां पैदा होती हैं, यह भी चरक का कथन है। इस सबका निचोड़ यह है कि मानवीय व्यक्तित्व के जो मुख्य घटक मैक्डूगल ने बतलाये हैं - प्रवृत्ति *(disposition)*, मिजाज *(Temperament)*, स्वभाव *(tempre)*, गुण *(character) and* प्रज्ञा *(intellect)* इनमें कितनी बातें पूर्वनियत *(Predetermined)* हुआ करती हैं, यह आयुर्वेद तथा हार्मिक मनोविज्ञान *(Hormic psychology)* ये दोनों ही स्पष्टतया बतलाते हैं। अनुभव का प्रभाव उपर्युक्त पांचों पर पड़ता है, यह अब सिद्ध हो चुका है। पूर्वजन्म का भी इन पर प्रभाव पड़ता है, यह बात अधिक आयुर्वेद ने बतलायी है। बुद्धिमत्ता आनुवांशिक होती

है, यह बात तो अभिन्न युग्मजों *(Indentical twines)* के अध्ययन पर से निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। थेलमस *(Thalamus)* तथा हाइपोथेलेमस *(Hypothalamus)* इन दो मस्तिष्क विभागों से घनिष्टतया संबंधित भावनाओं की अभिव्यक्ति जिन शरीर द्रव्यों *(biochemicals)* के द्वारा हुआ करती है वे द्रव्य भी अनुवंश नियमित ही हैं। मस्तिष्क के धातुकोष *(nerve cell)* भी इसी प्रकार के होते हैं। इस वस्तुस्थिति पर दृष्टिपात किया जाय तो परिवेशवादियों *(Environmentalists)* का कथन कैसा अतिरेकपूर्ण है वह अपने आप प्रगट हो जायगा।

गर्भावस्था से ही मानवीय व्यक्तित्व कैसे निर्धारित होता है, इस बात का समर्थन आजकल के कुछ महत्वपूर्ण अनुसन्धानों से प्राप्त हुआ है। शर्ले ने बाईस अर्भकों का जन्मदिन से लेकर उनके दूसरे साल तक अध्ययन कर जो वृत्तांत तैयार किया है उससे यह दिखलाई पड़ता है कि कई बच्चों की वैयक्तिक विशेषतायें उनके जन्म के बाद एक-दो सप्ताह में ही प्रगट होने लगती हैं और बाद में वैसे ही बनी रहती हैं। इस पर से शर्ले ने जो निष्कर्ष निकाला वह यह है कि व्यक्तित्व के गुणों का सुस्थिर विकास हमारे इस विश्वास को दृढ़ करता है कि व्यक्तित्व का एक न्यूक्लियस जन्म से ही विद्यमान रहता है तथा यह न्यूक्लियस दृढ़ और विकसित होता रहता है, साथ ही साथ यह विभिन्न व्यक्तित्व - गुणों के सापेक्षित महत्त्व को निर्धारित करता है। कुछ परिवर्तन नि:संदेह ही वातावरण के द्वारा लाये जाते हैं। किन्तु यह परिवर्तन व्यक्तित्व के आद्य न्यूक्लियस की सीमाओं से सीमित रहते हैं। *(Thaits are constant enough to make it possible that a nucleus of personality exists at birth and that this nucleus persists and grows and determines to a certain degree the relative inportance of the various traits. Some change is doubtless brought by environmental factors. But this change is limited by the limitations of the original personality nucleus. (Quoted by Boas, P. 385).* कुछ वैज्ञानिकों ने इस प्रक्रिया के इतने शीघ्र प्रगट होने के संबंध में संदेह व्यक्त किया है। उनका यह कहना है कि जन्म के पहले पखवाड़े के बजाय पहले चार महीनों में ही वैयक्तिक विशेषतायें प्रगट होती हैं। शर्ले के पन्द्रह अर्भकों का निरीक्षण नीलन *(Nealon)* ने पन्द्रह साल बीत जाने के बाद किया था। उस समय उनकी अवस्था सत्रह के लगभग थी। उस समय उसे दिखलाई पड़ा कि प्रारंभिक विशेषतायें जैसी की तैसी बनी हुई थी। गेसेल तथा एमिस ने पांच बच्चों का विस्तृत अध्ययन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया था कि इन बच्चों में पहले साल में जो विशेषतायें उपलब्ध हुई वे उनके पांचवें साल में भी जैसी की तैसी विद्यमान थीं। इस सबका निचोड़ यह है कि आयुर्वेद की गर्भकर भावों की कल्पना अनेक प्रमाणों से अच्छी तरह प्रमाणित होने के योग्य है।

इसी के संदर्भ में आजकल जिन्हें व्यक्तित्व के प्रकार *(Personality types)* इन

शब्दों से निर्दिष्ट किया जाता है उन बातों के संबंध में आयुर्वेद के विचारों का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। चरक ने इस बात का सुस्पष्ट विवेचन किया है। इसकी आधुनिक मनोवैज्ञानिक विचारों के साथ तुलना अर्थपूर्ण होगी। चरक कहते हैं - 'स्वार्थेन्द्रियार्थ सङ्कल्प व्यभिचरणात् च अनेकं एकस्मिन् पुरुषे सत्वं, रजस्तमः सत्व गुणा योगाच्च; नच अनेकत्वं, न ह्येक कालं अनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाल सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः (सू. स्था., अ. 8, 5)। मन के विषय तथा इन्द्रियों के विषय और वैसे ही मनुष्य के संकल्प इनमें समय समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। त्रिगुणों के कारण भी विभिन्न प्रकार के मिश्रण बनते रहते हैं। अतः मन एक होते हुए भी अनेक रूप होता हुआ प्रतीत होता है। एक ही समय मन अनेक बातों में नहीं प्रवेश कर सकता अतः वह सब इन्द्रियों की एककालीन प्रवृत्ति का प्रेरक नहीं हो सकता। इतना कह कर आगे चरक बतलाते हैं कि जिस गुण बाहुल्य से युक्त सत्व मनुष्य में पुनः उदित होता है उसके अनुरूप मानसिक प्रकृति का वह मनुष्य समझा जाता है। ('यङ् गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्ततेः सत्वं तत्सत्वमेव उपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् (सू.स्था., अ. 8,6) चरक का यह कथन बोआज की निम्न उक्ति से तुलना करने योग्य है। बोआज कहता है कि "निश्चित ही यह दावा किया जा सकता है कि व्यक्ति को सुस्पष्ट प्रकारों में वर्गीकृत करना असफल हो चुका है, शायद ऐसा भी दावा किया जा सकता है कि इस प्रकार के वर्गीकरण का असफल होना नियत था। इसका कारण मुख्यतया एक प्रेक्षित तथ्य है कि सभी मनोवैज्ञानिक लक्षण अपने वितरण में सामान्य सम्भाव्यता कर्व के सिद्धांत का अनुभवन करते हैं। जहाँ पर एक सोपान से दूसरे सोपान के बीच अधिक विविधता नहीं होती है। प्रत्येक व्यक्ति सोपान के अग्रभाग से नीचे उतरता है, प्रत्येक अवस्था दूसरी अवस्था में विलीन होती है।" *(It can be claimed definitely that all attempts to clasify people into distinct types have failed, perhaps it may even be claimed that they are doomed to fail. This is mainly because of: The observed fact that all psychological characteristics follow in their distribution the principle of the normal probability curve. There is not much of gradual variation from one step to the other. Each individual will fall at a front in a continuous scale, each stage merging into the next)* यहां पाद टिप्पणी में आइसेंक *(Eysenk)* का जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है वह महत्वपूर्ण है। वर्गीकरण सामान्यरूप से करना चाहिये यह आइसेंक का कथन आयुर्वेदीय ही है। एक ही व्यक्ति में भी रूढ़ स्थिरता का अभाव होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मनुष्य एक सक्रिय, अनुप्राणित जीव है। वह अविरत गति से विकसित होता है। व्यक्ति का कमोवेश स्थायी आंतरिक केन्द्र जो कि वास्तविक अनुक्रिया का आधार होता है के अनन्तर हमें प्रयोग हेतु व्यक्ति की वह क्षणिक प्रतिक्रिया ही उपलब्ध होती है जो कि

अनेक कारकों पर निर्भर होती है। *(There is no regid consistency even in the same individual. This is particularly because man is a dynamic living organism. He constantly grows. Inspite of the concept of a more or less permanent inner core his actual behaviour at a particular moment, which alone we test by the tests available, may depend upon so many factors, (Gen. Psy, P. 403).* इस उद्धरण से, बोआस और चरक की भूमिकाओं में कितना साम्य है, यह स्पष्ट हो जाता है।

ऊपर के स्पष्टीकरण के सम्बन्धों में दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। एक यह कि क्या मनुष्य का पूर्व जन्म नहीं होता ? दूसरा यह कि, क्या जीव मानवीय मन के साथ गर्भ रूप धारण करता है या नहीं ? एक और भी प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यदि मानव इतना पूर्वनियत है तो क्या उसके विकास के लिये कोई गुंजाइश नहीं है ? ये प्रश्न उचित ही हैं। मनोमय स्तर के स्पष्टीकरण से इन शंकाओं का निरसन हो जायगा। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह है कि आयुर्वेद की दृष्टि से कार्य-कारण नियम यांत्रिक *(Mechanistic)* न होकर सजीव *(Organic)* हैं। अतएव मनुष्य के संस्कार, शिक्षा, कर्म-स्वातंव्य, बुद्धि सामर्थ्य आदि सभी बातें अर्थ पूर्ण हैं। ये भी सप्रयोजन हैं। अब इन बातों का संक्षिप्त विचार क्रम प्राप्त है।

पहले यह बताया जा चुका है कि आयुर्वेद में 'सत्व' शब्द का प्रयोग दो-तीन सन्दर्भों में आता है: एक पूर्वजन्म के मन में संदर्भ में, दूसरा इस जन्म के मन के और तीसरा, जिसे आजन्मत 'इच्छा शक्ति' कहा जाता है उस इच्छा शक्ति के, सन्दर्भ में। पहले का वर्णन ऊपर आ चुका है। अब दूसरे व तीसरे का विवेचन हम करेंगे। आयुर्वेद में मानसिक व्याधियां तथा उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में जो विचार आया हुआ है उस पर से उसकी एतद्विषयक भूमिका स्पष्ट होती है। चरक, सुश्रुत इन दोनों ने ही मानस व्याधियों में क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, असूया, दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ, इच्छा और द्वेष इन सबका समावेश किया है। इनके सम्बन्ध में मिथ्यायोग, अयोग तथा अतियोग कैसे हुआ करते हैं, यह भी उन्होंने बतलायां है। त्रिविध औषधों में चरक ने 'सत्वावजय: पुनरहितेभ्यो अर्थेभ्यो मनोनिग्रह:' (सू. स्था. अ ११, ५४) यह भी एक औषध या उपाय बतलाया है। त्रिविध बलों में शरीर और मन इनके बलों का निर्देश कर चरक ने मन के प्रवर, मध्य और हीन ये बल प्रकार बतलाये हैं। इनमें जिसे इच्छा शक्ति *(Will Power)* कहा जाता है उसका स्पष्ट निर्देश है। इसी अर्थ में 'इच्छा' शब्द चरक ने प्रयुक्त किया है। दुर्निग्रह मन का नियन्त्रण करने वाला, मन का जो सारभूत अंश है वही 'सत्व' है। इसे फ्रायड के शब्दों में सुपर इगो *(Super ego)* भी कह सकते हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मन *(Munn)* ने अपने मनोविज्ञान कोष में इच्छा शक्ति *(Will Power)* का स्पष्टीकरण अधोनिर्दिष्ट प्रकार से किया है : अवरोधों या अपकर्षक प्रभावों

के अनन्तर भी कुछ व्यवहार के नियम सुस्थिर रहते हैं जो कि कठिन चयन के निर्णय में भी अभिव्यक्त होते हैं। *(Inferred from persistence in following out some laws of activity despite barriers or distracting influences and also from decisiveness in making difficult choices)* इस स्पष्टीकरण के साथ सुश्रुत के एतत्सम्बन्धी प्रतिपादन की तुलना कीजिये। सुश्रुत कहते हैं - 'सत्वंतु व्यसनाभ्युदय क्रियादि स्थानेषु अविक्लवकरम्' (सू. स्था. अ. 15, 37)। आपत्तियों में अविचलित रहना, अभ्युदय के प्रसंग में आपे से बाहर न हो जाना, इन्हीं बातों को सुश्रुत ने 'सत्व' संज्ञा दी है। इस कथन के समर्थनार्थ वे यह श्लोक लिखते हैं: 'सत्ववान् सहते सर्वे संस्तभ्यात्मानमात्मना। राजस: स्तभ्यमानोऽन्यै: सहते नैवतामस: ॥' तात्पर्य यह है कि आत्मसंयम के द्वारा सत्ववान् मनुष्य सब कुछ सहता है, राजस दूसरों के साथ सहिष्णुता बरतता है और तामस किसी भी अवस्था में सहनशीलता नहीं बरत पाता। मनुष्य का सत्व त्रिगुणान्तर्गत सत्व के द्वारा मुख्यत: बनता है, यह सभी भारतीय दर्शनों का कथन है। इसका कारण यह है कि संश्लेषण *(Synthesis)* या हार्मनी *(Harmony)* या समग्रता *(Integration)* ये सब बातें सत्वगुण के द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। जिस बात को आजकल करेक्टर *(character)* के नाम से पुकारा जाता है वह सत्व ही है। कहीं कहीं आयुर्वेद में इसे 'शील' भी कहा गया है (द्रष्टव्य: 'शील प्रकृति', 'शील विकृति' प्रयोग सुश्रुत सू. स्था. अ. 36-37)। यह शील बनाने में इच्छा शक्ति *(Will Power)* का बहुत बड़ा हाथ होता है, यह मैक्डूगल ने अच्छी तरह दिखलाया है। मैक्डूगल की करेक्टर *(Character)* की व्याख्या तथा आयुर्वेद की एतत्सम्बन्धी व्याख्या तुलनार्ह है। मैक्डूगल कहता है कि "स्वभाविक प्रवृत्तियां संगठित व्यक्तित्व के निर्माण में मुख्य कच्ची सामग्री का कार्य करती हैं। इस संगठन की प्रक्रिया के दो धरातल हैं। प्रथम अवस्था प्रतिज्ञप्तियों का निर्माण है तथा दूसरी अवस्था भावनाओं का सुसंगत सहयोगपूर्ण व्यवस्था के रूप में परिवर्तन है। इस प्रकार की भावनाओं (सेंटीमेंट्स) का व्यवस्थापन ही व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व का बल, किसी व्यवस्था में सुसंगतता एवं समग्रता की मात्रा पर निर्भर करता है।" *(The nature propensities are the chief part of the raw material wnich becomes organised form character. The process of organisation is of two stages. The first stage in the formation of the statements. The second stage is the building of sentiments into a harmoniously cooperating system. Such a system of sentiments is character. The strength of character is a matter of the degree of harmony and integration attained by the system, and perhaps also of the degree to which the whole organisation is solidified by exercise (Energies of man, 188.)* । सुश्रुत ने सत्वसार मनुष्य का जो लक्षण बतलाया है वह इस प्रकार है : स्मृति, भक्ति, प्रज्ञा, शौर्य, शौचोपेत, कल्याणभिनिवेश सत्वसारं विद्यात्' (सू. स्था.

अ. 35. 36)। चरक का लक्षण इस प्रकार है: स्मृतिमन्तौ भक्तिमन्त: कृतज्ञा: प्राज्ञा: शुचयोमहोत्साहा: दक्षा: धीरा: समरविक्रान्तयोधिन: त्यक्त विषादा: सुव्यवस्थित गति गम्भीर बुद्धि चेष्टा: कल्याणनिभिनिवेशिनश्च सत्वसारा: (वि. स्था. अ. 8-110)। इन दोनों आयुर्वेद विदों के मत में कितना साम्य है। इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सुसंगतरूप से विकसित व्यक्तित्त्व *(Harmoniously developed personality)* के ही वर्णन यहां दिये गये हैं और चरित्र (Character) इस व्यक्तित्त्व *(Personality)* का ही मुख्य अंग है।

अनुभव, अभ्यास, संस्कार तथा शिक्षा इनका सत्व के साथ कैसे सम्बन्ध है तथा इनके साथ वंश परम्परा और पूर्व जन्म का भी कितना महत्व है, ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं। मैक्डूगल भी इन बातों का महत्व स्वीकार करता है। इस पर से यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेदीय मनोविज्ञान *(Hormic)* है।

अब तक हमने सामान्यरूप से मनोविज्ञान के अंतर्गत भावनात्मक तथा इच्छात्मक प्रश्नों का विचार किया है। अब बौद्धिक पक्ष का विचार प्रस्तुत है। लेख के प्रारंभ में उद्धृत सुश्रुत वचन में बुद्धि, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय, तथा इनके सजातीय शब्दों का स्पष्टीकरण अब करना चाहिये। आयुर्वेदीय वाङ्मय में बुद्धि शब्द के साथ ही मेघा, प्रज्ञा इत्यादि शब्द भी प्रयुक्त हैं। इन सभी शब्दों की अर्थच्छटायें विभिन्न हैं, यह याद रखना चाहिये। आयुर्वेदीय रसायनतंत्र में, याने आज जिसे *'Rejuvenation'* कहा जाता है उसमें 'मेघा' शब्द 'स्मृति' शब्द के साथ प्राय: प्रयुक्त होता है। आयुर्वेद के इस योग में मनुष्य को दीर्घायुष्य कैसे प्राप्त हो सकता है इस बात का विचार किया गया है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि दीर्घायुष्य नीरोग ही होना चाहिये। आज अमेरिका के जैसी कुबेर सृष्टि के देश में मनुष्य दीर्घायुषी होते हुए भी नीरोगी नहीं है। इसी कारण पारिवारिक, सांस्कृतिक, राजकीय, बौद्धिक, मानसिक, आयुर्वेदिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में वहां कोलाहल मचा हुआ है। राष्ट्र की आयु पर इस स्थिति का क्या प्रभाव वहां पड़ता है यह इ.व्ही. स्टीग्लिथ (*E.V. Stieglith*) महोदय ने (*Encyclopedia Britanncia. Vol. Io, Genontology and Gesiatrics. P 313*) अपने लेख में अच्छी तरह दर्शाया है। आरोग्य युक्त दीर्घायुष्य के शारीरिक चिह्न तारूण्यया मध्यम अवस्था के ही हो सकते हैं। भावनात्मक अथवा मानसिक चिह्न भी समझने लायक हैं। बौद्धिक चिह्नों या लक्षणों में (*creative thinking*) या सृजनशील विचार, (*creative thinking*) और स्मृति याने '*Remembering*' इनका अन्तर्भाव करना आवश्यक है। (अर्भकों के विकासार्थ कौन कौन से औषधि द्रव्य अत्युत्कृष्ट हैं यह बतलाकर उनका परिणाम 'कुमाराणां' वपुर्मेधा बल बुद्धि विवर्द्धना:' ऐसा सुश्रुत प्रतिपादन करते हैं। मेधा और बुद्धि शब्दों का प्रयोग यहां जो किया गया है वह भी

विचारार्ह है। 'प्रज्ञा' यह शब्द चरकसंहिता में अनेक बार आता है। सुश्रुतसंहिता में वह कहीं कहीं आता है। 'मेधा' शब्द की जैसे स्पष्ट व्याख्या नहीं है वैसे ही 'प्रज्ञा' शब्द की भी व्याख्या उपलब्ध नहीं है। धात्वर्थ और संदर्भ इनकी मदद से ही इन शब्दों के अर्थ निर्धारित किये जाने चाहियें। रोगों के प्रमुख कारणों में चरक ने 'प्रज्ञापराध' का वारंवार उल्लेख किया है। एक प्रसंग में इस विषय की विस्तृत चर्चा करते समय उसने संक्षेप में 'प्रज्ञापराध' का वर्णन किया है। वह यह है - 'बुद्ध्या विषम विज्ञान विषम प्रवर्तनम्। प्रज्ञापराध जानीयात मनसो गोचरं हि तंत्' (शा., स्था. अ. 1, 107)। विषम याने कभी अधिक तो कभी कम ऐसा विज्ञान और वैसा ही आचरण यह प्रज्ञापराध का लक्षण चरक बतलाता है। इसके पहले के ही श्लोक में 'प्रज्ञापराध' का निचोड़ 'रजोमोहसमुत्थितम' इस वाक्य के द्वारा उपस्थित किया गया है। प्रज्ञा माने संतुलित बुद्धि या सात्विक बुद्धि। 'समं बुद्धिहि पश्यति' ऐसा चरक कहता ही है। ऐसी संतुलित बुद्धि उत्पन्न होने के लिये उसका रजस्तमोविरहित याने निर्मल, होना आवश्यक है। रजोगुण और तमोगुण किन मनोवृत्तियों को उत्पन्न करते हैं यह सांख्ययोग के आधार पर आयुर्वेद ने भी बतलाया है। उत्तम तथा विमत मनोवृत्तियों के द्वारा जो बुद्धि तुष्ट होती है वही प्रज्ञा है। इस संदर्भ में गीता के दूसरे अध्याय में प्रज्ञा के वर्णन पर जो श्लोक हैं उनकी याद आती है। उपर्युक्त कथन के साथ मैक्डूगल का निम्न प्रतिपादन तुलनार्ह है - प्रत्येक बौद्धिक विकास एवं एकांत निष्फल है जब तक कि वह बड़े ही संगठित चरित्र के साथ न जुड़ा हो। *(All intellectual development and retirement is unavailling unless accompanied by the growth of well knit or highly integrated character (Energies of Man. P. 305)*। चरक और सुश्रुत इन दोनों ने ही सत्वसार पुरुष के लक्षणों में 'प्रज्ञा' का समावेश किया है। इस पर से आधुनिक तथा प्राचीन मत के विस्मयकारी साम्य का प्रत्यय आये बिना नहीं रहेगा।

उपर्युक्त विवेचन पर से, बुद्धि में कौन कौन सी बातें समाविष्ट हैं, यह स्पष्ट हो जायगा। अब कुछ और शब्दों का विचार करेंगे। 'बुद्धि' शब्द *'Intellect'* तथा *'Intelligence'* इन दोनों अर्थों में आयुर्वेद और अन्य भारतीय विद्याओं में प्रयुक्त हुआ है। *'Intelligence'* की व्याख्या करने में आधुनिक मानस शास्त्रियों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ा है, यह जानकार लोगों को अज्ञात नहीं है। *'Intelligence'* का विशेष अध्ययन मनोविज्ञान की फेक्टर एनॉलिसिस (*Factor Analysis*) शाखा में किया जाता है। स्पियरमन की दो कारकों का सिद्धांत (*two-factor theory*) विश्रुत ही है। बुद्धि लब्ध्यंक (*I.Q.*) प्रारंभ में जितना उपयुक्त प्रतीत हुआ उतना वास्तव में उपयुक्त वह नहीं था। बुद्धिमत्ता का स्वरूप उस पर से पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो सकता तथा बच्चों का बौद्धिक विकास का विश्वासार्ह ज्ञान उसके द्वारा प्राप्त नहीं होता, ये बातें अब सूर्य

प्रकाश के जितनी स्पष्ट हो गयी हैं द्र. (*Science Digest, Dec. 1961*) ।' बुद्धि लब्ध्यंक से जिसका निर्धारण किया जा सकता है वही बुद्धि है' (*.......The only definition of intelligence I can get out of the psychologists is that quality which is measured by intelligence tests,)* ऐसा साइंस डाइजेस्ट में एक जानकार ने लिखा है ।) ऐसी निराकार परिभाषायें छोड़ भी दी जायें तो भी एक बात तो अब स्पष्ट हो गयी है कि बुद्धिमत्ता यह एक एकरूप वस्तु न होकर अनेक घटकों से बनी हुई वस्तु है । मन (*Munn*) ने *Intelligence* की जो यह परिभाषा प्रस्तुत की है वह कामचलाऊ है । इस दृष्टि से 'प्रज्ञा' यह भारतीय शब्द अधिक उपयुक्त है । चरक की प्रज्ञापराध की कल्पना पर से प्रज्ञा का लक्षण 'सम विज्ञानं' या 'सम प्रवर्तन करने वाली बुद्धि' ऐसा किया जा सकता है । (इसमें स्पियरमन की दो कारकों का सिद्धांत (*Two fector theory*) तथा थर्स्टर्न की प्राथमिक मानसिक क्षमतायें (*Primary mental abilities*) का अंतर्भाव सामान्यतया हो जाता है ।)

इसी संदर्भ में 'विज्ञान' शब्द के अर्थ का विचार करना प्रस्तुत होगा । भागवत पुराण के एकादश स्कंध में बुद्धि के कार्य के वर्णन के प्रसंग में /बुद्धेर्विज्ञान शक्तिता' ऐसा कहा गया है । आयुर्वेद ने स्थान-स्थान पर रोगनिदान, रोग चिकित्सा इत्यादि प्रसंगों में 'विज्ञान' शब्द का जो प्रयोग किया है उससे प्रतीत होता है कि स्पियरमन ने जिस संबंध में कहा है कि संज्ञानात्मक प्रक्रिया एक ही व्यक्ति के प्रत्ययों एवं वस्तुओं के बीच विभिन्न संबंधों के उन्नयन की क्षमता पर निर्भर करती है । जब किसी चरित्र को किसी संबंध या चयनित चरित्र के साथ-साथ प्रस्तुत किया जाता है; यह प्रक्रिया तुरंत ही सह सम्बन्धित चरित्र का ज्ञान जागृत करती है । *(cognitive process depends on one's capacity to educe various relations between ideas or objects when presented)* ऐसा कहता है, और इसी प्रकार *"The presenting of any character togather with any relation or selective character tends to evoke immidaitely a knowing of the correlative character"* ऐसा भी कहता है, वह सब 'विज्ञान' इस आयुर्वेदीय शब्द में समाविष्ट है । मानवीय बुद्धि के इस विशिष्ट प्रकार के सामर्थ्य में से ही शास्त्रों का उद्गम तथा विकास हुआ करता है । 'विचारणा' यह शब्द जो सुश्रुत ने प्रयोग किया है उसमें *'Reasoning'* इस अंग्रेजी शब्द की अर्थच्छटा विद्यमान है । इसमें प्रत्यय कर्म एवं कौशल (*Ideational working and manipulation*) का भी समावेश है । आयुर्वेद में न्याय-वैशेषिकों का तथा उनके जैसा तर्क विवेचन जो प्रस्तुत है वह 'विचारणान्तर्गत ही है । इस शब्द के साथ ही सुश्रुत ने 'स्मृति' शब्द का प्रयोग किया है । उसका विचार करने के पूर्व 'अध्वसाय' शब्द से आयुर्वेद को क्या अर्थ अभिप्रेत है यह जान लेना उपयुक्त होगा । 'अध्यवसाय', याने निश्चय, यह प्रत्यक्ष परक स्तर (*Perceptual level*) पर जैसे दिखलाई पड़ता है वैसे ही बौद्धिक स्तर (*Intellectual*

level) पर भी दिखलाई पड़ता है। चरक ने मन और बुद्धि इनके कार्य-भेद का वर्णन करते हुए *Perceptual level* के अध्यवसाय का इस प्रकार वर्णन किया है। मन की सहायता से इन्द्रियां अपने अपने विषय ग्रहण करती हैं, यह कथन करके वह बतलाता है - 'जायते विषये तत्र या बुद्धि निश्चयात्मिका। व्यवस्थापितया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धि पूर्वकम्॥' (सू. स्था. अ. 1, 23) प्रत्यक्ष आचरण से अध्यवसाय का संबंध होता है, यह बात इस श्लोक से स्पष्ट हो जाती है। जानबूझ कर और निश्चयपूर्वक ही आचरण घटित होता है यह चरक का कथन है; यही बात बौद्धिक स्तर (*Intellectual level*) के अध्यवसाय की है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का यहां उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। गेस्टाल्ट पर्सेप्शन याने सन्निकर्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान, और *leaming* याने अवबोध इनके संबंध में सामग्रय के तत्व का पुरस्कार करता है। इस प्रक्रिया से अंतर्दृष्टि '*Insight*' का बहुत घनिष्ठ संबंध वह मानता है। '*From whole to parts* तथा *'From above to downwards'* यह गेस्टाल्ट की विचार प्रणाली का मूल सूत्र है। इन्द्रिय व्यापार और बौद्धिक व्यापार इन दोनों में ही यह सूत्र लागू होता है। सुप्रसिद्ध गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिक वर्थाइमर ने आईंस्टान के सापेक्षता सिद्धान्त की मूलभूत ज्ञान प्रक्रिया का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया उस पर से यह स्पष्टतया दिखला दिया है। सर्जनात्मक विचार (*Productive thinking*) में प्रयत्न और भूल का सिद्धांत (*trial and error*) विद्यमान न होकर अध्यवसाय ही विद्यमान हुआ करता है। अध्यवसाय का मतलब है '*Resolute understanding*'; उसमें उद्देश्य की दृढ़ता, अहंभाव (*Ego sense*) की जाग्रतता और व्यवहार संबंधी परिवेश (*Behavioural Environment*) की स्पष्टता ये बातें समाविष्ट होती हैं। गीता का 'व्यवसायात्मिका बुद्धि एकैह कुरु नंदन। बहुशाखा ह्यन्ताश्च वुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' यह श्लोक इस संदर्भ में हठात् हमें याद आता है। अंग्रेज़ी में यह बात इस तरह प्रस्तुत की जा सकती है - *'An activity to solve problems by means of insight and understanding and to effect the solution implicitly before its overt execution.'*

अब हम 'स्मृति रूप' मनोव्यापार की ओर अग्रसर होंगे। चरक ने 'दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते' (सू. स्था., अ. 2, 146) ऐसी व्याख्या की है। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञात तथा शास्त्रों के द्वारा प्रतीत तथा अनूभूत बातें याद करना, याने कारण पर से कार्य का स्मरण, 'रूपग्रहण' याने एक आकार पर से दूसरे सदृश आकार का स्मरण, 'सादृश्य ग्रहण' - इसमें रूप ग्रहण व्यतिरिक्त बातों का ही समावेश करना चाहिये - सविपर्यय यानें विरोधी बातों पर से स्मरण, 'सत्वानुबंध' याने एकाग्रतापूर्वक ध्यान से स्मरण, 'अभ्यास' अर्थात् पुन: पुन: एक ही बात के करने से होने वाला स्मरण, 'ज्ञानयोग' याने अंतर्ज्ञान से स्मरण; 'पुन:श्रुत' याने भूली हुई बातों के आकस्मिक श्रवण

से होने वाला स्मरण, ऐसे स्मरण के आठ प्रकार हैं। इस पर से यह दिखलाई पड़ेगा कि '*memory*' की अपेक्षया 'स्मृति' यह शब्द अयुर्वेदीय मनोविज्ञान में अधिक व्यापक अर्थ से प्रयुक्त हुआ है। मन की अनेक वृत्तियां स्मृति में समाविष्ट रहती हैं, ऐसा आयुर्वेद का कथन है। जागृति के अर्थ में भी 'स्मृति' का प्रयोग होता है। *Recall, Retention, Recognition, Reproduction, Reminiscence* इत्यादि निर्दिष्ट शब्दों के विभिन्न अर्थों के सिवा अन्य अर्थ भी 'स्मृति' शब्द में अंतर्भूत हैं। मेमोरी (*Memory*) के अर्थ के संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों में काफी मतभेद हैं। वर्गसां प्रभूति विद्वानों की एतत्संबंधी भूमिका आयुर्वेद से मिलती जुलती है। मनस्तत्व की स्वतंत्रता तथा उसके मरणोत्तर अस्तित्व की संभावना का जिन जिन विचारकों ने पुरस्कार किया है उन सब की प्राय: आयुर्वेद जैसी ही भूमिका है।

स्मृति पर से अब स्वभावत: हमें स्वप्न की ओर बढ़ना होगा। अत: उसका विचार न कर अवशिष्ट विचार्य अंश की ओर हम दृष्टिपात करेंगे। आयुर्वेद ने स्वप्न के सात प्रकार बतलाये हैं। दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भाविक तथा दोषज ये सात प्रकार हैं। चाक्षुष और श्रौत अनुभव तथा तद्व्यतिरिक्त इन्द्रियों तथा मन का अनुभव, मन ने जो अपेक्षा की हो वह तथा मन ने जो कल्पना की हो वह ये दोनों ही स्वप्न के कारण हुआ करते हैं। भाविक, अर्थात् भावी घटनाओं का वर्तमान कालिक ज्ञान देने वाला स्वप्न। ऐसे स्वप्न हो सकते हैं यह बात अब पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी मानने लगे हैं। इस संबंध में जे. बी. हाइन की पत्नी का उद्योग प्रशंसनीय है। उसने ऐसे चार हज़ार से अधिक स्वप्नों का संकलन किया है। दोषज्ञ स्वप्न वे हैं जो शरीर द्रव्यों के सन्निवेश में घटित होने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं के जरिये रोग-निदान संभव होता है। रोगों के पूर्वरूप में, उपद्रव की अवस्था में, अरिष्ट लक्षणों में तथा अन्यत्र ऐसे स्वप्नों का आयुर्वेद में निर्देश आता है। वैसे ही मनुष्य की वातात्मक, पित्तात्मक, कल्पनात्मक प्रकृतियों में भी ऐसे स्वप्नों का निर्देश आता है। यह आयुर्वेद का वर्गीकरण इतना व्यापक है कि उसमें फ्रायड, युंग आदि की स्वप्नमीमांसा अंतर्भूत हो जाती है। 'मनोऽभिघात' से मानस रोग होते हैं, यह नि:संदिग्ध रूप से प्रतिपादन करने वाले आयुर्वेद को फ्रायड, युंग आदि की बातें सर्वथा अभिनव प्रतीत होने का कोई कारण नहीं है। (सुश्रुत ने कुमारों के बारे में ऐसा कहा है कि 'नित्यं च एनं अनुवर्तेत प्रियशतै: अजिघांसु एवं अनभिहतमना: तु अभिवर्धते नित्यं उदग्रसत्व संपन्नो नीरोग: सुप्रसन्न मनाश्च भवति)' आधुनिक मनोविश्लेषण इससे अधिक क्या कहता है ? केवल इतनी ही बात है कि आयुर्वेद ने इन बातों का विस्तार नहीं किया है। इसका कारण भी स्पष्ट है, आयुर्वेद ने दोषज स्वप्नों का चिकित्सा के लिए ही विचार किया है। वहीं उनका क्षेत्र है। इतर स्वप्नों का विचार 'स्वाध्याय विद' किया करते हैं। उनका स्वतंत्र शास्त्र है।

अत: उसमें प्रवेश करने की विशेष आवश्यकता नहीं, ऐसी आयुर्वेद के जानकारों की धारणा मालूम पड़ती है।

अब तक सुश्रुत के पूर्वोक्त वचन के अंतर्गत प्राय: सभी शब्दों का विचार किया गया। केवल एक ही शब्द रह गया है, वह है संकल्प। 'मन' इस शब्द में सभी भावनायें-जिनके लिए हृदय शब्द का प्रयोग किया जाता है - अर्थरूप से समाविष्ट हैं। उसी प्रकार चिंतन, मनन, निदिध्यासन, कल्पना इत्यादि अर्थ भी उसमें आते हैं। तब ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि 'संकल्प' यह अलग शब्द सुश्रुत ने क्यों कर प्रयोग में लाया ? मन संकल्प-विकल्पात्मक होता है, यह तो सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। तब इस स्वतंत्र शब्द का औचित्य ही क्या है ?

मेरे विचार से इस शब्द के द्वारा मानवीय व्यक्ति के संबंध में भारतीय विचारकों की जो विशेष धारणा है वह प्रगट होती है। जिस कर्म पुरुष के गुण सुश्रुत ने बतलाये हैं उसका 'कर्म' चरक के कथनानुसार (कर्म वाङ्मत: शरीर प्रवृत्ति:-सू. स्था., अ. 11, 34) वाणी, मन तथा शरीर इनकी एकाभिमुख प्रवृत्ति में से उद्भूत होता है वही कर्म संकल्प है। अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग इनके कारण शरीर तथा मन के कैसे कैसे रोग पैदा होते हैं यह आयुर्वेद में बतलाया है। उसी प्रकार वाणी के बारे में बतलाया है। चरक कहता है - 'सूचका नृताकाल कलहाप्रिया बद्धा उपचार पुरुष वचनादिर्वाङ् मिथ्यायोग:' (सू. स्था. अ. 11, 37)। जिसे आजकल '*Intelligence*' कहते हैं उसके विकास के बारे में मनुष्य की वाक् प्रवृत्ति कितनी महत्वपूर्ण है इसका ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को भी है। बुद्धिमत्ता के निर्धारण में *Verbal capacity* का कितना बड़ा हाथ है यह तो सभी लोग जानते हैं। लेकिन वाक् प्रवृत्ति आयुर्वेद की दृष्टि में काफी महत्वपूर्ण है। आधुनिक शास्त्रज्ञों को इस महत्व को ठीक पता लगा है, ऐसा नहीं प्रतीत होता। अर्थात् सामान्यतया भारतीय शास्त्रों की वाणी के विषय में जो भूमिका है वही आयुर्वेद की भी है यह बतलाने की जरूरत नहीं। आयुर्वेद की दृष्टि से प्राणतत्व पंचधा विभक्त है, पंचीकरण की प्रक्रिया के द्वारा। उसमें उदान वायु यह तेजस तत्वात्मक है। उसकी गति ऊर्ध्व होती है। सुश्रुत ने कहा भी है 'उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तम'। उसका 'नासानाभिगलांश्चचरेत्' ऐसा संचार बतलाया है। उसका 'कर्म वाक् प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जा बलवर्ण स्मृतिक्रिया' (वाग्भट)। प्रवर्तन, प्रयत्न (*Striving*), ऊर्जा (तेजस्विता), बल, वर्ण चर्म का रंग, स्मृति ये सब वाणी की क्रियायें हैं। आधुनिक शास्त्रों के प्रकाश में इन पंक्तियों का विचार हमें चकित कर देगा। वाक् प्रवृत्ति में सभी *speech mechanism* अंतर्निहित है। उसी में तेजस्विता और बल याने कर्मसामर्थ्य (*Vitality*) भी अंतर्भूत हैं। शरीर के वर्ण का गलग्रंथी (*thyroid*) से कैसे घनिष्ठ संबंध होता है यह आधुनिक शास्त्र बतलाते ही हैं। उसी प्रकार बुद्धिमत्ता तथा स्मृति इनके साथ इस ग्रंथी का कैसा

संबंध है, यह भी ये शास्त्र बतलाते हैं। प्रस्तुत विषय की पोषक जो बात इस पर से निकलती है वह यह है कि बुद्धि, स्मृति एवं वाक् (*Intelligence, Memory* और *Speech*) ये सब एक दूसरे के साथ मिलकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास संपन्न करते हैं।

अब यहां पुन: हम आधुनिक मनोवैज्ञानिक संप्रदायों की कुछ बातों का विचार करें। डॉ. वाट्सन ने अपने व्यवहार (*Behaviour*) की व्याख्या में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वैचारिक प्रक्रिया शारीरिक प्रक्रियायें ही हुआ करती हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिये उसने अंतर्निहित गतियों (*Implicit movements*) की कल्पना का आविष्कार किया है। कंठ, मुख, जिह्वा, हाथ इन सब की क्रियायें ही विचार की प्रक्रिया है। प्राणतत्व, मनस्तत्व तथा बुद्धितत्व इन सब का परित्याग कर देने वाले उक्त संप्रदाय ने ही यद्यपि उपर्युक्त प्रतिपादन किया है तो भी उसके द्वारा जिन बातों पर प्रकाश पड़ता है वे काफी महत्वपूर्ण हैं। विचार प्रक्रिया का वाक् प्रवृत्ति के साथ तथा उसी प्रकार शरीर प्रवृत्तियों के साथ घनिष्ठ संबंध कैसे है और चरक के कहे मुताबिक 'कर्म वाङ्मन: शरीर प्रवृत्ति' यह असलियत कैसे है, यह बात अनायास ध्यान में आ जाती है।

अब यहां हम एक दूसरे मनोवैज्ञानिक संप्रदाय का इसी प्रसंग में पर्यवेक्षण कर देखें। कोहलर ने बंदरों पर जो प्रयोग किये उन पर से यह सिद्ध हुआ है कि हथियारों के निर्माण तथा प्रयोग की प्रवृत्ति मनुष्य के समान ही बंदरों में भी दिखलाई पड़ती है। तब बंदरों और मनुष्यों में भेद कैसे हुआ ? इस पर कोहलर कहता है कि बंदरों की काल विषयक कल्पना मनुष्य की काल कल्पना की तुलना में अतीव संकुचित हुआ करती है। कोहलर के प्रयोगों तथा इतर सबूतों का आधार लेकर लेस्सी व्हाईट नामक अमेरीकी नृतत्व शास्त्रज्ञ ने इस संबंध में कुछ विवेचन प्रस्तुत किया है। वह काफी उद्बोधक है। उसने ऐसा दिखलाया है कि मनुष्य की काल-कल्पना दीर्घ होने का कारण उसकी मन: प्रक्रिया में सातत्य (*Continuity*) है और वह सातत्य, मनुष्य में शब्दात्मक संकेत निर्माण करने का जो नैसर्गिक सामर्थ्य है उसके कारण उत्पन्न होता है। (*It was the introduction of symbols, word formed symbols, into the tool process that transformed anthropoid tool-behaviour into human behaviour. P. 45)* । तात्पर्य यह है कि मनुष्य के इतर प्राणियों से भिन्न तथा श्रेष्ठ होने का कारण उसमें विद्यमान संकल्प शक्ति ही है। क्रिया शक्ति, वाक् शक्ति इनका एकरूप संमिश्रण ही मनुष्य है। क्रिया शक्ति का मूल मनुष्य का अहंभाव है। 'अहं' शब्द की माठराचार्य ने अपनी सांख्याकारिका वृत्ति में जो उपपत्ति बतलायी है वह विचारार्ह है, वे कहते हैं - 'चतुषष्टिवर्णै: पदादि वैखरी पर्यन्ताभिधेयै: यत्किमपि अभिधीयते बुद्धया समर्थ्य तत्सकलमाद्यन्ताकार हकार वर्ण द्वयेन उपरिस्थित पिण्डीकृतानुकारिणा बिन्दुना भूषित:

प्रत्याहारन्यायेन अहंकार इत्यभिधीयते ।' आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य का इस पार्श्व भूमि से विचार नहीं करता । यही आयुर्वेदीय तथा आधुनिक मनोविज्ञानों का मूलभूत भेद है । अंत में आयुर्वेदीय मनोविज्ञान के एक महत्वपूर्ण अंग की चर्चा कर इस विषय का उपसंहार हम करेंगे । यह अंग वस्तुत: इतर भारतीय दर्शनों में से ही आयुर्वेद में आया हुआ है । चरक ने कहा है कि रज और तम निकल जाने पर अगर मनुष्य का मन स्वच्छ हो जाय और मनुष्य समाधि का अभ्यास करे तो उसमें अष्टविध सामर्थ्य उत्पन्न होता है । दूसरों में प्रवेश करना (आवेश्म), दूसरों के चित्त का ज्ञान (चेतसोज्ञान), इन्द्रियार्थों का इच्छानुसार उत्पादन करने का सामर्थ्य (अर्थानां छन्दत: क्रिया), अतीन्द्रिय दर्शन (दृष्टि:), अतीन्द्रिय श्रवण (श्रोतं), सब बातों के तत्व का स्मरण (स्मृति),अलौकिक कान्ति (कान्ति:),और इच्छानुसार दृश्य या अदृश्य होना (इष्टतश्चाप्यदर्शनम्) ऐसे आठ प्रकार के सामर्थ्य ऐसे समर्थ मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, ऐसा चरक कहता है । ये मनुष्य के अपने सामर्थ्य के द्वारा संपादित सिद्धियां हैं । रूग्णावस्था में भी इनमें से कुछ बातों के अनुभव प्राप्त होते हैं । रोग अपने सामर्थ्य से ये अनुभव प्राप्त कराता है । चरक कहता है - 'अन्तरेण त्वपस्तीव्रं योगंवा विधिपूर्वकम् । इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ इन्द्रियाणामृते दृष्टे इन्द्रियार्थानदोषजान् । नर: पश्यति य: कश्चित् इन्द्रियैर्न स जीवति ॥ (सू. अ. 5, 24-25) । विधिपूर्वक योगाभ्यास न करके ही मनुष्य को यदि अतीन्द्रिय अनुभव प्राप्त हों तो वह मृत्यु के सन्निकट है ऐसा समझना चाहिये, यह आयुर्वेद का प्रतिपादन मनुष्य जीवन के एक बिलकुल नये पहलू पर प्रकाश डालता है । विकृत और अविकृत ऐसी दोनों अवस्थाओं में मनुष्य को जो अतीन्द्रिय अनुभव प्राप्त होते हैं उनका आधुनिक पद्धतियों से निर्धारण करना कठिन ही है । (क्योंकि ये शारीरिक तंत्र तथा दृष्यों के अतीव निकटवर्ती हुआ करते हैं) । यह कार्य कितना कठिन है यह शास्त्रज्ञ लोग जानते ही हैं । (द्रष्टव्य - *Emotions and Bodily changes, by Flaneers Dunbar*) डॉ. अलेक्सिल कस्टेल के अनुसार बुद्धि के व्यापार शारीरिक व्यापार के रूप में अत्यल्प ही प्रगट होते हैं । बुद्धि से भी सूक्ष्म जो अतीन्द्रिय अनुभव हैं वे तो बुद्धि से अलग ही मनुष्य के अन्तर में प्रगट होते हैं । अब उनका निर्धारण करना बड़ा कठिन है । जितनी ही आंतरिक कोई बात होती है उतनी ही उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति कम होती जाती है । परा मनोविज्ञान के संबंध में यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये ।

यहां तक आयुर्वेदीय मनोविज्ञान की रूपरेखा तुलनात्मक पद्धति से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है । मनुष्य अनेक पहलुओं वाला प्राणी है । इसी कारण मनोविज्ञान की अनेक शाखायें विकसित हुई हैं । मनुष्य का संपूर्ण ज्ञान इन सब के एकीकरण से ही प्राप्य है । वीर्य-विपाक संबंधी विवाद के प्रसंग में सुश्रुत ने ऐसा उपसंहार किया है कि 'पृथकतया देखने वाले की दृष्टि से ही विभिन्न मतों का उल्लेख किया गया है लेकिन समझदार लोग तो संकल्प के साथ ही सब बातों का विचार किया

करते हैं।' 'पृथक्त्व दर्शिनां एवं वदितां वादसंग्रहः। चतुर्णामपि सम्यग्यं इच्छंत्येव विपश्चितः ॥)' मनोविज्ञान के बारे में भी यही कहा जा सकता है। अपने ग्रंथ के अंत में प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वुडवर्थ इस बात से मिलती जुलती ही बात लिखता है। वह कहता है -

"भावी मनोविज्ञान कैसा होगा इसकी कल्पना पाश्चात्य विद्वान शायद न कर सकें। लेकिन विधि रूप से जो बातें बतलायी हैं उन्हें ही सिर्फ ग्राह्य मान लिया जाय" यह वुडवर्थ का कथन अतीव महत्वपूर्ण है। इस पर से हम भावी मनोविज्ञान का निम्न निर्दिष्ट चित्र अपने मन के सामने ला सकते हैं -

'शरीरेन्द्रिय सत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
संत्वंमात्मी शरीरंच त्रयमेतत् त्रिदंडवत्।
लोकस्तिष्ठनि संयोगात् तत्र सर्वे प्रतिष्ठितम्'।

मनुष्य जीवन यह शरीर, इन्द्रियां, मन तथा आत्मा इनके संयोग पर ही अधिष्ठित है। ये एक-दूसरे से अविभाज्य हैं। एक के बिना दूसरा व्यर्थ है। इस संयोग पर ही विश्व अधिष्ठित है।

---

* *मूल मराठी लेख में आवश्यकतानुसार परिवर्तन अनुवाद की सुविधा के लिए किये गये हैं। मूल लेख का भाव कहीं बदला नहीं गया है।*

* *पुस्तक के मूल संस्करण में उद्धरण केवल अंग्रेजी भाषा में थे, लेकिन इस नवीन संस्करण में हिन्दी के पाठकों को ध्यान में रखते हुये मूल अंग्रेजी उद्धरणों का हिन्दी में अनुवाद कर दिया गया है।*

संपादक

3

योगवासिष्ठ के अनुसार मन का स्वरूप, शक्तियां और निरोध

भीखनलाल आत्रेय

योगवासिष्ठ संस्कृत भाषा में एक बहुत उच्चकोटि का दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ है। यह कब लिखा गया होगा, किसने लिखा होगा, इस पर बहुत मतभेद है। भारतीय परम्परा के अनुसार और ग्रन्थ के कथनानुसार इसमें गुरु वसिष्ठ द्वारा अयोध्या के युवराज रामचन्द्र को दी हुई शिक्षा है जिसको आदि कवि वाल्मीकि ने पद्यात्मक रूप में वर्णन किया है। बहुत से कारणों से यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि वर्त्तमान योगवासिष्ठ बहुत पुराने समय की रचना है। बहुत लोग तो इसको शंकराचार्य के पीछे की रचना मानते हैं, पर लेखक के विचार में यह ग्रन्थ शंकराचार्य से बहुत पहिले का लिखा हुआ है, किन्तु माध्यमिक और विज्ञानवादी बौद्ध मतों के प्रचार से पीछे का है।

चाहे जितना प्राचीन यह ग्रन्थ हो, इसके विचार आधुनिक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक विचारों से बहुत मिलते जुलते हैं, जैसा कि प्रस्तुत लेखक ने अपनी पुस्तक 'योगवासिष्ठ एण्ड मोडर्न थॉट' *(Yogavasistha and Modem Thought)* में दिखलाया है।

प्राचीन भारतीय दर्शनों से योगवासिष्ठ के विचार बहुत भिन्न हैं। योगवासिष्ठकार स्वयं यह स्वीकार करता है और बतलाता है कि मन के स्वरूप और उसके नाना नाम और रूपों के सम्बन्ध में उसका भारत के अन्य प्राय: सभी दर्शनों - न्याय, सांख्य, चार्वाक, जैमिनीय (मीमांसक), आर्हत (जैन) बौद्ध और वैशेषिक और पांचरात्र आदि - से मतभेद है। और वास्तव में है भी, क्योंकि मन का इस प्रकार का स्वरूप किसी दूसरे भारतीय दर्शन में नहीं माना गया है। योगवासिष्ठ का विचार सर्वथा मौलिक और महत्वपूर्ण है। यहां पर हम योगवासिष्ठ के अनुसार मन के स्वरूप, उसकी शक्तियों और उसके निरोध के उपायों का वर्णन करते हैं।

(अ) मन का स्वरूप

मन क्या है :-

आत्मा की संकल्प शक्ति का नाम मन है। जब आत्मा संकल्प करने लगता है तो वह मन कहलाता है। मन का काम संकल्प के द्वारा विषयों की रचना करना है। मन ही संकल्पों द्वारा संसार की रचना करता है। वह आत्मरूप से तो चेतन है किन्तु दृश्य रूप से जड़ है। जब अपने स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप का विस्मरण होकर कर्तृत्वपन का निश्चय दृढ़ हो जाता है और किसी विषय की ओर ही ध्यान रहता है उस समय आत्मा का रूप मन हो जाता है। मन का काम भावना है। जब किसी विषय का संकल्प लिया जाता है तो वह क्रिया द्वारा उसी रूप में परिणत होकर भावना द्वारा वही विषय बन जाता है। सब दृश्यमान पदार्थ मूर्तिमान् संकल्प, क्रियायें और भावनामात्र हैं। विषयों की ओर प्रवृत्ति के कारण अपने आत्मरूप का विस्मरण हो जाता है और निजानन्द का अनुभव नहीं होता। विषयों की जड़ता और क्षणभंगुरता का ही अनुभव होता रहता है। आत्मा ही एक आकार होने के कारण यद्यपि मन (आत्मभाव) से आकाश की नाईं सर्वत्र व्याप्त है तो भी यह अपने आपको सीमित समझने लगता है। यह सूक्ष्म होते हुए भी भावना के दृढ़ होने पर स्थूल रूप धारण कर लेता है।

मन और ब्रह्म का भेद :-

चैत्य (विषय) से रहित चित्त (आत्मा) सनातन ब्रह्म है। वही चित् चैत्य (विषय, दृश्य) से युक्त मन कहलाता है। ब्रह्म विषय से तनिक भी संस्पृष्ट होने पर मन हो जाता है (अर्थात् जब ब्रह्म में किसी विषय का अनुभव आ जाता है तो वह मन बन जाता है)। भावना रूप मन का और शुद्ध ब्रह्म का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा सोने के गहनों और सोने का, स्पन्दन और वायु का, शून्यत्व ओर आकाश का। अर्थात् दोनों एक ही हैं और भिन्न भी हैं।

मन के अनेक रूप और नाम :-

जैसे एक ही अभिनेता (नाटक करने वाला) अनेक प्रकार का अभिनय करते हुये अनेक रूपों और नामों में जाना जाता है, वैसे ही भिन्न भिन्न व्यापारों को करते हुए एक ही मन अनेक रूपों और नामों को धारण कर लेता है। नाना प्रकार की क्रियाओं को करते हुए जो मन के अनेक नाम और रूप होते हैं उनमें से कुछ ये हैं -

मन :- परम चित्सत्ता जब स्पन्दनयुक्त होकर कल्पनात्मक रूप को धारण करके विषय (दृश्य) से गर्भित होती है तो वह मन कहलाती है।

बुद्धि :- वही परम चित् जब एक परिमित रूप को धारण करके विषयों की भावना करके 'यह अमुक विषय है, वह अमुक' इस निश्चय को दृढ़ कर लेती है तब बुद्धि कहलाती है। यह पदार्थ इस प्रकार का है, इस स्पष्ट ज्ञान के कारण इसका नाम बुद्धि है।

अहंकार :-"मैं हूँ" इस भावना के होने पर वह अहंकार कहलाती है, अर्थात् जबकि वह मिथ्या अभिमान के कारण अपने आप ही अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाकर संसार के बन्धन में पड़ जाती है तो उसका नाम अहंकार होता है।

चित्त :- जब वह बालक की नाईं चंचल कलना करती है। बिना विचारे ही एक विषय को छोड़ कर दूसरे विषय का चिन्तन करती है तब वह चित्त कहलाती है।

कर्म :- स्पन्दन, अर्थात् क्रिया ही जिसका स्वभाव है ऐसी वह कलना अपने भीतर कमी (शून्यता) का अनुभव करके जब क्रिया द्वारा प्राप्त होने वाले किसी फल की ओर दौड़ती है तब वह कर्म कहलाती है।

कल्पना :- जब वह अकस्मात् अपने पूर्व विषय को छोड़ कर अप्राप्त इच्छित विषयों की कल्पना करने लगती है तब उसका नाम कल्पना होता है।

स्मृति :- पूर्वकाल में किसी वस्तु का अनुभव हुआ हो अथवा न हुआ हो, किन्तु निश्चय के साथ जब उसका ऐसा ध्यान आये कि यह वस्तु पूर्वकाल में अनुभूत हो चुकी है, तब मन स्मृति कहलाता है।

वासना :- जब किसी ऐसे पदार्थ की इच्छा, जिसका भोग अभी तक वास्तव में नहीं हुआ हो, इतनी दृढ़ हो जाती है कि उसके सामने और किसी वस्तु की इच्छा न रहे, तब मन वासना कहलाता है। आगे-पीछे का विचार छोड़कर किसी वस्तु को प्राप्त करने की दृढ़ भावना को ही वासना कहते हैं।

अविद्या :- वास्तव में शुद्ध आत्म तत्व ही एक पदार्थ है। जब वस्तुत: विद्यमान न होते हुये भी आत्मा से अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व के अस्तित्व का भान होने लगे तब उसका नाम अविद्या है। चूंकि ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त मन कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये मन को कोई स्वतंत्र स्वसत्तात्मक पदार्थ समझना अविद्या कहलाता है।

माया :- मन में सत् को असत् और असत् को सत् बनाने का सामर्थ्य होने से इसको माया कहते हैं।

मल :- नाना प्रकार की मिथ्या कल्पनाओं द्वारा परम पद को भुला कर आत्मा की हानि करने के कारण मन को मल कहा जाता है।

प्रकृति :- इस दृश्य संसार के सब भावों का कारण होने के कारण मन प्रकृति कहलाता है।

ब्रह्मा, ईश्वर और प्रजापति आदि :- सृष्टि करने में लगा हुआ मन ही कभी ब्रह्मा, कभी विराट्, कभी सनातन, कभी नारायण, कभी ईश्वर और कभी प्रजापति कहलाता है।

जीव :- जीने और चेतन होने के कारण ही मन जीव कहलाता है। चेतन पदार्थ को ही जीव और पशु कहते हैं।

आतिवाहिक देह :- इसी को आतिवाहिक देह (सूक्ष्म शरीर) भी कहते हैं।

पुर्यष्टक :- प्रौढ़ संकल्पों से भरपूर होने से इसको पुर्यष्टक भी कहते हैं।

इन्द्रिय :- मन को इन्द्रिय इसलिये कहते हैं कि सुनकर, छूकर, देखकर, भोगकर, सूंघकर और विचार कर यह आत्मा को, जो इस शरीर का राजा (इन्द्र) है, आनन्द देता है।

भौतिक देह और पदार्थ :- शरीर की भावना होने पर मन शरीर बन जाता है और घर आदि पदार्थों की भावना से यह घर आदि पदार्थ हो जाता है।

मन कैसे अहं भाव धारण करता है :- संकल्प-शक्ति के जागृत होने पर संकल्प की स्थूलता के कारण जीव (मन) इस प्रकार अहंभाव को धारण कर लेता है जैसे कि आकाश नीलिमा को। जैसे अग्नि का छोटा कण इन्धन की अधिकता होने पर विशाल प्रकाश को धारण कर लेता है वैसा ही जीव (मन) भी स्थूल संवेदन के कारण अहंभाव को धारण कर लेता है। जिस प्रकार वायु अपने भीतर की शक्ति से ही संचालित होने लगती है वैसे ही अपने ही संकल्प के कारण जीव (मन) अहंभाव को, जो कि आकाशवत् होकर आत्मा को देश और काल में परिमित कर देता है, धारण कर लेता है।

मन स्थूल शरीर का रूप कैसे धारण करता है :- परम ब्रह्म में स्वयं ही इस प्रकार की एक कल्पना का उदय होता है कि मैं प्रकाश का एक केन्द्र (मन) हूँ। इस केन्द्र का नाम जीवन (मन) है। अपनी ही भावना के द्वारा वह केन्द्र दीर्घ आकार को धारण कर लेता है। वह केवल दृष्टा होते हुये भी दृश्य भाव को प्राप्त होता है। और एक ही में द्विरूपता (दृष्टा और दृश्य) का उदय हो जाता है। अपने प्रकाश-केन्द्र में स्थित वह अपने संकल्प द्वारा स्थूलता का अनुभव करने लगता है। जैसी-जैसी वह भावना करता है वैसे-वैसे ही वह स्थूल होता जाता है, और नाना प्रकार के दृश्य पदार्थ उसके चारों ओर उपस्थित होने लगते हैं। दीर्घकाल तक यह भावना करने से कि 'मैं कुछ हूं', उसमें अहंभाव का उदय होता है। अपनी कल्पना द्वारा तब वह अपने को सूक्ष्म शरीर के रूप में देखने लगता है। अपनी कल्पना द्वारा, जैसे कि स्वप्न और संकल्प में, वह अपने आपको सूक्ष्म आकार वाला बनाकर अपनी सत्ता, ज्ञान, बुद्धि और चित्तादि अवस्थाओं का अनुभव करता है। देखने की भावना से वह अब आकाश में गमन करता है तब (पीछे चलकर) आंखों के रूप में परिणत होने वाले ही रन्ध्रों का, जिनके द्वारा वह देख सके, उदय होता है। इसी प्रकार जिसके द्वारा वह छू सके वह त्वचा, जिसके द्वारा वह सुन सके वह कान, जिसके द्वारा वह सूंघ सके वह नाक, जिसके द्वारा वह वस्तुओं का स्वाद ले सके वह जिह्वा बन जाता है। इसी प्रकार स्पन्दन करने के लिये प्राण, और नाना प्रकार की क्रियाओं को करने के लिये कर्मेन्द्रियों का उदय होता है। इस प्रकार विषय (रूप), विषय ज्ञान (आलोक) तथा विषय का प्रत्यय (मनस्कार) ये तीनों आत्मा (मन) की भावना से उदय होते हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और पांच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की तन्मात्रायें, ये सब मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं। पुर्यष्टक ही आतिवाहिक (सूक्ष्म)

शरीर है। आतिवाहिक शरीर युक्त आत्मा, जो कि सूक्ष्म रूपवाला है, अपनी कल्पना में अपने को स्थूल अण्डाकार देह में स्थित अनुभव करने लगता है :-

जीव (मन) अपने स्थूल शरीर की रचना करता है :-

नाना प्रकार की शक्तियों से युक्त चित्त धनीभूत अहंभाव को प्राप्त होकर अपनी इच्छा से ही इस प्रकार बन्धन को प्राप्त होता है जैसा कि रेशम का कीड़ा अपने आप ही अपने बनाये हुये जाल में फँस जाता है।

मन या जीव अनन्त हैं :-

इस प्रकार संसार की भावना से युक्त चिति (चित्त) के रूपान्तर जीवकल्पित आकार वाले ब्रह्म से; लाखों और करोड़ों की संख्या में अथवा असंख्य तादाद में भूत, वर्तमान और भविष्य में ; मन उत्पन्न होते रहते हैं, जैसे किसी झरने से जल के कण या जैसे जल के ऊपर अनेक बुलबुले उठा करते हैं।

सब पदार्थों के भीतर मन हैं :-

संसार की सब ही वस्तुओं के भीतर चित्त (मन) वर्तमान है। जड़ पदार्थों के भीतर भी वासना ऐसे मौजूद रहती है जैसे कि बीज के भीतर पुष्प आदि और मिट्टी में घट। स्थावर (जड़) पदार्थों के भीतर भी वासनाओं की बीज रूपी चित्त-शक्ति सोई हुई अवस्था में उनके रस के रूप में सदा वर्तमान रहती है। यह शक्ति बीज में उल्लास के रूप में, जड़ पदार्थों में जड़ता के रूप में, द्रव्यों में द्रव्यता के रूप में, और कड़ी वस्तुओं में काठिन्य के रूप में होती है। जिस प्रकार लता के भीतर रहने वाला रस फूल और फल के आकार में विकसित होता है उसी प्रकार प्राणियों के वीर्य के रस के भीतर वास करती हुई यह चिति सब चेतन वस्तुओं का विकास करती है।

मन की सुप्त वासनायें :-

जिस सुषुप्ति अवस्था में वासना बीज रूप से स्थित रहती है वह सुषुप्ति सिद्धि के लिये नहीं होती। इसके विपरीत, जिस अवस्था में वासना का बीज ही नहीं रहता वह तुर्यावस्था सिद्धि देने वाली होती है। वह सुप्तावस्था, जिसमें भीतर सोई हुई वासना मन्द (सूक्ष्म) रूप से इस प्रकार मौजूद है जिस प्रकार बीज के भीतर अंकुर होता है, वह पुनर्जन्मप्रद होती है। समस्त स्थावर (जड़) पदार्थ इस प्रकार अपने भीतर सोई हुई वासनाओं को लिये हुए हैं अतएव नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेंगे। वासना, अग्नि, ऋण, रोग, द्वेष, स्नेह, वैर और विष इनका स्वल्प शेष भी बाधा देता है। वह सुषुप्तावस्था, जिसमें वासनायें सोई हुई हों और मन अपने भीतर लीन हो, सैंकड़ों दु:खों का कारण होती है। इसलिये, बुद्धिपूर्वक, विचार कर, यथावस्तु अवलोकन करके, जानबूझकर वासना का त्याग करना सर्वोत्तम त्याग है। उसके द्वारा ही कैवल्य पद प्राप्त होता है। आर्यों (सज्जनों) के साथ परस्पर विचार करके, और शास्त्रों को देखकर आत्मभावना में (जिसमें कोई वासना शेष न रहे) स्थित होना चाहिये।

मन का महत्व :-

मन इस संसाररूप माया चक्र की नाभि है। यदि इसको दृढ़ता से पकड़कर स्थिर कर दिया जाय तो फिर संसार से बाधा नहीं होती। यह संसार मन के आश्रय पर ही चलता है। मन को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जाता है।

(आ) मन की अद्भुत शक्तियां

मन सर्वशक्ति सम्पन्न है :-

मन का स्वरूप सर्वकर्तृत्व और सर्वशक्त्यत्व है। मन जगत् को रचने वाला है, मन ही स्वयं पुरुष है। मन जिस वस्तु को प्राप्त करने का इरादा कर लेता है उसे अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। मन अपने भीतर जैसी भावना करता है, क्षण भर में वैसा ही हो जाता है। जो कल्पना चित्त के अन्दर उदय होती है वही बाह्य जगत् में स्थिर और फलयुक्त होकर प्रगट होती है।

मन में जगत् को रचने की शक्ति है :-

मन का स्वभाव संकल्प है। जैसे जगत् की मन कल्पना करता है संकल्प द्वारा वैसा ही जगत् निर्मित हो जाता है। अहंभाव (मन) को ही जगत् का बीज समझना चाहिये। इस बीज से ही पहाड़, समुद्र, पृथ्वी और नदियों वाले जगत् रूपी वृक्ष की उत्पत्ति होती है। चित्त ही जगत् का उत्पादक है। वह जैसा संकल्प करता है उसी के अनुसार सत्, असत् अथवा सदसत् जगत् की उत्पत्ति होती रहती है। जाग्रत, स्वप्न और भ्रम आदि सब अवस्थायें इस प्रकार मन के रूपान्तर हैं जैसे कि पत्ते, बेल, फूल, फल आदि अंकुर के रूपान्तर होते हैं। देश और काल का विस्तार और क्रम भी मन के अधीन है। मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण को कल्प।

जगत् की रचना करने में मन पूर्णतया स्वतंत्र है :-

मन अपने आप ही स्वतंत्रता पूर्वक शरीर की रचना करता है। देह भाव को धारण करके वह जगत् रूपी इन्द्रजाल की रचना करता है।

प्रत्येक मन में इस प्रकार की शक्ति है :-

प्रत्येक चित्त में इस प्रकार की जगत् के उत्पादन करने की शक्ति है। प्रत्येक चित्त में जगद्रूपी भ्रम का उदय पृथक्-पृथक् होता है।

प्रत्येक जीव में सब कुछ प्राप्त करने की अनन्त शक्ति है :-

जीव जो कुछ चाहता है वह सब अपने आप ही सम्पादन कर लेता है। प्रत्येक जीव में चित्-शक्ति (आत्मा की अनन्त और अपार शक्ति)वर्त्तमान है। जीव में जिस जिस प्रकार की शक्ति का उदय होता है उसी प्रकार का फल उसको प्राप्त होता है। जीव जैसा प्रयत्न करता है यथासमय उसका फल मिलता रहता है। कभी तप के रूप में, कभी देवता के रूप में, स्वयं आत्मा ही आत्मा की इच्छायें अकस्मात् पूरी कर देता है। अपने

ही प्रयत्न के सिवाय कभी और कोई हमको सिद्धि देने वाला नहीं है। इसलिये जो प्राप्त करना चाहते हो उसके लिए प्रयत्न करो। अपनी वासना से प्रेरित होकर जो जैसा यत्न करता है वैसा ही फल पाता है। यहां दूसरा कोई हमारे भाग्य का निर्माण करने वाला नहीं है। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो सत्कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती हो।

विषयों का रूप हमारे चिन्तन के अधीन है :-

संसार के सब पदार्थों का रूप हमारे चिन्तन पर निर्भर है। चिन्तन करते करते असत्य पदार्थ भी सत्य प्रतीत होने लग जाता है। जिस वस्तु का जिस भाव से चिन्तन किया जाता है वह वस्तु उसी प्रकार से अनुभव में आने लगती है। सदा अमृतरूप से चिन्तन करने से विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभाव से चिन्तन करने से शत्रु भी मित्र हो जाता है। निमेषमात्र समय भी कल्पभाव से चिन्तन करने पर अवश्य ही कल्प के समान अनुभूत होने लगता है। इसी प्रकार कल्प की यदि निमेषभाव से चिन्तना की जाए तो जरूर ही कल्प निमेष के समान हो जाता है। आत्मा का प्रभाव ही ऐसा है। कटुभाव से चिन्तन करने पर मीठी वस्तु भी कड़वी मालूम होने लगती है और मिठाई के चिन्तन से कड़वी वस्तुएँ मीठी मालूम पड़ने लगती हैं। मित्र-बुद्धि से शत्रु मित्र हो जाता है और शत्रु-बुद्धि से मित्र शत्रु बन जाता है। जैसा ख्याल जिसके मन में दृढ़ हो जाता है वह उसको प्रत्यक्ष रूप से वैसा ही अनुभव किया करता है। दृढ़ निश्चय वाला आत्मा जैसा-जैसा चिन्तन करता है वैसा-वैसा फल प्राप्त करता है।

जैसी दृढ़ जिसकी भावना वैसा ही फल :-

दृढ़ भावना युक्त होकर मन जिस वस्तु की जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में, उतने ही समय तक, और उसी प्रकार फल देने वाला अनुभव होता है। यहां पर किसी वस्तु को न सत्य कह सकते हैं और न असत्; जिसने जिसको दृढ़ निश्चय के साथ समझ लिया है उसे वह वैसा ही दिखाई पड़ता है। दृढ़ अभ्यास के द्वारा जो मनुष्य अपने मन में जिस प्रकार के भाव को स्थिर कर लेता है उसी प्रकार की उसकी वासनायें और क्रियाएं होने लगती हैं। बड़े शौक से वह उसी प्रकार की क्रियायें करने लगता है और उनके अनुसार अपनी भावना के अनुरूप फल पाकर उसका आस्वादन करके उसमें बँध जाता है। मनुष्य प्रत्येक वस्तु का रूप अपनी भावना के अनुरूप ही देखता है। क्या क्या प्राप्त करने योग्य है और क्या नहीं इस प्रकार का निश्चय भी भावना द्वारा ही होता है। दृढ़ निश्चय वाले मन अपनी भावना के अनुसार ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं। जैसी भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वैसा ही अनुभव होने लगता है। स्वयं तो न नीम कड़वा है और न गन्ना मीठा, न आग गरम, और न चन्द्रमा शीतल। जिस विचार का जीव के हृदय में दृढ़ अभ्यास हो जाता है वही विचार, चाहे वह कितना ही

दुखदायी क्यों न हो, बार बार उदय होता है और जीव को अपनी ओर खींचता रहता है। शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह वस्तु उसी प्रकार की तुरन्त ही हो जाती है, जैसे जल में भँवर उत्पन्न हो जाता है। जीव अपने भीतर उसी प्रकार की वस्तुओं का अनुभव करता है जैसी वासनाओं से वह बँधा हुआ है। भावना के कारण ही वह अपने आपको वैसा ही समझने लगता है। भावना के प्रभाव से ही जीव के लिए विष अमृत हो जाता है और असत्य पदार्थ भी सत्य हो जाता है। जैसी जिसकी भावना होती है वैसा ही उसका अनुभव होता है। इन्द्रियां और उनके विषय सब ही जीव के अपने ख्याल से ही बने हैं।

अभ्यास का महत्व :-

किसी काम को बार बार करने का नाम अभ्यास है, उसी को पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके बिना किसी प्रकार की उन्नति नहीं होती। शुद्ध चित् (आत्मा) का उसी प्रकार का आकार दृढ़ हो जाता है जैसे आकार का उसमें अभ्यास होता है ; यह बात बालक तक भी जानते हैं। भावना के अभ्यास से सूक्ष्म शरीर, जो कि वास्तव में शुद्ध चिदाकाश (आत्मा) है, आधिभौतिक (स्थूल) भाव को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार आधिभौतिक (स्थूल) देह भी सूक्ष्म धारणा के अभ्यास से पक्षी के समान आकाश में गमन करने लगता है। अभ्यास का इतना महत्व है। बराबर अभ्यास (यत्न) करने से नामुमकिन (असम्भव) मुमकिन (सम्भव) हो जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं और विष अमृत हो जाता है। यत्न नाम वाले अपने ही पुरुषार्थ से, जिसका नाम दृढ़ अभ्यास है, मनुष्य को संसार में कामयाबी होती है, किसी दूसरे साधन से नहीं।

मन के दृढ़ निश्चय की शक्ति :-

मन के दृढ़ निश्चय को मिटाने या रोकने की किसी में शक्ति नहीं है। जिसके मन में जो निश्चय दृढ़ हो गया है उसको उसके सिवाय और कोई भी नहीं हटा सकता। बहुत समय तक जो बात किसी के मन में गहरे तौर पर बैठ गई है वह शरीर के नष्ट होने पर या शाप द्वारा भी मन से नहीं हटती। दृढ़ निश्चय वाले वीर मन को अपने निश्चय से हटाने की शक्ति किसी में नहीं है। किसकी ऐसी शक्ति है जो मन को अपने दृढ़ निश्चय से हटा सके ?

जैसा मन वैसी गति :-

जैसा जिसका विचार वैसा ही उसका मन, और जैसा मन वैसी ही उसकी स्थिति होती है। उस स्थिति को दूसरी दशा में लाने के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। जड़ और चेतन समस्त जगत् चित् के ही आधीन है। हमारा बन्धन और मुक्ति भी चित्त के हाथ में है।

दु:ख-सुख भी चित्त के आधीन हैं :-

मन की मूर्खता से दु:ख पहाड़ की चोटी की नाईं बढ़ते हैं और मन के द्वारा ही दु:खों का इस प्रकार नाश हो जाता है जैसे कि सूर्य के उदय होने पर पाले का। सब दु:ख, सुख और अवस्थाओं का बनाने वाला और भोगने वाल मन ही है। मनुष्य मनोमय है, अर्थात् जैसा किसी का मन वैसा ही वह मनुष्य होता है। शुभ या अशुभ कर्मों का करने वाला मन ही है, इसलिये सुख-दु:ख का भोगनेवाला मनुष्य का मन ही है। हाड़-मांस से बना हुआ शरीर सुख-दु:ख को भोगनेवाला नहीं है। सब शरीरों में मन ही को सुख या दु:ख का अनुभव होता है। जो अलौकिक आनन्द मोक्ष दशा में अनुभव में आता है उसके प्राप्त करने के लिये भी पुरुषार्थी लोग मन की ही साधना करते हैं, क्योंकि उसकी सिद्धि भी मन के शुद्ध होने पर ही हो सकती है।

जीव की परिस्थितियां उसके मन की रची हुई हैं :-

यह हमारा दृश्य जगत् चित्त की इच्छाओं के न रहने पर लीन हो जाता है। चित्त द्वारा रचा हुआ यह एक महान स्वप्न है। जहां पर जिसने जैसी इच्छा दृढ़ कर ली है वहीं पर वह उसी प्रकार से फल देती है। यह नाना प्रकार के अनगिनत पदार्थों वाला और तत्वरहित संसार वासना के अनुसार नाना प्रकार के विस्तार को धारण करने वाले और फल प्राप्त करने वाले संकल्पात्मक मन के कर्म द्वारा रचा हुआ है।

शरीर भी मन का ही बनाया हुआ है : -

जैसे रेशम का कीड़ा अपने रहने के लिये अपने आप ही अपना कोश तैयार कर लेता है वैसे ही मन ने भी यह शरीर अपनी वासनाओं की पूर्ति करने के लिये बनाया है। मन शरीर को अपने संकल्प द्वारा इस प्रकार बनाता है जैसे कि कुम्हार घड़े को। यह जो हड्डी और मांस का पंचभूतों से बना हुआ पुतला दिखाई पड़ता है वह शरीर नहीं है बल्कि मन की कल्पना द्वारा की हुई एक रचना है। जैसे स्वप्न-जगत् में सब पदार्थ संकल्प द्वारा रचे जाते हैं वैसे ही इस जाग्रत अवस्था के जगत् में भी सब वस्तुएं (शरीर भी) संकल्प द्वारा बनाई जाती हैं। यह शरीर केवल पूर्व काल की, अभ्यास द्वारा दृढ़ की हुई वासनाओं की एक आकारवाली मूर्ति है। देहभावना से मन को देहत्व का अनुभव होता है और देहभावना से स्वतन्त्र हो जाने पर देह के धर्मों का मन को अनुभव नहीं होता। अर्थात् जब तक हम अपने आपको भौतिक शरीर मानते हैं तब तक हमको शरीर के धर्म्मों का अनुभव होता है, किन्तु जब हम शरीरभाव से ऊंचे चढ़ कर अपने को मन और आत्मा समझने लगते हैं तब हम शरीर के धर्म्मों से मुक्त हो जाते हैं। उस समय हमें शरीर के सुख-दु:खों का अनुभव नहीं होता, और इस प्रकार की भावना के धीरे धीरे परिपक्व हो जाने पर हम भौतिक शरीर नहीं धारण करते। जैसे जिस प्रकार की गन्ध हवा में छोड़ दी जाती है हवा इसी प्रकार के गन्धवाली हो जाती है। इसी प्रकार जैसे विचार किसी के मन में होते हैं उसका शरीर उसी प्रकार का आकार धारण करता रहता है।

मानसी चिकित्सा :-

शरीर मन का बनाया हुआ है और मन द्वारा ही इसकी वृद्धि और तब्दीली होती रहती है। शरीर के सब रोग विचार और जीवन की अशुद्धि के कारण होते हैं। उनके दूर करने का सबसे उत्तम उपाय विचारों और जीवन को शुद्ध करना है। जब मन शुद्ध और पवित्र होता है और वासना उच्चकोटि की होती है तब शरीर निरोग और सुन्दर रहता है। ये सब विचार आजकल के समय में 'क्रिश्चियन साइंस' के नाम से पाश्चात्य देशों में बहुत प्रचलित होते जा रहे हैं और बहुत ही नवीन और महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में इस प्रकार के विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे। योगवासिष्ठ इस प्रकार के विचारों की अनुपम विधि है। इसलिये यहां पर वसिष्ठजी के मानसी चिकित्सा सम्बन्धी कुछ विचारों को उद्धृत किया जाता है।

आधि और व्याधि :-

दु:ख के दो कारण हैं, एक आधियां और दूसरी व्याधियां। उनके दूर होने से सुख होता है और ज्ञान द्वारा उनकी सम्भावना दूर होने का नाम मोक्ष है। शरीर के दु:खों का नाम व्याधि है और मानसिक दु:खों का नाम आधि है। दोनों मूर्खता से उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञान से दोनों का क्षय हो जाता है। गहरे मोह में डालने वाले मानसिक रोग अज्ञान से और 'यह वस्तु मुझे प्राप्त हो गई है यह नहीं हुई है' इस प्रकार के मानसिक विचारों से ऐसे उत्पन्न होते हैं जैसे वर्षा ऋतु में मेह बरसता है।

देह के रोगों की उत्पत्ति इस प्रकार होती है :- जबकि अज्ञान के कारण मनुष्य का मन उसके बस में नहीं होता और उसमें नाना प्रकार की तीव्र वासनायें उठती हैं, तो मनुष्य उनको पूरा करने के वास्ते अखाद्य द्रव्यों को खाने लगता है, अन्य (बुरे) स्थानों में जाने लगता है, अनुचित समय पर और अनुचित तरह के काम करने लगता है, दुष्ट पुरुषों के संग में बैठने लगता है, और अपने मन में खोटे भावों को स्थान देने लगता है। ऐसा होने पर उसकी नाड़ियां ठीक ठीक प्रकार से काम करना छोड़ देती हैं। कुछ नाड़ियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं, जिसमें उनके द्वारा जीवन शक्ति (प्राण) का शरीर के भीतर समान बहाव नहीं रहता और प्राण-शक्ति के संचार में उचित संगठन का ह्रास हो जाता है। ऐसा होने से शरीर की स्थिति डावाँडोल हो जाती है और उसमें नाना प्रकार के दोष उत्पन्न होकर दु:ख देने वाले अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

आधि से व्याधि की उत्पत्ति :-

चित्त में गड़बड़ होने से अवश्य ही शरीर में गड़बड़ होती है। शरीर में जब संक्षोभ होता है तो प्राणों के प्रसार में विषमता आ जाती है और प्राणों की गति में विकार

होने से नाड़ियों के परस्पर सम्बन्ध में खराबी उत्पन्न हो जाती है। कुछ नाड़ियां तो शक्ति से अधिक पूर्ण हो जाती हैं और कुछ खाली हो जाती हैं। प्राणों की गति में खराबी पैदा होने से अन्न का पाचन ठीक नहीं होता, कभी अन्न अच्छी तरह नहीं पचता, कभी कम पचता है और कभी अधिक पचता है। प्राणों के यन्त्र में अन्न पहुँच कर वहां पर जमा होकर और सड़ कर अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने लगता है। इस प्रकार मानसिक रोगों से शरीर के रोगों की उत्पत्ति होती है और उनके नाश होने पर इनका भी नाश हो जाता है।

आधि के क्षय होने पर व्याधि का क्षय :-

आधियों (मानसी रोगों) के क्षीण हो जाने पर उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियां (शारीरिक रोग) भी मिट जातीं हैं। शुद्ध और शुभ कर्मों के करने से और सज्जनों के संग से मन इस प्रकार निर्मल हो जाता है जैसे कि सान पर चढ़ाने से सोना; और चित्त के शुद्ध हो जाने पर शरीर में आनन्द (नीरोगता) का संचार होने लगता है। जीवन के शुद्ध होने पर प्राणों की गति ठीक ठीक रीति से होने लगती है और शरीर में अन्न का पाचन ठीक ठीक होने लगता है, जिससे कि शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं। मन के जैसे विचार होते हैं देह उन्हीं के अनुसार चलती है और उसी प्रकार की हो जाती है; जैसे हवा वैसी ही हो जाती है जैसी गन्ध उसमें छोड़ दी जाय।

मन्त्र चिकित्सा :-

मन्त्रों के अक्षरों में भी उसी प्रकार शरीर पर असर करने की शक्ति है जैसे कि दवाइयों में। किन्तु मन्त्रों का प्रभाव भावना द्वारा होता है।

जैसे हरीतकी (हर्रे) का स्वभाव ऐसा है कि उसके खाने से दस्त लग जाते हैं, वैसे ही भावना (दृढ़ विश्वास) द्वारा मन्त्रों के अक्षर (य, र, ल, व आदि) भी शरीर पर असर करते हैं।

मूल आधि :-

रोग दो प्रकार के होते हैं, एक सामान्य और दूसरा मूल। सामान्य रोग उनको कहते हैं जो कि लौकिक जीवन में दिखाई पड़ते हैं। संसार में जन्म लेना मूल रोग है। क्योंकि जब तक जीव संसार में जन्म लेता रहेगा तब तक तो उसे कभी न कभी कोई न कोई रोग लगेगा ही। रोगों से पूरी निवृत्ति जन्म-मरण के चक्कर से बिल्कुल ही छूट जाने पर होती है। लौकिक रोगों की शान्ति तो यथोचित् वस्तु प्राप्त हो जाने पर हो जाती है, किन्तु जो मूल रोग है उसकी शान्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त किये बिना नहीं होती। जीवन की सब आधियां (मानसिक रोग) और व्याधियां (शारीरिक रोग) मूल आधि (अज्ञान) के नाश होने पर ऐसे नष्ट हो जाती हैं जैसे कि नदी के किनारे उत्पन्न होने वाली बेलें वर्षा ऋतु में नदी की बाढ़ से नष्ट हो जाती हैं।

जीवन को सुखी और नीरोग रखने का उपाय :-

"मैं शरीर हूँ" इस प्रकार की भावना से रहित होने पर जीव को शरीर के गुणों का अपने में अनुभव नहीं होता। मन जिस बात का दृढ़ निश्चय कर लेता है वही होती है, उसे टालने वाला और कोई नहीं है। जैसे प्रतिबिम्ब - मणि पर पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब किसी साधन से नहीं मिट सकता उसी प्रकार मन ने जो अपने लिये निश्चित कर लिया है वह भाव, द्रव्य, औषधि और दण्ड आदि किसी अन्य साधन से नहीं दूर किया जा सकता (मन के निश्चय का इतना महत्व है)। यदि कोई व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से अटल धैर्य को धारण करके स्थिर रहे तो उसके पास दु:ख नहीं फटक सकते। ऐसे पुरुष के मन को आधि (मानसिक रोग), व्याधि (शरीर के रोग), शाप और कुदृष्टि (बुरी नज़र) आदि कुछ भी इस प्रकार हानि नहीं पहुँचा सकता जैसे कमल-दंड से पीटने से पर्वत का कुछ नहीं होता। वसिष्ठ जी ने जब काकभुशण्डि मुनि से यह पूछा कि आप इतने दीर्घ काल से इतने नीरोगी और युवा कैसे बने रहते हैं ? तो उन्होंने जो उत्तर दिया वह यह है :- मैं सदा नीरोगी इस वजह से रहता हूं कि इष्ट और अनिष्ट के होने और न होने की चिन्ता को त्याग कर मैं आत्मभाव में स्थित रहता हूं ; आज मैं अमुक वस्तु को प्राप्त करूंगा, इस प्रकार की चिन्ता मुझे नहीं होती; मेरा मन चपलता और शोक से रहित शान्त और समाहित (स्थिर) है। आज मुझे क्या प्राप्त हुआ है और कल क्या होगा, इस प्रकार की चिन्ता के ज्वर से मैं पीड़ित नहीं हूं, बुढ़ापे और मौत के दु:ख से मुझे डर नहीं है, और राज्य आदि के सुख मिलने से मुझे कोई खुशी नहीं होती। यह बन्धु है, यह शत्रु है, यह मेरा है,यह दूसरे का, इस प्रकार का भेद-भाव मेरे मन में नहीं है। आहार-विहार में, उठते बैठते, सांस लेते और सोते किसी समय भी मुझे यह ख्याल नहीं होता कि मैं देह हूं। अपने स्वरूप से विचलित न होने वाली शक्ति तथा मधुर और प्रेमयुक्त दृष्टि से युक्त होकर मैं सबको समता से देखता हूं। जो कुछ मैं करता हूं अथवा जिस वस्तु का मैं भोग करता हूं उसमें से अभिमान त्याग कर सब कुछ करता हुआ भी मैं मन में निष्क्रिय ही रहता हूं। मैं समर्थ होने पर भी किसी पर आक्रमण नहीं करता, दूसरों से दु:ख दिये जाने पर भी मैं खिन्न नहीं होता, धनहीन होने पर भी मैं किसी से कुछ पाने की इच्छा नहीं करता, जीर्ण टूटी हुई शिथिल अंगवाली, क्षीण, क्षोभयुक्त, संचूर्णित, और नष्ट प्राय वस्तुओं में भी मुझे नवीनता का आनन्द आता है; दूसरों को सुखी देखकर मैं सुखी होता हूं; दु:खी देखकर दु:खी होता हूं, और सब का मैं प्रिय मित्र हूं; आपत्ति आने पर मैं अचल और धैर्ययुक्त रहता हूँ ; और सम्पत्ति की दशा में सारे जगत् के साथ मित्रता का व्यवहार करता हूँ ; भाव और अभाव में मैं सर्वदा एक समान रहता हूँ।

मन के शान्त और महान होने पर ही सब ओर आनन्द का अनुभव होता है :-

मन सब कुछ है, मन की अपने भीतर ही चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक

हो जाता है। अपने भीतर ही यदि शान्ति प्राप्त हो गई तो सारा संसार शान्त दिखाई पड़ने लगता है। जो अपने भीतर ही तृष्णा की आग से जल रहा हो उसके लिए सारे संसार में आग सी लगी रहती है। चित्त को महान् बनाने से जो फल प्राप्त होता है वह न तीनों लोक (पृथ्वी, पाताल और स्वर्ग) के ऊपर राज्य करने से, न रत्नों से भरे हुए खज़ाने के मिलने से होता है। मन के पूर्ण होने पर सारा संसार अमृत से भरपूर दिखाई पड़ता हैं, जैसे कि जूता पहने हुए पुरुष के लिए समस्त पृथ्वी चमड़े से ढँकी हुई सी प्रतीत होती है।

शुद्ध मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है :-

यद्यपि आकाश सब जगह मौजूद है तो भी उसका प्रतिबिम्ब केवल शीशे में ही पड़ता है। ऐसे ही यद्यपि आत्मा सब जगह वर्तमान है तो भी उसका दर्शन केवल मन के भीतर ही होता है। आत्मा यद्यपि आकाश, पत्थर और दीवार आदि सब ही वस्तुओं में वर्त्तमान है तो भी जैसे केवल शीशे में ही वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, आत्मा का दर्शन केवल चित्त में ही होता है। जब चित्त वृत्तिहीन होकर चित्तभाव को त्याग देता है तब अपने भीतर विस्तृत आकार वाली मोक्षमयी आत्मसत्ता का अनुभव करता है।

जब तक मन में अज्ञान है तभी तक जीव संसार रूपी अन्धकार में पड़ा रहता है :-

गढ्ढे के कछुवे के समान जब तक अज्ञानी-मन आत्मा को भूलकर मूर्खतावश भोगों के मार्गों पर चलता रहता है तब तक संसार रूपी अन्धेरा किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकता, चाहे आग और चन्द्रमा सहित बारहों सूर्य भी अपना प्रकाश कर लें।

मन जगद्रूपी पहिये की नाभि है :-

इस भ्रम पैदा करने वाले, घुमने वाले, संसार रूपी मायाचक्र की नाभि चित्त है। इस नाभि को बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा जोर से पकड़ कर रोक लेने से मायाचक्र की गति रुक जाती है।

मनोयोग द्वारा सिद्धियां :-

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि योगवासिष्ठ के अनुसार मनुष्य के भीतर अनन्त और अद्भुत शक्ति वर्तमान है, केवल उसके उपयोग करने की ही कमी है। प्राय: हम अपनी शक्ति का उपयोग बिना जाने ही करते हैं। यदि जानकर और समझ-बूझ कर हम अपनी ईश्वरीय शक्ति का उपयोग करें तो जो चाहे सो प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य का मन शक्ति का भण्डार है क्योंकि वह ब्रह्म का ही एक आकार है। मन को जितना शुद्ध किया जाए वह उतना ही बलवान् और शक्तिशाली होता चला जाता है। योगवासिष्ठ में सिद्धियाँ के प्राप्त करने के दो विशेष मार्ग हैं। एक मन की शुद्धि और दूसरा कुण्डलिनि शक्ति का उद्बोधन। यहाँ हम, मन की शुद्धि द्वारा जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं उनमें से कुछ का वर्णन करते हैं।

मन की शुद्धि द्वारा प्राप्त होने वाली सिद्धियां :-

शुद्ध मन जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अवश्य ही जल्द ही वैसी ही हो जाती है, जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है।

दूसरों के मन का ज्ञान :-

अशुद्ध मन शक्तिहीन होता है। वह दूसरे मन के साथ संगम करने में अशक्त होता है। शुद्ध और गरम किया हुआ लोहा ही दूसरे शुद्ध और तप्त लोहे में मिल सकता है। जैसे समान रूप वाले जल ही आपस में मिलकर एक होते हैं उसी प्रकार शुद्ध मनों में ही परस्पर एकता हो सकती है।

सूक्ष्म लोकों में प्रवेश करने की सिद्धि :-

जैसे छाया का धूप में प्रवेश नहीं हो सकता वैसे ही वे लोग, जिनकी बुद्धि में जागृति नहीं हुई, पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले सिद्ध लोकों में अपने शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकते। दूसरे लोक में प्रवेश पवित्र शरीर, ज्ञान और विवेक, पवित्र कर्म अथवा वर द्वारा होता है। इसलिए आतिवाहिक (सूक्ष्म) लोकों में उन्हीं लोगों का प्रवेश होता है जो या तो ज्ञानी (अर्थात् जो जानने योग्य सब तत्वों को जानते हैं) हों या जिनका जीवन पूर्णतया धार्मिक हो। जो जीव प्रबुद्ध होकर सूक्ष्म भाव को प्राप्त हो चुके हैं वे ही उन दूसरे जीवों से मिल सकते हैं जो कि सिद्ध होकर दूसरे लोकों में जन्म ले चुके हैं। जब सूक्ष्मतत्वों का ज्ञान पूर्णतया स्थिर हो जाता है तब मनुष्य को संकल्प-रहित पवित्र सिद्ध लोकों का दर्शन होता है।

आधिभौतिकता की भावना के कारण जीव को सूक्ष्म लोकों का दर्शन नहीं होता :-

जिसके मन में यह भ्रम दृढ़ हो गया है कि मैं आधिभौतिक (स्थूल) शरीर हूँ वह भला सूक्ष्म मार्ग द्वारा दूसरे लोकों में कैसे जा सकता है ? जिसके मन में इस प्रकार की भावना दृढ़ हो गई है कि मैं भौतिक शरीर हूँ और मेरा गमन आकाश द्वारा नहीं हो सकता उसको भला यह कैसे विश्वास हो सकता है कि वह सूक्ष्म देह है और वह आकाश मार्ग द्वारा जा सकता है, जबकि मनुष्य अपने ही संकल्प-जगत् में अपने स्थूल शरीर द्वारा प्रवेश नहीं कर सकता तो भला दूसरों के संकल्प जगत् में उसका स्थूल शरीर द्वारा कैसे प्रवेश हो सकता है ?

सूक्ष्म भाव ग्रहण करने की युक्ति :-

आधिभौतिक (स्थूल) भावना के त्याग देने पर अतिवाहिक (सूक्ष्म) भावना का उदय होता है। तब भारीपन और कड़ेपन का झूठा विश्वास इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे कि स्वप्न से अच्छी तरह जागने पर स्वप्न की वस्तुओं की स्थूल भावना का अन्त हो जाता है। हल्केपन और सूक्ष्मता की भावना का तब योगी में ऐसे उदय हो जाता

है जैसे स्वप्न में यह जान लेने पर कि यह स्वप्न है। जैसे स्वप्न को स्वप्न समझ लेने पर शरीर सूक्ष्म मालूम पड़ने लगता है वैसे ही ज्ञान प्राप्त होने पर स्थूल शरीर भी हल्का मालूम पड़ने लगता है। जिस ज्ञानी के हृदय में सूक्ष्म भावना का दृढ़ अभ्यास हो जाता है उसके लिये आधिभौतिक (स्थूल) भावना का ऐसे अन्त हो जाता है जैसे सर्दी के मौसम का बादल देखते देखते नष्ट हो जाता है। जैसे गर्भ की अवस्था की यौवन काल में याद नहीं रहती उसी प्रकार जिसके मन में यह भावना दृढ़ हो गई है कि मैं सूक्ष्म हूँ वह अपने स्थूल भाव (स्थूल शरीर) को बिल्कुल भूल जाता है। जैसे यह जान लेने पर कि वास्तव में यह रस्सी है, सर्प नहीं है, सर्प दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही यह जान लेने पर कि हमारा शरीर वास्तव में सूक्ष्म है, स्थूल शरीर का अनुभव नहीं रहता। जैसे स्वप्न में अनुभव में आने वाले कल्पना के शरीर की भावना का अन्त होते ही जागने पर स्थूल शरीर की भावना का उदय हो जाता है वैसे ही जाग्रत भावना के अन्त होने पर स्थूल शरीर की भावना का नाश हो जाता है। जैसे गर्मी पाकर बर्फ पानी हो जाता है वैसे ही सूक्ष्म वासनाओं वाला और शुद्ध भाव को प्राप्त हुआ मन भी सूक्ष्म हो जाता है। संसार के पदार्थों की वासनाओं के कम हो जाने पर ज्ञान ओर अभ्यास द्वारा स्थूल शरीर में ही सूक्ष्म शरीर के अनुभव का उदय हो जाता है।

ज्ञान द्वारा स्थूल भावना की निवृत्ति :-

जैसे बालक को भूत दिखाई पड़ता है वैसे ही मूर्ख जीव को भी शरीर न होते हुए भी संकल्प के भ्रम से यह स्थूल शरीर दिखाई पड़ता है। जब ज्ञान के दीपक से चारों ओर चान्दनी फैल जाती है तब जीव का संकल्प-मोह शरद् ऋतु के बादल की नाईं क्षीण हो जाता है। जैसे तेल के खत्म हो जाने पर दीपक बुझ जाता है वैसे ही संकल्पों के क्षीण हो जाने पर स्थूल शरीर का अनुभव क्षीण हो जाता है। निद्रा के खत्म हो जाने पर जैसे जीवन का स्वप्न दिखाई नहीं देते वैसे ही सत्य की भावना के उदय होने पर जीव को शरीर का अनुभव नहीं रहता। असत्य में सत्य की भावना होने से जीव स्थूल शरीर से घिरा हुआ है। एक तत्व की भावना से दृढ़ हो जाने पर जीव शरीर से मुक्त और सुखी हो जाता है। शरीर को सत्य समझने से ही शरीर सत्य मालूम पड़ता है, इसको असत्य जान लेने पर इसका अनुभव नहीं रहता।

(इ) मनोनिरोध

योग या व्यावहारिक मनोविज्ञान :-

मन के स्वरूप और शक्तियों को जान लेने पर अवश्य ही यह प्रश्न उठता है कि मन का किस प्रकार शोधन, नियंत्रण, संयम और निरोध किया जाये ताकि प्राणी उत्तम से उत्तम स्वास्थ्य, शक्ति और गति को प्राप्त कर सके। इस विद्या का नाम भारत में

योग है। पतंजलि ने अपने योग-सूत्र नामक ग्रन्थ में कहा है ''योगाश्चित्तवृत्तिनिरोध:'' अर्थात् योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं। योग को भारत का व्यावहारिक (अनुप्रयुक्त) मनोविज्ञान कह सकते हैं। योगवासिष्ठ में योग का उद्देश्य (निष्ठा) अपने परमात्मरूप में स्थिति प्राप्त कर लेना है; ''जीव की परमात्मा में उस प्रकार की स्थिति, जिसका नाम तुर्या है, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं के बीज से रहित है, जो चित्ति और आनन्द का अनुभव है, और परमज्ञान और आनन्द है, वही योग का परम उद्देश्य है''।

तीन प्रकार के योगाभ्यास :-

योगवासिष्ठ ने योगाभ्यास के तीन मार्ग बतलाये है: ''एक तत्व का गहरा अभ्यास, प्राणों का निरोध, और मन का निग्रह। इन तीनों में से किसी एक का अभ्यास हो जाने पर तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इन प्रयोगों में मन को शान्त करना सबसे उत्तम है ; इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण होता है।''

मनोनिरोध का महत्व :-

सब उपद्रवों के पैदा करने वाले संसार रूपी दु:ख से छूटने का एक ही उपाय है, वह है अपने मन का निग्रह। मन के शान्त होने से सब दु:खों की शान्ति हो जाती है और सर्वगत, शान्त ब्रह्म का अनुभव होने लगता है।

मन कैसे स्थूल होता है :-

अनात्म में आत्मभाव से, देह में विश्वास से, स्त्री, पुत्र और कुटुम्ब से, अहंकार के विकार से, ममता के मल से, 'यह मेरा है' इस भाव से, व्यर्थ वृद्धि को प्राप्त होने वाले दोषों के कोश तथा जरा और मरण आदि देने वाले दु:खों से, उपादेय (प्राप्त करने योग्य) और हेय (त्यागने योग्य) को प्राप्त करने और त्यागने का प्रयत्न करने से, आधि और व्याधियों को प्राप्त कराने वाली संसार की आशाओं से, स्नहे से, धन के लोभ से, दूर से सुन्दर दिखाई देने वाली मणि और स्त्रियों की प्राप्ति से, चित्त स्थूल होता है। दुराशा रूपी दूध के पीने से, भोग रूपी वायु के बल से, आस्था रूपी चारे से, चित्त रूपी सर्प मोटा होता है। उत्पत्ति और नाश वाले शरीर से विष के समान दु:खदायी भोगों के भोगने से चित्त स्थूल होता है।

मन किस प्रकार ब्रह्म हो जाता है :-

परम ब्रह्म में चित्त को लगाने से चित्त वासना - रहित और शुद्ध हो जाता है। शुद्ध और वासना - रहित होने पर वह कल्पनाशून्य होकर आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है। विचार द्वारा मन विलीन हो जाता है और मन के लय हो जाने पर ही कल्याण होता है। 'मन' नाम वाले उस कर्म के क्षीण होने पर, जिसने कि इस भ्रम को रच रक्खा है, प्राणी

जीवनमुक्त हो जाता है, फिर उसका दूसरा जन्म नहीं होता। ज्ञानियों का मन ब्रह्म ही है और कुछ नहीं, जैसे जलमात्र पर दृष्टि रखने वालों के लिये समुद्र ही समुद्र है, तरंग कोई वस्तु नहीं है।

मन का निरोध करने की युक्तियां :-

जैसे मतवाला दुष्ट हाथी बिना अंकुश के नहीं जीता जा सकता वैसे ही मन भी बिना ठीक युक्ति के नहीं जीता जा सकता। जो उचित युक्ति को छोड़ कर मन को जीतने का उपाय करते हैं वे हठी हैं, उनको एक भय के पीछे दूसरा भय और एक दु:ख के बाद दूसरा दु:ख होता रहता है। जो (बिना युक्ति के) बलपूर्वक चित्त को जीतने का प्रयत्न करते हैं वे मूर्ख उस व्यक्ति के समान हैं जो कि उन्मत्त हाथी को कमल के तन्तुओं से बाँधना चाहता है। चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की निश्चित युक्तियां हैं। अध्यात्म ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्संग, वासनाओं का त्याग और प्राणों का निरोध। अपने ही ज्ञान और पुरुषार्थ द्वारा चित्त जितनी अच्छी तरह शान्त हो जाता है वैसा न तप से, न तीर्थ से, न विद्या से, न यज्ञ से और न किसी विशेष अनुष्ठान से हो सकता है।

ज्ञानयुक्ति :-

जो वस्तु अज्ञान के कारण सत्य प्रतीत होती हो वह अवश्य ही ज्ञान से नष्ट हो जाती है। अहंकार वैसे ही मिथ्या है जैसे मिथ्या ज्ञान। 'मन मेरा असली स्वरूप नहीं है, बनावटी (झूठा) रूप है इसलिये मैं मन नहीं हूँ' इस प्रकार मन को त्याग देने पर मन शान्त और सनातन ब्रह्म हो जाता है।

संकल्पों का उच्छेदन :-

संकल्प ही मन का बन्धन है, उसका अभाव ही मुक्तता है। संकल्प रहित होने से मोक्ष का अनुभव होने लगता है।

भोगों से विरक्ति :-

और शास्त्रोक्त साधनों से क्या प्रयोजन है ? केवल इतना कहना ही काफ़ी है कि जो जो वस्तुएं स्वाद देने वाली हैं उन सबको विष और अग्नि के समान भयंकर समझो। संसार रूपी गड्ढे में पड़े हुये प्राणी तभी तक भरमते रहते हैं जब तक कि उन्हें विषयों के प्रति विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। विषयों से विरक्ति की उत्पत्ति आत्मचिन्तन से हृदय में उत्पन्न हो कर कमल के फूल की शोभा की नाईं प्रकाश पाती है।

इन्द्रियों का निग्रह :-

जो विवेक वाला और उदार आत्मा है उसे जितेन्द्रिय कहते हैं - वह संसार-समुद्र में वासना रूपी लहरों के बीच में पड़कर नहीं घबराता। जैसे राजा की आज्ञा का मंत्री लोग पालन करते हैं वैसे ही जो मन का निश्चय होता है उसी को इन्द्रियों की

वृत्तियां सम्पादन करती हैं। इसलिये जो संसार के विषयों में मन को नहीं लगाते और अपने भीतर विवेक प्राप्ति का यत्न करते रहते हैं वे शान्ति का अनुभव करते हैं।

वासनाओं का त्याग :-

वासना ही चित्त का स्वरूप है। वासना और चित्त दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जैसे 'यह स्वप्न है' इस प्रकार का ज्ञान हो जाने पर स्वप्न का शरीर असत्य मालूम पड़ने लगता है वैसे ही वासनाओं के क्षीण हो जाने पर अनुभव में आने वाला संसार भी असत् ही दिखाई पड़ने लगता है। 'यह वस्तु मेरी हो जाए' इस प्रकार की अपने भीतर की भावना को तृष्णा कहते हैं, यही सबसे बड़ी जंजीर है। सब सत् और असत् पदार्थों के प्रति इस प्रकार की वासना का पूर्णतया और सदा के लिये त्याग करके महामना और उदारात्मा पुरुष परम पद को प्राप्त कर लेता है।

अहंकार का त्याग :-

अहंभाव के अभाव से शान्तिपूर्ण स्वभाव में स्थिति हो जाती है। आकाश की नीलिमा के समान भ्रमात्मक संसार का आदिमूल अहंभावयुक्त आत्मा है। यह जगत् रूपी वृक्ष अहंभाव रूपी बीज से उदय होता है। उसको ज्ञानरूपी अग्नि से भस्म कर देने पर फिर कुछ उत्पन्न नहीं होता।

असंग का अभ्यास :-

मन को चाहिये कि वह संसार की सब वस्तुओं के प्रति नीरस होकर आत्मा के रस में ही मग्न होकर चिति में विश्राम ले। वहां स्थित होकर और सब प्रकार के संग से मुक्त होकर जीव जब अजीव हो जाता है तब वह संसार के किसी व्यवहार को करे या न करे। असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समान भाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में लगना, और जिसने सब कर्मों के फल का त्याग कर दिया हो। यह सब कुछ आत्मदेव ही है,किस वस्तु की इच्छा करूं और किस वस्तु का त्याग करूं। इस प्रकार की असंसक्ति जीवन्मुक्त पुरुष में होती है। सब कर्मों के फलों को मन से ही, न कि कर्म से, पूर्णतया त्यागने वाले को, असंसक्त कहते हैं। पदार्थों के भाव और अभाव में हर्ष और शोक रूपी मलीन वासना होने का नाम संग है। जब हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असंग कहते हैं। शुभ या अशुभ कर्मों को करते हुए मन का उसमें लिप्त न होना असंग कहलाता है।

समभाव का अभ्यास :-

हेय (त्याज्य) वस्तु से खेद न करो और उपादेय (प्राप्य) वस्तु से संग न करो। 'हेय' और 'उपादेय' दोनों दृष्टियों का त्याग करके दोनों से रहित भाव में निर्मल रहो। जैसे, जब तक बादल नहीं उड़ता तब तक आकाश में चाँदनी नहीं दिखाई पड़ती, ऐसे

ही जब तक चित्त से हेय और उपादेय भाव नहीं जाता तब तक समता का उदय नहीं होता।

कर्त्तृत्व का त्याग :-

जैसे स्याही के खत्म हो जाने पर कालस स्वयं ही खत्म हो जाती है ऐसे ही स्पन्दनरूप कर्म (कर्त्तृत्वभाव) के क्षीण होने पर मन स्वयं ही क्षीण हो जाता है। चित्त और कर्त्तृत्व दोनों आग और गरमी की नाईं सम्बद्ध हैं, दोनों में से किसी एक का अभाव हो जाने पर दोनों का अभाव हो जाता है। आत्मा के अज्ञान से कर्म करने का संकल्प-युक्त होना ही बन्धन का कारण है, उसको अवश्य त्यागो। कर्मत्याग तब होता है जबकि आत्मा में से संवेदन और संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे, और कल्पनारहित शान्त भाव में उसकी स्थिति हो जाए।

सब वस्तुओं का त्याग :-

सब वस्तुओं का जब तक त्याग नहीं किया जाता तब तक आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। सब अवस्थाओं का त्याग करने पर जो बाकी रहता है वही आत्मा है। जो और सब कामों को छोड़ अपनी पूरी ताकत से आत्मा को प्राप्त करने का यत्न करता है वही आत्मा को पाता है, दूसरा कोई नहीं। जो और किसी वस्तु को प्राप्त नहीं करता वही इस परम अमृत आत्मा को पूर्णतया प्राप्त करके सब कुछ पा लेता है।

समाधि :-

यदि चित्त निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाये तो अक्षय सुषुप्ति के समान शुद्ध पद की प्राप्ति हो जाती है।

समाधि का सच्चा स्वरूप :- पद्म आसन लगाकर बैठ जाने और ब्रह्म को हाथ जोड़ कर बैठ जाने पर भी, जब तक कि मन में शान्ति नहीं, समाधि नहीं लगती। चुपचाप बैठे रहने का नाम समाधि नहीं है। सब आशा (इच्छा) रूप तिनकों को जलाने वाले अग्निरूप तत्वज्ञान को समाधि कहते हैं। समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है, और यथार्थ तत्व का ज्ञान देने वाली है। सुमेरू के समान उस स्थिर स्थिति का नाम समाधि है जिसमें चंचलता नहीं, अहंकार नहीं, और जिसमें द्वन्द्वों की भावनाएं नहीं है। मन की उस पूर्ण अवस्था का नाम समाधि है जिसमें कोई चिन्ता नहीं, जिसमें सब इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है और जिसमें हेय और उपादेय की दृष्टि नहीं है। महात्माओं की समाधि उसी समय से आरम्भ हो जाती है जब से कि ज्ञान द्वारा मन पूर्णरूप से स्थिर हो जाय। विषयों में बिल्कुल भी तृष्णा न होने का नाम समाधि है, विषयों के प्रति दृढ़ विरक्ति होने का नाम ध्यान है। समाधि और कुछ नहीं है केवल ज्ञान द्वारा मन में विषयों के प्रति विरक्ति और चारों ओर शीतलता का अनुभव है। ऐसा ध्यान

ही, जिसमें सत्य ज्ञान हो, शान्ति हो, और वासनाओं का लेश भी न हो, आनन्द पद वाला निर्वाण होता है।

मन में लीन होने का आनन्द :-

चित्त रूपी वेताल के शान्त हो जाने पर जो आनन्द अनुभव में आता है वह सारे जगत् का राज्य प्राप्त होने पर भी नहीं प्राप्त होता। सब आशाओं के ज्वर और सम्मोह रूपी बरसात को दूर करने के लिये शरदऋतु के आगमन रूप चित्तनाश के सिवाय और कोई कल्याणकारी वस्तु नहीं है। वे ही महामना, शान्त बुद्धि वाले लोग सुख भोग की सीमा पर पहुँच जाते हैं को मन को मार लेते हैं। चित्तरूपी ताम्बे को शोध कर परमार्थ रूपी सोना बनाकर सच्चा आनन्द मिलता है, शरीर रूपी पत्थरों से नहीं।

संदर्भ -

1. *योगवासिष्ठ महारामायण, भाग 1 और 2।*
2. *आत्रेय : श्री वासिष्ठ दर्शन।*
3. *आत्रेय : योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त।*
4. *Atreya : The Philosophy of Yogavasistha.*
5. *Atreya : Yogavasistha and Its Philosophy.*
6. *Atreya : Yogavasistha and Modern Thought.*

4

महाभारत में अन्तःकरण का स्वरूप एवं व्यापार

वि. मि. बेडेकर

महाभारत महाकाव्य के रूप में जैसा एक महान् इतिहास है वैसा ही वह 'धर्मशास्त्र', 'अध्यात्मशास्त्र', 'मोक्षशास्त्र' आदि का महान ग्रंथ भी है। महाभारत के दर्शन विषयक विभागों में विश्वोत्पत्तिशास्त्र, विश्व-रचनाशास्त्र, आत्मा का स्वरूप; मनोविज्ञान, बंधन और मोक्ष, वैयक्तिक और सामाजिक नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर मूलग्राही विवेचन मिलता है। विशेषत: इन तत्वज्ञानात्मक विभागों में शांतिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व यह एक बृहत्तम विभाग है जो केवल उपरिनिर्दिष्ट तत्वज्ञान विषयक विचारों से भी भरा हुआ है। इस पर्व में युधिष्ठिर के प्रश्नों के उत्तर देने के निमित्त से महान् तत्वज्ञ पितामह शांतनव भीष्म ने मानो विविध ज्ञान का भण्डार खोल दिया है। हर तात्विक विचारों का निरूपण करते समय भीष्म जी हर बार युधिष्ठिर को कहते हैं : "देखो, मैं इस संबंध में 'पुरातन इतिहास कहूँगा"। यह 'पुरातन इतिहास' देखा जाय तो प्राचीन ऋषि-मुनियों ने जो धर्मविषयक और दर्शन विषयक मूलग्राही और सूक्ष्म विचार प्राचीन काल में अपने शिष्यों के लिए प्रकट किये थे उनका कथन ही यह 'पुरातन इतिहास' है। इन सब विचारों का मूल में अध्ययन किया जाय तो उन में इतनी विविधता, भिन्नता और समृद्धता दिखाई देती है कि पाठकों का मन आश्चर्यचकित हो उठता है। दर्शन, मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयों पर प्राचीन ऋषियों के जो विचार संगृहीत कर युधिष्ठिर के (और पाठकों के) सामने भीष्म जी ने पेश किये हैं उनकी समृद्ध विविधता देखने पर ऐसा अनुमान अपरिहार्य होता है कि जिस युग में ऐसे महान् विचारक दार्शनिक विषयों में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया करते थे वह युग तो महान् जागृति या युग या अत्यन्त सजीव विचारों का युग होना चाहिये। महाभारत में, विशेषत: मोक्ष-धर्म पर्व में, जो दर्शन विषयक भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं उनका अध्ययन करने वाले संशोधकों की ऐसी राय है कि, जो उत्तर काल में भारतीय दार्शनिक विचार सांख्य,

योग, वैशेषिक, वेदान्त इत्यादि दर्शनों के रूप में विकसित हुए, उनका प्राथमिक रूप महाभारत में अवश्य उपलब्ध होता है। इसलिये भारत के दर्शनान्तर्गत विचारों के क्रमबद्ध इतिहास का जो अध्ययन करना चाहते हैं उनकी दृष्टि से महाभारतान्र्गत, विशेषत: मोक्षधर्मान्तर्गत विचारों का महत्व असीम है। इस दृष्टि से ही प्रस्तुत निबन्ध में, भारतीय 'मनोविज्ञान' का कौन सा पूर्व रूप महाभारतान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व में से उपलब्ध होता है, यह निश्चित करने का अल्प प्रयत्न किया गया है।

मोक्षधर्म में भारतीय मनोविज्ञान का जो पूर्व रूप मिलता है वह भारतीय दर्शनान्तर्गत 'मनोविज्ञान' के स्वरूप से किस तरह विभिन्न है यह जानने के लिये पहले प्रमुख भारतीय दर्शनों में 'मनोविज्ञान' का जो परिनिष्पन्न विचार उपलब्ध है, उसका यहाँ संक्षेपत: उल्लेख करना उचित होगा। भारतीय दर्शनों में मानसिक व्यापारों की परिपाटी का सविस्तर विचार विमर्श करने वाले सांख्य और वेदान्त ये दो प्रमुख दर्शन हैं। सांख्य में दर्शन मानसिक व्यापारों की समग्र आलोचना और सुसूत्र रचना त्रिविध अन्त:करण में की गयी है। इस त्रिविधि अन्त:करण का वर्णन सांख्य दर्शन में इस प्रकार है[1] -

(i) शरीर के अभ्यन्तर मानसिक व्यापार करने वाले 'अन्त:करणों' में पहला और श्रेष्ठ स्थान बुद्धि का है। प्रकृति से उद्‌भूत होनेवाली प्रथम सृष्टि या महान् बुद्धि है। बुद्धि का असाधारण व्यापार 'अध्यवसाय' या 'विनिश्चय करना' है। बुद्धि का सात्विक रूप धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य इनमें प्रकट होता है और तामस रूप इनके विपरीत धर्मों अधर्म, अज्ञान, अविराग और अनैश्वर्य में व्यक्त होता है।

(ii) दूसरा 'अन्त:करण' अहंकार नामक है जो बुद्धि तत्व से आविर्भूत होता है। उसका विशिष्ट व्यापार है 'अभिमान'। ज्ञानेन्द्रियों ने जो कुछ 'आलोचन' किया है उस पर मन संकल्प करता है। 'यह आलोचन और संकल्प करने वाला मैं ही हूँ', यह अभिमान का स्वरूप है।

(iii) अन्त:करणों में तीसरा और आखिरी स्थान है मन का। मन अहंकार का सात्विक प्रादुर्भाव है। मन का विशिष्ट व्यापार संकल्प करना है।

उपरिनिर्दिष्ट वर्णन से विदित होता है कि सांख्यदर्शन तीन अन्त:करणों की प्रचीयमान श्रेणियां मानता है :- पहला है मन, उससे उच्चतर अहंकार और उससे उच्चतम है बुद्धि। ज्ञानप्रक्रिया को एक क्रमश: वर्धमान होने वाली अर्थज्ञान प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है *(The process of knowledge is viewed as a growing sense of meaning)* - पहिली इन्द्रिय संवेदना और आखिरी विनिश्चय। इस प्रक्रिया (परिपाटी) में व्यक्त होने वाली ज्ञानप्रक्रिया का विभाजन यहां तीन करणों में किया गया है। इन्द्रियों के आलोचन का संकल्प, या सम्यक् विशेषण-विशेष्य भाव से संकल्प या विवेचन करने वाला मन, इन सब व्यापारों में 'मैं अधिकृत हूं', ऐसा मानने वाला अहंकार

और 'मेरा यह कर्त्तव्य है' ऐसा विनिश्चय करने वाली बुद्धि, ऐसी यह ज्ञान-प्रक्रिया की चढ़ती श्रेणी है। वेदान्त दर्शन में भी इस प्रकार अन्त:करण तो मूल में एक ही है लेकिन उसकी वृत्ति या व्यापार चतुर्दिक है और इसी चतुर्विध प्रत्येक के लिये अन्त:करण की संज्ञा वेदान्तदर्शन में दी है। इनमें संशयवृत्ति के लिये मन, निश्चयवृत्ति के लिये बुद्धि, गर्व के लिये अहंकार और स्मरण के लिये चित्त संज्ञा है।[2]

मानसिक व्यापारों का वर्गीकरण, अन्त:करणों के द्वारा जिन मानसिक व्यापारों का आवेष्टन होता है उनका संज्ञाकरण, सांख्य और वेदान्त दर्शन में उपरिनिर्दिष्ट तरह से मिलता है। मानसिक व्यापारों का सूत्रीकरण, वर्गीकरण और नामकरण, इनका जो दार्शनिक चित्र यहाँ उपलब्ध होता है उसकी तुलना मोक्षधर्मान्तर्गत मनोविज्ञान विषयक विचारों से की जाय तो उसमें महान् भेद दिखाई देता है। मोक्षधर्मपर्व में -

(i) कई ऐसे अध्याय हैं कि जिनमें मन ही एकमेव अन्त:करण माना गया है। अहंकार और बुद्धि को स्थान ही नहीं दिया गया है।

(ii) कई दूसरे ऐसे अध्याय हैं जिनमें केवल मन और बुद्धि को ही स्थान प्राप्त है। अहंकार का उल्लेख ही नहीं है।

(iii) और ऐसे भी अध्याय समूह हैं जिनमें तीनों ही अन्त:करणों का निर्देश है, लेकिन उनका व्यापार या कार्य दार्शनिक अन्त:करण के व्यापार और कार्य से भिन्न है, ऐसा उनके वर्णन से प्रतीत होता है।

अन्त:करण के विचार के विषय में मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों के तीन वर्ग हमने किये हैं। पर उनसे सयुक्तिक अनुमान किया जा सकता है कि मोक्षधर्म पर्व में अन्त:करण विषयक विचार का मानो स्थूल इतिहास उपलब्ध है और दर्शन के पूर्व काल में अन्त:करणविषयक विचार कैसा प्रकट और परिणत होता गया इसकी झाँकी यहाँ मिलती है। इस दृष्टि से, मोक्षधर्मपर्वगत अध्यायों के जो तीन वर्ग बतलाये गये हैं उनमें से प्रत्येक वर्ग का किंचित् सविस्तर वर्णन करना और तद्गत अन्त:करणविषयक विचारों पर अधिक ध्यान देना उचित होगा।

(1)

मोक्षधर्मपर्व के अध्यायों के पहले वर्ग में ,जिन अध्यायों में मानसिक व्यापारों के लिये मन ही एकमात्र और सर्वोच्च अन्त:करण माना गया है, नीचे दिये हुए अध्याय[3] समाविष्ट हैं -

	(i)	म.भा.	12.175-180
	(ii)	'' ''	12. 211-212
	(iii)	'' ''	12. 224-225

(i) अध्याय 12.175-180। इन अध्यायों में शक्ति ने युधिष्ठिर को भृगु-भरद्वाज संवाद कथन किया है। भृगु कहता है - ''ज्ञान के लिये मन ही आवश्यक है। मन व्याकुल हो तो

ज्ञान नहीं होता।''[4]भृगु की दृष्टि से मन इतना श्रेष्ठ तत्व है कि साक्षात् ईश्वर को वे सृष्टि को मन से निर्माण करने वाला 'मानस' (मनोयुक्त) कहते हैं[5]और जीव तत्व को शरीरान्तर्गत 'मानस अग्नि' कहते हैं।[6]

(ii) अध्याय 12.211-212 इन अध्यायों में पंचशिख-जनक-संवाद का कथन भीष्म ने किया है। पंचशिख मन को श्रेष्ठ अन्त:करण मानता है और ज्ञान के लिये मन या चित्त का व्यापार आवश्यक बतलाता है।[7] ज्ञानेन्द्रियों के ही नहीं कमेन्द्रियों के व्यापार के लिये भी मन आवश्यक है। पंचशिख की दृष्टि से अच्छा विवेचक मन ही (सम्यगमन:) मोक्ष को पहुंचाने वाला 'त्याग शास्त्र' है।[8] पंचशिखमुनि क्षेत्रज्ञ या जीव उसी भाव को कहते हैं जो मन में रहता है।[9]

(iii) अध्याय 12. 224-225। ये दो अध्याय 'शुकानुप्रश्न' नामक अध्याय समूह के अंतर्गत हैं। 'शुकानुप्रश्न' में व्यास महर्षि अपने पुत्र शुक को अनेक दर्शन विषयक प्रश्नों पर उपदेश करते हैं और ऐसे करते हुए उन्होंने भिन्न भिन्न मतों का निर्देश किया है। 'शुकानुप्रश्न' विभाग का विस्तार अध्याय 224 से 247 तक है। इनमें आरम्भ के 224-225 अध्यायों में, मनन ही केवल एकमेव अन्त:करण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। सृष्टि का क्रम कहते समय व्यास जी कहते हैं - [10]''ब्रह्म ने पहले महद् भूत उत्पन्न किया। महद् भूत से व्यग्र स्वरूप मन निर्माण हुआ। मन का स्वभाव है दूर जाना, वह अनेक विषयों की ओर आकृष्ट होता है। उसका व्यापार है इच्छा और संशय। मन ने सृष्टि निर्माण की इच्छा से प्रेरित होकर आकाश का निर्माण किया। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी। महद्भूत से लेकर पृथ्वी तक सात तत्वों को सप्त पुरुष कहते हैं। ये सप्त पुरुष अन्योन्य से मिलकर, अन्योन्य का आश्रय लेकर मानव शरीर में प्रविष्ट हुए। इन शरीराश्रित सप्त पुरुषों के मिलाप को मानव 'पुरुष' कहते हैं।''

अध्याय 225 में व्यास जी सृष्टि के प्रलय या प्रतिसंचर को स्पष्ट करते समय कहते हैं कि सृष्टि के विपरीत क्रम *(reverse order)* से तत्वों का प्रलय होता है। प्रलय के समय में पृथ्वी जल में विलीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश मन में विलीन होते हैं। आखिर में व्यक्त मन अव्यक्त महद्भूत में विलीन होता है।[11] इस प्रलय-क्रम में भी मन ही पहली व्यक्त सृष्टि है और वह महद्भूत से उत्पन्न होती है, ऐसा दिखाइ पड़ता है।

इस शुकानुप्रश्न विभाग में 239 वें अध्याय में मन ही एक श्रेष्ठ अन्त:करण है जिसका उपयोग हृदयाश्रित भूतात्मा करता है, ऐसा निर्देश है। आत्मदर्शन चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं होता, केवल प्रकाश-युक्त मन से ही होता है, ऐसा ही वर्णन है।[12]

उपरिनिर्दिष्ट तीन अध्याय-समूहों में जो मनोविज्ञान विषयक विचारों की रूपरेखा बतलाई है उससे यह विदित होगा कि इन विचारकों की दृष्टि से मन ही एक अन्त:करण

है जिससे सब मानसिक व्यापार - ज्ञान *(Cognition)*, भावना *(feeling)* और निश्चयरूप प्रवृत्ति *(Willing)* किये जाते हैं। भारतीय मनोविज्ञान शास्त्र के विकास के इतिहास की प्राथमिक अवस्था इससे सूचित होती है। इसमें अब तक जिन कारणों से मानसिक व्यापार हुआ करते हैं उस मन, अहंकार आदि का, व्यवस्थित विभाजन, संघटन और नामकरण किया गया है, जो अब तक पूर्व विचारकों द्वारा नहीं हुआ था। मनोविज्ञान के विकास की यह प्राथमिक अवस्था प्राचीन उपनिषदों से भी ज्ञात होती है, जहां केवल एक मन का ही अन्त:करण के रूप से निर्देश उपलब्ध है।[13] मानव जब दार्शनिक विचार-पथ पर प्रवृत्त होकर अपने मन पर विचार करने लगा तब मन की अद्भुत शक्ति देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ। उसको प्रतीत हुआ कि जड़ सृष्टि से मानव को अलग कर उसे श्रेष्ठता देने वाली एक ही चीज है और वह है - मन। सृष्टि का मूल या सर्वोच्च कारण जो कोई भी शक्ति हो, उसका यथार्थ स्वरूप 'मानस', 'मनोविशिष्ट' या 'चित्स्वरूप' अवश्य होगा, यह सिद्धान्त इस समय उसने प्रस्थापित किया। शास्त्रज्ञों का कहना है कि दर्शन, श्रवण इत्यादि ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं, मन द्वारा ही होता है। यह स्पष्ट प्रतीति जब मानव को होती है तब वह इस प्रतीति के आधार पर मनोविज्ञान शास्त्र की नींव डालता है।[14] इस दृष्टि से देखा जाय तो उपरिनिर्दिष्ट मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायसमूहों की मनोवैज्ञानिक विचारधारा से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में मनोवैज्ञानिक संशोधन का शुभारंभ मोक्षधर्म पर्व में हुआ।

(2)

मोक्षधर्म पर्व में अध्याय समूहों का एक ऐसा दूसरा वर्ग है जिसमें दो अन्त:करणों - बुद्धि और मन - का वर्णन है। इन दोनों में भी बुद्धि उच्चतर और श्रेष्ठ मानी गयी है। मनोविज्ञान के इतिहास में यह दूसरी अवस्था या सोपान है। इस अध्याय समूहों में अहंकार का निर्देश नहीं है,यह बात भी इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन अध्यायों में वर्णित बुद्धि व मन का स्थान और व्यापार यहां संक्षेप में दिये जा रहे हैं -

(i) अध्याय 187। इस अध्याय में भीष्म युधिष्ठिर को 'अध्यात्म' कथन करते हैं। इस अध्याय के विषय को और उसकी संहिता *(Text)* को प्राचीनकाल में बड़ा गौरव और महत्व प्राप्त था, क्योंकि इस अध्याय की संहिता *(Text)* महाभारत में भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलती है।

इस अध्याय में बुद्धि और मन के स्थान और व्यापार *(functions)* का वर्णन किया गया है।[15] मन ज्ञानेन्द्रियों की पंक्ति में समाविष्ट होकर ज्ञानग्रहण के कारकों की मदद करता है। वह संकल्प और संशय करता है। बुद्धि अध्यवसाय या निश्चय करती है। जीवात्मा या पुरुष से अधिष्ठित बुद्धि सुख-दुख, असुख-दु:ख इन भावों का अनुभव करती है। बुद्धि ही स्वयं मन, ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि का रूप लेती है।

(ii) अध्याय 194-199। ये अध्याय मनु-बृहस्पति संवाद कहलाते हैं। मनु बृहस्पति से

कहते हैं कि - इन्द्रियों से उच्चतर और श्रेष्ठ मन है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से सर्वोच्च परब्रह्म। मन ही श्रोत्रादि से युक्त होकर शब्दादि ग्रहण करता है। मन आकांक्षा करता है। बुद्धि का गुण व्यवसाय या निश्चय है। बुद्धि ही स्मरण करती है। बुद्धि ही कार्य के लिये प्रवृत्त करती है। जब कर्मगुणयुक्त बुद्धि मन में विलीन हो जाती है तब ध्यानयोग समाधि से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।[16]

मनु इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि बुद्धि और मन भी स्वयं कुछ ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकते। वे तो केवल साधनभूत हैं। क्षेत्रज्ञ या जीवात्मा के वे साधन हैं। आत्मा स्वयं सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है और वही खुद ज्ञानग्रहण करती है।[17]

(iii) अध्याय 238-240; 242; 244-248। ये अध्याय शुकानुप्रश्न संवाद के अन्तर्गत हैं। शुकानुप्रश्न विभाग विविध विषयों से भरा हुआ है और इसमें विभिन्न मतों का निरूपण किया गया है। 'शुकानुप्रश्न' में कई ऐसे अध्याय हैं कि जिनमें 'मन ही एकमेव और श्रेष्ठ अन्त:करण है' ऐसा वर्णन किया गया है, यह बात हमने पहले ही स्पष्ट कर दी है। और दूसरे कई निर्दिष्ट अध्याय हैं जिनमें बुद्धि और मन इन दो अन्त:करणों का वर्णन आया है। यही वर्णन हम यहाँ संक्षेप में उपस्थित करते हैं।

व्यास शुक से कहते हैं[18] - ''इन्द्रियों से परे अर्थ है, अर्थों से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे महान् आत्मा, महान् आत्मा से परे अव्यक्त और अव्यक्त से परे वह अमृत ब्रह्म। बुद्धि ही अनेक रूप लेती है। जब वह सुनती है तब श्रोत्र बनती है, जब कुछ अभिलाषा करती है तो मन बनती है। मन संशय करता है और बुद्धि अध्यवसाय या निश्चय करती है।'' ''मन व्याकरण करता है, पृथक्करण करता है, और बुद्धि निश्चय करती है।''[19]

व्यास जी ने शुकानुप्रश्न में मन और बुद्धि के स्थान पर तथा व्यापार पर एक रोचक रूप से प्रकाश डाला है। वे कहते हैं - ''शरीर एक नगर है। उसकी स्वामिनी है बुद्धि। मन इस स्वामिनी का अर्थ-सचिव है। इन्द्रिय नागरिक जन है। जिस बात को बुद्धि का अधिष्ठान है वह नाश के पथ पर नहीं जाती। जहां मन बुद्धि से अलग होकर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करता है वहां नाश होता है ; सब शून्य होकर रज से, रजोगुण से (खाक से) भर जाता है।''[20]

'शुकानुप्रश्न' के इन अध्यायों में एक जगह व्यासजी के कथन में मन और बुद्धि के व्यापारों का सविस्तर वर्गीकरण और वर्णन है। मन के नौ व्यापार या गुण और बुद्धि के पांच माने गये हैं।[21] इन वर्गीकृत व्यापारों को देखा जाये तो इन पर से तर्क किया जा सकता है कि यह प्राचीन भारतीय विचारकों का मनोविज्ञान विषयक सूक्ष्म विश्लेषण का एक महान् प्रयत्न है और उसका मनोविज्ञान के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है।

(iv) अध्याय 308। यह अध्याय सुलभा-जनक संवाद नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में सुविख्यात संन्यासिनी सुलभा जनक राजा के साथ चर्चा करती हुई अपने दर्शन का

परिचय देती है। मानव और उसका विश्व के साथ संबंध, इनका पृथक्करण सुलभा ने तीस कलाओं या तत्वों (त्रिंशत्कला समूह) में किया है। इन तीस कलाओं में मन एकादशी कला या गुण और बुद्धि द्वादशी कला या गुण गिनी गयी है। साधु और असाधु, अच्छा और बुरा, इसमें पृथक्करण करते समय संशय करना, यह मन का व्यापार है। बौद्धिक या ज्ञातव्य के बारे में मन ने जो संशय प्रकट किया है उस पर निर्णय करके निश्चय करना यह बुद्धि का काम यहाँ बतलाया गया है।[22]

(v) अध्याय 267। इस अध्याय को असितदेवल-नारद संवाद कहते हैं। इसमें असितदेवल ने, शरीरी आत्मा किन तत्वों से बना हुआ है, इसका निरूपण किया है। इन तत्वों में चित्त, मन और बुद्धि इन तीनों अन्त:करणों का अन्तर्भाव है। मानव जो ज्ञान ग्रहण करता है वह क्रमश: प्रचीयमान जैसी त्रिविध सोपान परम्परा से चढ़ती तीन पोड़ियों की श्रेणी है जिनमें पहला चिन्ता, दूसरा मन और तीसरा बुद्धि है। मन से पहला चिन्ता एक और सोपान माना गया है, यह असितदेवल के तत्वकथन की विशेषता है। चित्त, मन और बुद्धि इन तीन अन्त:करणों के व्यापारों का वर्णन असितदेवल ने ऐसा किया हैं : "पहले चित्त से मानव ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों का पृथक् ग्रहण करता है (चेतयते)। पश्चात् मन से उस पर विचार करता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, चित्त, मन और बुद्धि ये आठ आत्मा के ज्ञानेन्द्रिय हैं, ऐसी अध्यात्मचिंतकों की राय है।"[23] साधारण मन के व्यापार में इन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों का निर्विकल्प ग्रहण और उन पर संकल्प इन दोनों का समावेश होता है। असितदेवल ने यहां अधिक स्फुटता के लिये इन दोनों व्यापारों का विभाजन दो अन्त:कारणों में - इन्द्रिय द्वारा प्राप्त विषयों को निर्विकल्प ग्रहण करने वाला चित्त और उन पर संकल्प, विकल्प करने वाला मन इन दोनों में किया है, ऐसा अनुमान हो सकता है। असितदेवल के विचारों में और भी एक स्फुट विशेषता पायी जाती है। चित्त, मन और बुद्धि ये सब ज्ञानेन्द्रियों की पंक्ति में ही हैं, ये ज्ञानेन्द्रिय शरीरी जीवात्मा के ज्ञान साधन हैं, इनके द्वारा शरीरी आत्मा बाह्य विश्व का ज्ञान से ग्रहण करता है, यह स्फुटतया बताकर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के कारण या इन्द्रिय इस त्रिपुटी का अत्यंत रोचक और स्पष्ट विधान असितदेवल के संवाद में किया गया है।

(3)

मोक्षधर्म पर्व में अध्यायसमूहों का एक तीसरा वर्ग है जिसमें बुद्धि, अहंकार और मन इन तीनों ही अन्त:करणों का निर्देश है। सांख्य दर्शनान्तर्गत त्रिविध अन्त:करण के सदृश यह निर्देश है, लेकिन इन दोनों में कुछ फर्क भी दिखाई देता है। यह फर्क नीचे स्पष्ट हो जायेगा। त्रिविध अन्त:करण का निर्देश करने वाले अध्याय समूह इस प्रकार हैं:

(i) अध्याय 203-210। यह अध्यायसमूह 'गुरुशिष्य संवाद' नाम से कहा जाता है। पुरुषाधिष्ठित प्रकृति सृष्टि-निर्माण करती है, ऐसा कहते समय गुरु जी शिष्य को इस

सृष्टि का विवरण बतलाते हैं।[24] "पुरुषाधिष्ठित प्रकृति से बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से पृथ्वी। प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और पंच महाभूत ये आठ मूल प्रकृतियां हैं। इन मूल प्रकृतियों से पांच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच विषय और सोलहवां मन, ये षोडश विकार उत्पन्न होते हैं। मन के व्यापार का वर्णन गुरु जी ने ऐसा किया है - "मन शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषयों से तथा जिह्वा, वागादि इन्द्रियों से संबद्ध है। जैसा श्रोत्र का गुण शब्द है, चक्षु का तेज, वैसे मन का भी एक गुण है और वह है अव्यक्त से उत्पन्न हुआ सत्व या ज्ञान।"

इस वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि इसमें समाविष्ट त्रिविध अन्त:करण का वर्णन सांख्यान्तर्गत त्रिविध अन्त:करण से भिन्न है। सांख्य दर्शन में बुद्धि और अहंकार को 'प्रकृति-विकृति' कहते हैं लेकिन ऊपर गुरु-शिष्य संवाद में उनको कहा है - मूल प्रकृति। सांख्य दर्शन में अहंकार के दो प्रकार माने गये हैं : वैकृत और भूतादि। वैकृत से ज्ञानकर्मेन्द्रिय और मन यह सात्विक संघात उत्पन्न होता है और भूतादि से पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होतीं हैं। गुरु-शिष्यसंवाद में अहंकार का ऐसा प्रकार भेद नहीं है। और जैसा मन के व्यापार का थोड़ा निर्देश पाया जाता है वैसा बुद्धि और अहंकार के व्यापारों का पाया जाता है। इस पद से ऐसा अनुमान होता है कि गुरु वस्तुत: शिष्य के सामने बुद्धि और अहंकार का समष्टिगत *(Macro cosmic)* दृष्टि से वर्णन करते हैं, व्यष्टिगत *(Micro cosmic)* दृष्टि से नहीं। इसलिये बुद्धि और अहंकार के व्यष्टिगत व्यापारों का वर्णन यहां नहीं मिलता है।

(ii) अध्याय 271-276। इस वसिष्ठ-करालजनक संवाद में वसिष्ठ ऋषि करालजनक के सामने सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन कर रहे हैं। वसिष्ठ कहते हैं - "शंभु जिसको हिरण्यगर्भ कहते हैं वह बुद्धि-निर्माण करता है। बुद्धिरूप हिरणयगर्भ विकृति पाकर अहंकार, जिसका नाम प्रजापति है, का निर्माण करता है। यह दूसरा सर्ग है। तीसरा सर्ग अहंकार से उत्पन्न होने वाला (सूक्ष्म) भूत सर्ग है। इससे स्थूल आकाशादि महाभूत और शब्दस्पर्शादि अर्थ यह चतुर्थ सर्ग उत्पन्न होता है। चतुर्थ सर्ग से उत्पन्न होने वाला पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और एकादश मन इनका भौतिक सर्ग है।"[26]

यहां भी बुद्धि, अहंकार आदि इन अन्त:करणों का निर्देश है, लेकिन वह समष्टिगत *(Cosmic)* दृष्टि से है। इनके व्यक्तिगत स्थान और व्यापारों का वर्णन वसिष्ठ ने नहीं किया है। समष्टिगत अहंकार का भी यहाँ जो स्वरूप वर्णित है वह सांख्यदर्शनान्तर्गत अहंकार से भिन्न हैं। सांख्यदर्शन में अहंकार से सृष्टिक्रम समभूमिक *(Horizontal)* है - अहंकार के सात्विक और तामस इन दो प्रकारों से अनुक्रमेण एकादशेन्द्रिय सृष्टि और तन्मात्रसृष्टि निर्माण होती है। उपरिवर्णित वासिष्ठमत के अनुसार अहंकार से सृष्टिक्रम ऊर्ध्वाभिमुख *(vertical)* होता है। अहंकार से सूक्ष्म भूत और सूक्ष्म भूतों से स्थूल भूत और शब्द स्पर्शादि अर्थ इत्यादि।

(iii) अध्याय 278-306। ये अध्याय याज्ञवल्क्य-जनक संवाद कहलाते हैं। इस संवाद में याज्ञवल्क्य ने पूर्वोक्त अध्यायसमूह के सदृश ही विश्वघटक तत्वों का आठ मूलप्रवृत्तियों और षोडश विकारों में विभाजन किया है। बुद्धि और अहंकार अष्ट प्रकृतियों में समाविष्ट हैं और मन विकारों में।[27] यहाँ भी बुद्धि और अहंकार इन अंत:करणों का विचार समष्टिगत *(Cosmic)* दृष्टि से ही किया गया है। इसलिये यहाँ उनके व्यक्तिगत व्यापारों का कथन नहीं है।

याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में दूसरी जगह अव्यक्त से उत्पन्न होने वाले तत्वों का कुछ ऐसा परिगणन किया गया है कि तत्वों के क्रम में फर्क दीख पड़ता है। उन श्लोकों का तात्पर्य देना उचित होगा। याज्ञवल्क्य कहते हैं[28] - "अव्यक्त से महान् आत्मा (बुद्धि) का निर्माण होता है, जिसको प्रथम प्राधानिक सर्ग कहते हैं। महान् से अहंकार यह बुद्ध्यात्मक द्वितीय सर्ग उत्पन्न होता है। अहंकार से भूतगुणात्मक मन उत्पन्न होता है। इसको तृतीय अहंकारिक सर्ग कहते हैं। मन से महाभूत उत्पन्न होते हैं, जो चतुर्थ मानस सर्ग कहा जाता है। भूतों से शब्दस्पर्शादि पंचम भौतिक सर्ग उत्पन्न होता है।" इस सृष्टि क्रम से यह स्पष्ट होता है कि मन के स्थान में वृद्धि हुई है। मन अहंकार की विकृति है और महाभूतों की प्रकृति बना है।

याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में एक जगह प्रलय का वर्णन है, जिस प्रलय में प्रत्येक तत्व अपने प्रकृतितत्व में प्रलीन हो जाते हैं।[30] "जगत् जल से आपूर्ण हो जाता है। कालाग्नि से जल का क्षय हो जाता है। वायु अग्नि को खाता है। आकाश वायु का ग्रास करता है। मन का लय अहंकार में, अहंकार का महान् में, और महत् का शम्भु में लय हो जाता है।" इस प्रलयक्रम में भी मन आकाश की प्रकृति मानी गयी है। याज्ञवल्क्य ने मन का परिगणन समष्टिरूप तत्वों में किया है, ऐसा उपरिनिर्दिष्ट सृष्टि और प्रलयक्रम से अनुमान होता है।

इस तीसरे वर्ग में जो अध्यायसमूह ऊपर निर्दिष्ट हैं उनमें वर्णित त्रिविध अन्त:करण का निरूपण व्यक्ति-दृष्टि से न होकर समष्टि-दृष्टि से ही है। उनमें यदि कोई व्यक्ति अभिप्रेत हो तो वह विश्वात्मा समष्टिरूप परमेश्वर नहीं हो सकता है। उसके दो समष्टिरूप *(cosmic)* अन्त:करण - बुद्धि और अहंकार - विश्व सृष्टि के क्रम में महान् प्रकृति-विकृति रूप तत्वों का स्थान ले सकते हैं।

अभी तक हमने मोक्षधर्मान्तर्गत अध्याय समूहों का तीन वर्गों में वर्गीकरण किया है। इन तीन वर्गों में अंत:करण के स्थान और व्यापारों का जो वर्णन आया है इससे मनोविज्ञान के विकास का इतिहास सूचित होता है। इस इतिहास से, स्थूल दृष्टि से, विकास की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट होती हैं।

भारतीय मनोविज्ञान की पहली और प्राचीनतम अवस्था वह है जिसमें मन को ही एकमेव सर्वश्रेष्ठ अन्त:करण माना गया है। सब प्रकार के मानसिक व्यापार ज्ञान *(Knowledge)*,प्रवृत्ति, निश्चय *(Willing)* और भावना *(Feeling)* ये सब मन के द्वारा ही हो सकते हैं, ऐसी विचारधारा विचारकों की इस विकासावस्था में थी। प्राचीनतम उपनिषदों में भी यही विचारधारा मिलती है। महाभारत में, मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में, इसी विचारधारा का अधिक सविस्तर रूप से वर्णन मिलता है। मनोविज्ञानविषयक इतिहास की दृष्टि से, उपरिवर्णित मोक्षधर्मान्तर्गत अध्याय समूहों में से प्रथम वर्ग में जो एकमेव अन्त:करण मन का वर्णन मिलता है वह प्राचीन उपनिषदों के मन के वर्णन के जैसा नजदीक है वैसा ही वह अधिक विस्तृत होने से उपनिषदुत्तरकालीन है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

मनोविज्ञान के इतिहास में दूसरी स्थिति वह है जिसमें मन के अतिरिक्त दूसरा अन्त:करण, जो बुद्धि है, उसका समावेश होता है। ज्ञान में निश्चय और एकसूत्रीकरण *(determination and integration)* करना यह बुद्धि का काम है। दूसरे वर्ग के अध्यायसमूहों में बुद्धि और मन का जो वर्णन आया है वह भी कई प्राचीन उपनिषदों से मिलता जुलता किंतु अधिक सविस्तर है। प्राचीन उपनिषदों में विज्ञान मन से उच्चतर कहा गया है। दूसरे उपनिषदों में विज्ञान के बजाय बुद्धि को यह स्थान प्राप्त है। मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में से द्वितीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों में भी बुद्धि को ऐसा ही उच्च स्थान दिया गया है और उसके व्यापार का सविस्तर वर्णन किया गया है। इसलिये मोक्षधर्मान्तर्गत बुद्धि और मन के स्थान और व्यापारों का वर्णन विचारो के इतिहास की दृष्टि से उपनिषत्कालीन विचारधारा की ही प्रगत स्थिति है।

उपर्युक्त दो अवस्थाओंमें अहंकार का निर्देश नहीं है। अन्त:करण के रूप में अहंकार का निर्देश प्राचीन उपनिषदों में भी नहीं उपलब्ध होता। अहंकार का अंत:करण में समावेश यह मनोविज्ञानविषयक इतिहास में तीसरी अवस्था है। वह मोक्षधर्मान्तर्गत अध्यायों में से तृतीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों के मंतव्य से मिलता है। वहाँ बुद्धि, अहंकार और मन यह अन्त:करणत्रय निर्दिष्ट हैं। यह तीसरी अवस्था संक्रमणकाल की है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। इसके पूर्व प्राचीन उपनिषदों का काल, जब अहंकार का अन्त:करण के रूप में निर्देश नहीं मिलता, और इसके उत्तर सांख्यादि दर्शनों का काल, जिसमें त्रिविध अन्त:करण का *(Systematic)* सुव्यवस्थित और दार्शनिक स्वरूप में विवरण होता है, इन दोनों कालों के बीच जो संक्रमणकाल है उसका स्वरूप मोक्षधर्मान्तर्गत तृतीय वर्ग में वर्गीकृत अध्यायों में मिलता है।

संदर्भ -

1. ईश्वरकृष्णरचित 'सांख्यकारिका' - कारिका 23-35।
2. साचवृत्तिश्चतुर्विधा । संशयो, निश्चयो, गर्वः, स्मरणम् इति । एवंविधवृत्तिभेदेन एक - मप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धि इति अहंकार इति चित्तमिति व्याख्यायते। तदुक्तम् -

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणामान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्रसूरिकृता प्रत्यक्षपरिच्छेदः। पृष्ठ 31(क्षेमराज, श्रीकृष्णदास)
3. महाभारत अध्यायों के अंक का निर्देशन और संदर्भ भांडारकर प्राच्चविद्यामन्दिर से प्रकाशित संशोधित महाभारत आवृत्ति के अनुसार हैं।
4. सर्वे पश्यति यद्दृश्यं मनोयुक्तेन चक्षुषा।
मनसि व्याकुले तद्धि पश्यन्नपि न पश्यति ॥ 12.180.16
5. प्रजाविसर्गं विविधं मानसो मनसासृजत्। 12.176.2
6. मनसोऽपि शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते। 12.180.30
7. इन्द्रियाणीति पञ्चैते चिन्तपूर्वगमा गुणाः। 12.212.10
पश्च ज्ञानेन्द्रियाणयुक्त्वा मनःषष्ठानि चेतसि।
मनः षष्ठानि वक्ष्यामि पश्च कर्मेन्द्रियाणितु ॥ 12.212.20
8. तत्र सम्यङ्मनो नाम त्याग शास्त्रमनुत्तमम् ॥
श्रृणु यत्तव मोक्षाय भाष्यमाणं भविष्यति ॥ 112.213.16
९. स्थितो मनसि यो भावः सर्वैः क्षेत्रज्ञ उच्यते। 12.212.40
10. प्रतिबुद्धो विकुरुते ब्रह्माक्षय्यं क्षपाक्षये।
सृजते च महद्भूतं तस्माद् व्यक्तात्मकं मनः ॥ 37
दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्। 34
मनः सृष्टिं विकरुते चोद्यमानं सिसुक्षया।
आकाशं जायते तस्माद् तस्य शब्दो गुणो मत : ॥ 35
आकाशात्तु विकुर्वाणात्... वायुः। 36
वायोर्विकुर्वाणज्योतिः। 37
एते तु सप्त पुरुषा नानावीर्याः। 47
ते समेत्य महात्मानमन्योन्यमभिसंश्रिताः।
शरीराश्रयणं प्राप्तास्ततः पुरुष उच्यते ॥ 42 -अध्याय 224

11. प्रशाम्यति तदा वायु: खं तु तिष्ठति नानदत् ।। 9
आकाशस्य गुणं शब्दं अभिव्यक्तात्मकं मन: ।
मनसो व्यक्तमव्यक्तं स ब्राह्म: प्रतिसंचर: ।। 10 -अध्याय 225

12. इन्द्रियाणि मनो युङ्क्ते वश्यान् यन्तेव वाजिन: ।
मनश्चापि सदा युङ्क्ते भूतात्मा हृदयाश्रित: ।। 11
न धृयं चक्षुषा दृश्यो नच सर्वैरपीन्द्रियै: ।
मनसा संप्रदीप्तेन महानात्मा प्रकाशते ।। 16 -अध्याय 232

13. कठोपनिषद् 1.15.45 ऐतरेयोपनिषद् 2 ।
छांदोग्योपनिषद् 3.14.2 ; 5. 7.3-5.

14. *The clear asseration that it is the mind which sees and hears (and not the external organs separately) is the beginning of psychological investigation- "G.S. Brett ' History of Psychology', Encyclopeadia Britannica (14th edition) Vol. 18.p. 706 (c).*

15. इन्द्रियाणि मनश्चैव विज्ञानान्यस्य भारत ।
सप्तमी बुद्धिरित्याहु: क्षेत्रज्ञ: पुनरष्ट: ।। 11
चक्षुरालोकनायैव संशयं कुरुते मन: ।
बुद्धिरध्यवसायाय क्षेत्रज्ञ: साक्षिवास्थित: ।। 32
गुणान्नेनीयते बुद्धि: बुद्धिरेवेन्द्रियाण्यपि ।
येन पश्यति तच्चक्षु: शृणोति श्रोत्रमुच्यते ।
जिघ्रति घ्राणमित्याहु: रसं जानाति जिह्वया ।। 18
त्वचा स्पृशति च स्पर्शान् बुद्धिर्विर्भियद्यसकृत् ।
येन संकल्पयत्यर्थं किंचिद्भवति तन्मन: । 17
पुरुषाधिष्ठिता बुद्धिस्त्रिषु भावेषु वर्तते ।
कदाचिल्लभते प्रीति कदाचिदनुशोचति ।। 21
न सुखेन न दु:खेन कदाचिदपि वर्तते । 22 -अध्याय 107

16. इन्द्रियेभ्य: मन: पूर्वं बुद्धि परतरा तत: ।
बुद्धे: परतरं ज्ञानं ज्ञानात् परतरं परम् ।। 190.10
अव्यक्तात्ममृतं ज्ञानं ततो बुद्धिस्ततो मन: ।
मन: श्रोत्रादिभिर्युक्तं शब्दादीन् साधु पश्यति ।। 197.11
मनसा चान्यदाकांक्षन् परं न प्रतिपद्यते । 199.21
विद्धि ज्ञानगुणं मन: । प्रज्ञाकरणसंयुक्तं ततोबुद्धि:प्रवर्तते ।। 198.1
व्यवसायगुणोपेता बुद्धि: । 198.8

प्राप्तान् गुणान् संस्मरते चिराय स बुद्धिरूप: परम: स्वभाव: ॥ 176.9
यदा कर्मगुणोपेतां बुद्धिर्मनसि वर्तते ।
तदा प्रज्ञायते ब्रह्म ध्यानयोग समाधिना ॥ 198.9

17. श्रोत्रादीनि न पश्यन्ति स्वंस्वमात्मनमात्मना,
सर्वज्ञ: सर्वदर्शी च क्षेत्रज्ञ: तानि पश्यति ।

18. इन्द्रियेभ्य: पराह्यर्था अर्थेभ्य: परम मन: । मनसस्तु परा बुद्धि:, बुद्धे रात्मा महान् पर: । 3 महत: परमव्यक्तमव्यक्तात्परमोऽमृतम् । अमृतान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागति: ॥ 4, अ 238 ।
यदा विकुरुते भावं तदा भवति सा मन: ॥ 3
श्रृणवती भवति श्रोत्रं, स्पृशती स्पर्शमुच्यते ॥ 4
यदा प्रार्थयते किंचित् तदा भवति सा मन: ॥ 9, अध्याय 240 ।
चक्षुरालोचनायैव संशयंकुरुते मन: । बुद्धिरध्यवसानाय साक्षी क्षेत्रज्ञ-उच्यते । 15 अध्याय 239 ।

19. व्यवसायात्मिका बुद्धिर्मनोव्याकरणात्मकं । अध्याय 244, 77 ।

20. शरीरं पुरमित्याहु: स्वामिनी बुद्धिरिष्यते ।
तत्र बुद्धे: शरीरस्थं मनो नामार्थचिन्तकम् ॥
इन्द्रियाणि जन: पौरा: .... ।
यदर्थं बुद्धिरध्यास्ते न सोऽर्थ: परिषीदति ॥
यदर्थं पृथगन्यास्ते मनस्तत् परिषीदति ॥
पृथग्भूतं यदा बुद्धया मनोभवति केवलम् ।
तत्रैनं विवृतं शून्यं रज: पर्यवतिष्ठते । अध्याय 246. 9-14 ।

21. चलोपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्ग: कल्पनाक्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणा: ॥
इष्टानिष्ट विकल्पश्च व्यवसाय: समाधिता ।
संशय: प्रतिपत्तिश्च बुद्धौ पंचेह ये गुणा: ॥ अध्याय 247. 9-10 ।
महाभारत के व्याख्याकारों ने मन और बुद्धि के उपरिनिर्दिष्ट गुणों का कुछ स्पष्टीकरण दिया है । उदाहरणार्थ -
अर्जुनमिश्र - चलाचलनम्, उपपत्ति:, युक्ति:, व्यक्ति: ज्ञानकारणत्वम् । विसर्ग: न्यास: अनपेक्षितस्य, कल्पना, नाम जात्यादि । क्षमा, क्रोधादिशमनम् । प्रकाशकत्वात् भासनं, असदप्रकाशकत्वादभासनम् ॥
परमानंद - चलशब्दश्चलत्वे, उपपत्तिर्युक्तिर्निश्चय योग्यता, व्यक्ति: पदार्थज्ञानम् ।

विसर्ग: त्याग: क्षमा क्रोधादि सहनम्।

नीलकण्ठ - धैर्योपपत्ति: ('चल' के बजाय 'धैर्य' ऐसा पाठ-भेद है) ऊहापोह कौशलं, व्यक्ति:, स्मरणं, विसर्ग:, विपरीत, सर्ग:, भ्रान्ति:, कल्पनामनोरथवृत्ति:, क्षमा प्रसिद्धां, सद्वैराग्यादि, असद् रागद्वेषादि, आशुता अस्थिरत्वम्।

22. ज्ञानज्ञेयान्तरे तस्मिन् मनोनामापरो गुण:।
विचारयति येनायं निश्चये साध्वसाधुनी ॥
द्वादशस्त्वपरस्तत्र बुद्धिर्नाम गुणा:स्मृत:।
येन संशयपूर्वेषु बोद्धव्येषु व्यवस्यति। अध्याय 308, 102-103.

23. चित्तं इन्द्रिय संघानात् परंतस्मात् परंमन:।
मनसस्तु पराबुद्धि: क्षेत्रज्ञो बुद्धित: पर: ॥
पूर्वे चेतयते जन्तुरिन्द्रयैर्विषयान् पृथक्।
विचार्य मनसा पश्चादथ बुद्धयाव्यस्यति ॥
इन्द्रियैरुपलब्धार्थान् सर्वान् यस्त्वध्यवस्यति ॥
चित्तमिन्द्रिय संघातं मनोबुद्धिं तथाष्टमीम्।
अष्टौ ज्ञानेन्द्रियाणयाहुरेतान्यध्यात्म चिन्तका: ॥ अध्याय 267. 16-18।

24. पुरुषाधिष्ठितं भावं प्रकृति: सूयते सदा।
हेतु युक्तमत: सर्वं जगत् संपरिवर्तते ॥
अव्यक्त कर्मजा बुद्धिरहंकाराद्वायुराकाश संभव: ॥
वायोस्तेजस्ततश्चापस्तदभ्यो हि वसुधोद्गता।
मूल प्रकृतयोऽष्टो ता जगदेतास्ववस्थितं।
ज्ञानेन्द्रियाण्यत: पञ्च पञ्च कर्मेन्द्रियाणयपि।
विषया: पञ्च चैकं च विकारे षोडषं मन: ॥ अध्याय 203, 205, 25-27.

25. शब्द: स्पर्शोऽथ रूपंच रसोगन्ध: तथैवच।
विज्ञेयंव्यापकं चित्तं तेषु सर्वगतं मन:।
रसाज्ञानेतु जिह्वेयं व्याहृते वाक्तथैव च।
इन्द्रियैर्विविधैर्युक्तं सर्वं व्यस्तं मनस्तथा ॥
मन: सत्व गुणं आहु: सत्वमव्यक्तजं तथा ॥ अध्याय 203. 29-33।

26. सृजत्यनन्त कर्माणं महान्तं भूतमग्रजम्।
मूर्तिमन्तममूर्त्यात्मा विश्वं शम्भु: स्वयंभुव: ॥
हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरितिस्मृत:।
एष वै विक्रियापन्न: सृजत्यात्मानमात्मना।

अहंकारं महातेजा: प्रजापतिमहंकृतम् ॥
भूत सर्गमहंकाराचृतीयं विद्धि पार्थिव ।
अहंकारेषु भूतेषु चतुर्थे विद्धि वैकृतम्
वायुज्योतिरथाकाशमापोऽथ पृथिवी तथा ।
शब्द:स्पर्शश्चिरूपंच रसो गन्धस्तथैवच ।
एवं युगपदुत्पन्नं दशवर्गमसंशयम् ।
पंचम विद्धि राजेन्द्र भौतिकं सर्गमर्थवत् ।
श्रोत्र त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणमेव च पचम ।
वाक्च हस्तौच पादौच पायुर्मेदं तथैव च ॥
बुद्धीन्द्रियाणि चैतानि तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।
संभूतानीह युगपन्मनसा सह पार्थिव ॥ अध्याय 291.15-28

27. अध्याय 278. 10-15 ।

28. अव्यक्ताच्च महानात्मा समुत्पद्यते पार्थिव ।
प्रथमंसर्गमित्येतत् प्राहु: प्राधानिकं बुधा: ॥
महश्चाप्यहंकार उत्पद्यति नराधिप ।
द्वितीयं सर्गमित्याहुरेतद् बुद्धयात्मकं स्मृतौम् ॥
अहंकाराच्च संभूतं मनो भूत गुणात्मकम् ।
तृतीय: सर्ग इत्येष आहंकारिक उच्यते ॥
मनसस्तु समुद्भूता महाभूता नराधिप ।
चतुर्थं सर्गमित्येतन्मानसं परिचक्षते ॥
शब्द: स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
पञ्चमं सर्गमित्याहुभौतिकं भूतचिन्तका: ॥ अध्याय 278. 16.-20

30. (जगत्) अम्भसा बलिना क्षिप्रमापूर्यत समन्तत: ।
तत: कालाग्निमासाद्य तदम्भो याति संक्षयम् ।
तमप्रमेयोऽतिबलं ज्वलमानं विभावसुम् ।
भक्षयामास बलवान् वायुरष्टात्मको बली ।
तममतिबलं भीमाकाशं ग्रसतेऽऽत्मना ।
आकाशमप्यतिनदन्मनो ग्रसित चारिकम् ॥
मनो ग्रसित सर्वात्मा सोऽहंकार: प्रजापति: ।
अहंकारं महानात्मा भूतभव्यभविष्यवित् ॥
तमप्यनुपमात्मानं विश्वं शम्भु: प्रजापति: ॥ अध्याय 300.7-13 ।

31. बृहदारण्यक उपनिषद् 3.7.22; 4.3.7; 4.4.5.

5

भारतीय दर्शनों में अन्तःकरण का स्वरूप एवं कार्य

जितेन्द्र नाथ मोहन्ती

'अन्त:करण', या 'आन्तरिक इन्द्रिय' सामान्यतया मन को कहा जाता है। तथापि भारतीय मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत 'अन्त:करण' की कल्पना में तथा पाश्चात्य मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत 'मन' की कल्पना में महत्वपूर्ण भेद है; इसी प्रकार भारतीय दर्शन के विभिन्न संप्रदायों की 'अन्त:करण' विषयक कल्पनाओं में भी पर्याप्त अंतर है। हम प्रथम अन्त:करण की सत्ता के लिये उपस्थित किये गये प्रमाणों का स्पष्टीकरण तथा परीक्षण करेंगे। तदनंतर अन्त:करण के जो कार्य बतलाये गये हैं उनका समीक्षण करेंगे।

(अ.) न्याय सूत्र 1.1.16 और 3.1.17 पर के वात्स्यायन भाष्य में तथा ब्रह्मसूत्र 2.3.32 पर के शांकर भाष्य में अन्त:करण की एक ओर आत्मा से तथा दूसरी ओर बाह्य इन्द्रियों से अतिरिक्तता साबित करने के लिये तर्क उपस्थित किये गये हैं। वात्स्यायन के तर्क इस प्रकार हैं : प्रथम, चूंकि सुख, दु:ख इत्यादि मनोवृत्तियों रूप, शब्द इत्यादि से नितान्त भिन्न हैं अत: इन मनोवृत्तियां के ज्ञान के लिये नितान्त भिन्न स्वरूप की इन्द्रियों का स्वीकार आवश्यक है। जिस तरह गंध आंखों से ग्राह्य न होने के कारण घ्राणेन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय से भिन्न है, या रस चक्षुरिन्द्रिय या घ्राणेन्द्रिय से ग्राह्य न होने के कारण रसेन्द्रिय इन इन्द्रियों से भिन्न है, इसी प्रकार सुख, दु:खादि की भी बात है। सुख-दु:खादि बाह्य इन्द्रियों की कक्षा में नहीं आते अत: उनके आकलन के लिये अन्त:करण रूप अतिरिक्त इन्द्रिय की कल्पना करना आवश्यक है। 'ज्ञानायौगपद्य' या ज्ञानों की असमान कालिकता पर से भी इस आन्तरिक इन्द्रिय का अनुमान किया जा सकता है। एक ही विषय के साथ एक ही समय अनेक इन्द्रियां संबद्ध हुई रहती हैं तथापि एक से अधिक ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते नहीं दीखते। इसकी उपपत्ति इसी कल्पना के

आधार पर दी जा सकती है कि बाह्यन्द्रियों से अतिरिक्त कुछ अवान्तर कारण भी हैं जिनका इन्द्रियों के साथ संपर्क घटित होना ज्ञान के लिये आवश्यक है। जब इन्द्रियां अन्त:करण के साथ अपने विषयों के संपर्क में आती हैं केवल तभी उनके अनुरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि उक्त तर्क एक ही प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञानों (उदाहरणत: दो या अधिक चाक्षुष प्रत्यक्ष) की असमान कालिकता पर नहीं किन्तु सदृश ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों की असमान कालिकता पर ही (उदाहरणत: चाक्षुष और स्पर्शन प्रत्यक्ष) आधारित है। प्रथम प्रकार की असमान कालिकता का मन की कल्पना के बिना ही समर्थन संभव है, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय, उदाहरणत:आंखें, एक समय एक ही विषय से संबद्ध हो सकती हैं। किन्तु दूसरे प्रकार की असमान कालिकाता की उपपत्ति के हेतु मन का स्वीकार आवश्यक है, क्योंकि विभिन्न इन्द्रियां एक ही समय अपने-अपने विषयों से संबद्ध रह सकती हैं।

ब्रह्मसूत्र 2.3.32 पर के भाष्य में शंकराचार्य जी यह तर्क उपस्थित करते हैं कि यदि अन्त:करण न हो तो या तो सर्वदा प्रत्यक्ष होता रहेगा या कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। (नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंग:)। सर्वदा प्रत्यक्ष होते रहने की इस लिये आपत्ति है कि इन्द्रियां विषयों से और आत्मा इन्द्रियों से संबद्ध ही रहते हैं। लेकिन यदि सभी कारण सामग्री उपस्थित रहते भी प्रत्यक्ष घटित न हो तो वह कभी घटित नहीं होगा। अत: ऐसी वस्तु की कल्पना आवश्यक है जिसके साथ संपर्क घटित होने से प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है और उस के घटित न होने से प्रत्यक्ष में बाधा पहुँचती है। यहां तक समझ लेना ज़रूरी है कि वात्स्यायन का उपरिनिर्दिष्ट प्रथम तर्क अद्वैतियों को मान्य नहीं हो सकता। उनके मत में सुख और दु:ख साक्षि ही हुआ करते हैं उनके ज्ञानार्थ अन्त:करण की आवश्यकता नहीं पड़ती। तथापि अद्वैती अन्त:करण का साक्षात्कार संभव मानते हैं और उपर्युक्त तर्क प्रतिपक्षियों के समाधानार्थ ही प्रस्तुत किये गये हैं। वास्तव में 'विवरण प्रमेय संग्रह' कार ने अंत:करण के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनुमान को पर्याप्त प्रमाण नहीं माना है। इस का कारण यह है कि ज्ञानों की क्रमिक उत्पत्ति अन्य उपायों से - उदाहरणत: आत्मा में अनुरूप सामर्थ्य की कल्पना कर समर्थित की जा सकती है। उनके विचार में अन्त:करण प्रत्यक्ष विषय है। लेकिन वह इन्द्रियगम्य नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नावस्था में भी उसका प्रत्यक्ष होता है। अन्त:करण का प्रत्यक्षानुभव 'मेरा मन कहीं और लगा हुआ था' इस जैसे कथनों द्वारा अभिव्यक्त होता है। यह अनुभव साक्षी को ही प्राप्त हुआ करता है।

स्मृति, वाक्यार्थ ज्ञान, संशय, अनुमान तथा सभी अनिन्द्रियजन्य या प्रातिभ ज्ञान इन सबका साधन अन्त:करण या मन ही है। इन सभी ज्ञानों की सामान्य विशेषता यह है कि ये केवल बाह्य इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त नहीं होते।

(ब) इस प्रकार अन्त:करण की सत्यता के संबंध में यद्यपि दार्शनिकों का ऐकमत्य है तथापि उसके स्वरूप के संबंध में काफी मतभेद हैं। भारतीय दार्शनिक वाङ्मय में इस संबंध में जो प्रश्न चर्चित हैं वे ये है :—(1) क्या अन्त:करण इन्द्रिय है ? (2) क्या एक शरीर में एक ही अन्त:करण होता है ? (3) क्या अन्त:करण अणु परिमाण होता है या विभु ? अथवा वह मध्यम परिमाण का ही हुआ करता है ? (4) क्या वह अविनाशी है ? यदि हो तो किस अर्थ में ? (5) अन्त:करण का ज्ञान के साथ क्या संबंध है ?

(1) क्या अन्त:करण इन्द्रिय है ? नैयायिक इस प्रश्न का विध्यात्मक उत्तर देते हैं जबकि अद्वैती निषेधात्मक। इस संबंध में नैयायिकों का तर्क बाह्य ज्ञान और आन्तरिक अनुभूति इनके साम्य का आधार लेकर चलता है। चूंकि प्रत्यक्ष की परिभाषा नैयायिकों ने 'विषय और इन्द्रिय इनके संपर्क से होने वाला ज्ञान' ऐसी बतलायी है अत: यह समझा गया है कि आन्तरिक अनुभव के लिये भी इन्द्रिय की अपेक्षा है और वह इन्द्रिय अन्त:करण है। लेकिन नैयायिकों ने इस बात का पूर्णतया विचार नहीं किया है कि बाह्य प्रत्यक्ष में यद्यपि अन्त:रण या मन को विषयों के साथ संबद्ध होने के लिये बाह्येन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता होती है तथापि मन स्वयं यह माध्यम नहीं बन सकता। अत: इस माध्यम के रूप में मन इन्द्रिय नहीं हो सकता। वेदान्तपरिभाषाकार जैसे अद्वैती मनीषी- जो मन को इन्द्रिय मानने से इनकार करते हैं - प्रत्यक्ष को 'विषयेन्द्रिय संयोग से उत्पन्न ज्ञान' इस रूप में परिभाषित न कर 'साक्षात्कारात्मक ज्ञान' इस तरह परिभाषित करते हैं। इस तरीके से उपर्युक्त कठिनाई हल हो जाती है। इसके अतिरिक्त नैयायिक भी यह स्वीकार करते हैं कि उनके मत के अनुसार मन यद्यपि इन्द्रिय है तथापि बाह्य प्रत्यक्ष में, स्मृति में, अनुमान में तथा अन्यत्र वह इन्द्रिय का कार्य संपन्न नहीं करती। वेदान्त परिभाषाकार यह बतलाने से नहीं चूकते कि यदि मन इन्द्रिय माना जाय तो मन के द्वारा उत्पन्न अनुमान को भी नैयायिकों की परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष मानना पड़ेगा।

(2) क्या एक शरीर में एक ही अन्त:करण होता है ? न्यायसूत्र 3.2.56, 59 पर के भाष्य में वात्स्यायन इस प्रश्न की चर्चा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक शरीर में पांच भिन्न भिन्न प्रकार के अन्त:करण होते हैं, ऐसा भी कुछ दार्शनिक मानते थे। वैशेषिक सूत्र 3. 2. 3. पर के उपस्कार में शंकर मिश्र ने इस मत का निर्देश किया है। यह स्पष्ट है कि उक्त मत इसी कारण स्वीकार किया गया होगा कि एक ही समय में विभिन्न स्वरूपों के ज्ञान - अधिक से अधिक पांच, हरेक ज्ञानेन्द्रिय से एक - एक घटित होना संभव है। एतदर्थ वात्स्यायन यह सिद्ध करने का प्रत्यन करते हैं कि एक शरीर में एक ही अन्त:करण होना चाहिये क्योंकि अनेक ज्ञान युगपद् उत्पन्न नहीं होते ('ज्ञानायौगपद्यादेकं मन:')। इसके अनंतर वे यह स्पष्ट करते हैं कि विभिन्न ज्ञानों की एक कालिक उत्पत्ति

का प्रत्यक्ष जो होता है वह भ्रान्त ज्ञानों की शीघ्र घटित होने वाली परम्परा पर आधारित है।

(3) यद्यपि अधिकांश भारतीय दार्शनिक संप्रदाय प्रत्येक शरीर में एक ही अन्त:करण का अस्तित्व मानते हैं तथापि उसके आकार के सम्बन्ध में उनमें ऐकमत्य नहीं है। आनुषंगिक तौर पर यह उल्लेख यहां किया जा सकता है कि मन के परिमाण की चर्चा पाश्चात्य मनोविज्ञान या दर्शन में उपलब्ध नहीं होती। इस चर्चा का निस्संदेह यह आंशिक कारण होगा कि भारतीय दार्शनिकों ने, कुछ और विचारकों को छोड़, मन को जड़ अर्थात् अचेतन और भौतिक माना है। फलत: उसके आकार के संबंध में प्रश्न उठाना अर्थपूर्ण ही होगा। दार्शनिकों ने ऐसा ही प्रश्न आत्मा के संबंध में भी पूछा है। उनमें आत्मा के सर्वव्यापित्व (न्याय मत), परमाणु परिमाण (रामानुज), मध्यम परिमाण (जैन मत) आदि विचार इस संबंध में प्रचलित हैं। कुछ नैयायिक टीकाकारों तथा अनिरुद्ध के जैसे कुछ सांख्य टीकाकारों के मतानुसार अन्त:करण अणुपरिमाण है। भाट्ट और योगमतानुसार अन्त:करण विभु है। अद्वैती उसे मध्यम परिमाण मानते हैं।

अन्त:करण की अणुता सिद्ध करने के हेतु प्रथम ज्ञान के अयौगपद्य का परिचित तर्क उपस्थित किया गया है। इसी आधार पर अन्त:करण की एकता प्रस्थापित की जा चुकी है। किन्तु वह एक भी हो तो भी यदि उसका परिमाण अणु न हो तो वह एक ही समय अनेक इन्द्रियों से संबद्ध हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अन्त:करण की एकता ज्ञानों के अयौगपद्य का अनिवार्य साधन है अपर्याप्त कारण नहीं। अयौगपद्य की उपपत्ति के लिए आणविकता को मन की एकता में जोड़ना आवश्यक है। अणु-मन भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमश: ही संपृक्त हो सकता है। नव्य नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि अन्त:करण को अणु नहीं मानते। लेकिन ज्ञान के अयौगपद्य का कारण वे अदृष्ट को बतलाते हैं। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अयौगपद्य का यह स्पष्टीकरण स्वीकार किया जाय तो मन का अस्तित्व ही मानने की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

न्यायसूत्र 3.2.8 में यह चर्चा की गयी है कि विभु द्रव्य गतिमान् नहीं हो सकता। विभु परिमाण वस्तु गति में असमर्थ है, और वह सभी अन्य वस्तुओं से संयुक्त ही रहती है। अत: यदि अन्त:करण विभु हो तो वह सभी इन्द्रियों से सदा संबद्ध ही रहेगा और तब एक ही समय अनेक ज्ञान घटित होने की आपत्ति उपस्थित होगी। अन्त:करण की अणुपरिमाणता के लिये दूसरा तर्क यह है : विश्वव्यापी अन्त:करण इन्द्रिय के रूप से तभी कार्यक्षम होगा यदि वह शरीर से परिछिन्न हो। लेकिन न तो संपूर्ण शरीर, न उसका कोई अंश ही विभु अन्त:करण का परिच्छेद कर सकते हैं। पूर्ण शरीर ऐसा इसलिये नहीं कर सकता कि ऐसा उसके करने पर पैर में यदि कष्ट हो तो उसका अनुभव सारे शरीर में होने लगेगा। शरीर अंशत: भी यह परिच्छेद नहीं कर सकता क्योंकि जो अंश यह कार्य

करेगा वह यदि नष्ट हो जाय तो दु:ख की अनुभूति ही असंभव हो जायेगी। तथापि अन्त:करण को अणु मानकर भी यह आपत्तियां टाली नहीं जा सकतीं, यह दिखलाना आसान है। कारण अन्त:करण यदि अणु हो तो शरीर के एक काफी बड़े हिस्से में एक ही समय कैसे दु:ख का अनुभव होगा. यह समझना बहुत कठिन हो जाता है। अत: यह स्पष्ट है कि अन्त:करण की अणुता के लिये प्रबलतम तर्क ज्ञान का अयौगपद्य ही है।

न्याय की अणु परिमाण कल्पना के विपरीत भाट्ट और योग संप्रदाय के अनुयायी विभु परिमाण कल्पना के पुरस्कर्ता हैं। संकोच और प्रसार ये लोग अन्त:करण वृत्तियों में ही मानते हैं, अन्त:करण में नहीं। अन्त:करण को ये अनंत विस्तारशील समझते हैं। इसका कारण यह है कि यह आत्मा के समान अभौतिक द्रव्य है, या परमाणुओं के समान यह किसी भी वस्तु का समवायिकारण नहीं है, या यह ज्ञान के असमवायि कारण (आत्म-मन: संयोग) का आश्रय है।

अद्वैती और पदार्थ-तत्व निरूपणकर्त्ता रघुनाथ शिरोमणि अन्त:करण को मध्यम परिणाम मानते हैं। यदि वह विभु होता तो कोई भी व्यक्ति किसी भी समय सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता। फिर भी 'विवरण प्रमेय संग्रह' के कथनानुसार योगाभ्यास के द्वारा कोई भी व्यक्ति अपने अन्त:करण को विश्वव्यापी बनाकर उसके ज़रिये सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

(4) क्या अन्त:करण नित्य है ? सांख्य दर्शन के अनुयायी अन्त:करण को नित्य मानते हैं। लेकिन वे उसे बुद्धि से अभिन्न समझते हैं जो कि मूल प्रकृति की प्रथम विकृति है। अन्त:करण नष्ट न होकर प्रकृति में विलीन हो जाता है। तथापि वे चेतना में, जो कि आत्मा का स्वभाव है, बुद्धि में , जो कि स्वयं अन्त:करण का एक परिणाम हैं, फर्क अवश्य करते हैं।

नैयायिक भी मन को अविनाशी मानते हैं किन्तु इसी अर्थ में या इन्हीं कारणों से नहीं। उनके अनुसार मन अणु होने के कारण ही अनंत, याने निरवयव, है। ('नित्यत्वं च तस्यानाश्रितत्वात्, तस्यावयव कल्पनायां प्रमाणाभावादनाश्रितत्वमिति')- वै.सू. 3.2.2. पर शंकर मिश्र का उपस्कार देखिये)

अद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म के सिवा और कुछ भी अविनाशी नहीं। मन भी इसका अपवाद नहीं।

(5) अन्त:करण का ज्ञान के साथ क्या संबंध है ? सांख्य और वेदान्त मत में ज्ञान अन्त:करण का परिणाम है और इस अर्थ में उसे अन्त:करण का धर्म भी कहा जा सकता है। लेकिन न्याय इस बात को अस्वीकार कर देता है। कारण यह है कि जो किसी कार्य का निमित्त कारण है वह उसका समवायि कारण नहीं हो सकता ('ज्ञानगुणत्वे च कारण भाव निवृत्ति:' - न्या.सू. 3.2.14 पर वात्स्यायन भाष्य)। मन यदि ज्ञान का

समवायि द्रव्य हो तो वह ज्ञान का साधन होने के बजाय ज्ञाता ही हो जाता। ज्ञाता आत्मा मन की तुलना में स्वतंत्र ही होता है और मन आत्मा पर निर्भर होकर उससे संबद्ध ही होता है। अत: वह स्वयं ज्ञाता नहीं हो सकता। अन्त:करण परिणाम रूप वृत्तियों का अद्वैतियों ने जो पुरस्कार किया है उसका एक कारण यह है कि उनके अनुसार ज्ञान केवल वस्तु प्रकाशक ही नहीं होता, वह वस्तु स्वरूप का आवरण करने वाले अज्ञान का निवारक भी होता है। अन्त:करण वृत्ति ही इस आवरण-भंग का साधन है।

(क) अन्त:करण के विभिन्न कार्यो के संबंध में भी पर्याप्त मतभेद उपलब्ध होता है। सांख्यकारिका में (का. 24, 29, 33-37) बुद्धि की तीन वृत्तियों का (जो सांख्य के अनुसार स्वयं अन्त:करण ही है) निर्देश आया है। ये हैं बुद्धि, अहंकार और मन। बुद्धि का कार्य अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान, जो 'यह घट है' या 'यह वस्त्र है' जैसे वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त होता है, है। इसके भी आठ प्रकार हैं, चार वे जिनमें सत्व का आधिक्य होता है, और बाकी चार वे जिनमें तम का आधिक्य होता है। सत्व के आधिक्य से धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इनका उदय होता है। अहंकार में अभिमान, घमंड या वैयक्तिक अलगाव की भावना विद्यमान होती है। अहंकार भी तीन प्रकार कहे जाते हैं। जिसमें सत्व का अधिवास होता है उसे वैकृत, जिसमें रज का आधिक्य होता है उसे तैजस और जिसमें तम का आधिक्य होता है उसे भूतादि ऐसे विभिन्न नामों से निर्दिष्ट किया जाता है। वैकृत अहंकार में से ग्यारह इन्द्रियां (सांख्य प्रवचन भाष्य के अनुसार ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है) उत्पन्न होती हैं। अंतिम भूतादि से पांच तन्मात्रायें उद्‌भूत होती हैं। दूसरा तैजस उपर्युक्त दोनों की अवस्था में सक्रिय होता है। मन का विशेष कार्य संकल्प अर्थात् प्राथमिक ज्ञान के संबंध में विचार, जिसका परिणाम विवेक है, हुआ करता है ('आलोचनमिन्द्रयेण वस्त्विमिदमिति सम्मुग्धमिदमेव नैवमिति सम्यक्कल्पयति विशेषणविशेष्यभावेन विवेचयति। का. 27 पर सांख्यतत्व कौमुदी देखिए।)

अद्वैती अन्त:करण के चार पक्ष : बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार— में भेद करते हैं। इन्हीं को वृत्तियों के भेद के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। बुद्धि में निश्चयरूप कार्य हुआ करता है : वह, अमुक वस्तु ऐसी है, इस प्रकार निश्चय करती है ('इदमित्यमेवेति विषयपरिच्छेद')। मन का स्वरूप एक ही समय विधि और निषेध दोनों का संदेह के रूप में उपस्थापन करना होता है। चित्त का कार्य स्मरण है, अहंकार का कार्य अभिमान या घमंड है। बुद्धि का विषय नयी वस्तु होती है और चित्त का पूर्वानुभूत वस्तु। दोनों ही वस्तु-ग्राहक होते हैं, अत: कुछ लोग चित्त का बुद्धि में समावेश करते हैं। मन के विषय बाह्य या आन्तरिक होते हैं। अहंकार का विषय विषय से अभिभूत आत्मा है। इन दोनों का ही स्वरूप विधिरूप होता है। अंत: कुछ लोग

अहंकार का मन में अन्तर्भाव करते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि इस रूप में अन्तर्भाव का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि मन का कार्य संशय है जबकि अहंकार की विशेषता संशय-रहित और आग्रहयुक्त अभिमान है।

अद्वैत में अन्त:करण की कल्पना का द्विविध उपयोग किया जाता है, एक तत्व-शास्त्रीय और दूसरा ज्ञानमीमांसात्मक। तत्वशास्त्र में अन्त:करण वैयक्तिक परिच्छेद का कारण— याने एक प्रकार का माध्यम, जिसमें चैतन्य उसी तरह प्रतिबिंबित होता है जैसे नदी में चंद्रमा— समझा जाता है। ज्ञानमीमांसा में यही अन्त:करण, पहले कहे मुताबिक, व्यावहारिक ज्ञान का आधार माना जाता है। इसका महत्व इस बात में भी निहित है कि केवल अन्त:करण वृत्ति ही ज्ञान रूप होने से अज्ञान का निरसन करने में समर्थ है। यह कार्य शुद्ध चैतन्य भी नहीं कर सकता। जैसे सूर्य की किरणें स्वयं किसी वस्तु को जला नहीं सकतीं किन्तु लेन्स के द्वारा एकत्रित की जाने पर उनमें दाहकता आती है, उसी प्रकार अन्त:करण वृत्ति में ही अज्ञान का निरसन का सामर्थ्य सन्निहित है। यद्यपि अन्त:करण अविद्या का ही परिणाम है तथापि सत्व के आधिक्य से इसमें पारदर्शकता आती है और वृत्तियों के द्वारा यह अज्ञान का विनाश करने में समर्थ होता है। अंत में, जिस अज्ञान से यह उत्पन्न हुआ उसी को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाता है। ब्रैडले के विचारों के समान, अन्त:करण अंत में आत्मघात ही कर बैठता है।

संदर्भ -

(1) *न्यायसूत्र और वात्स्यायन भाष्य।*

(2) *सांख्यकारिका और गौडपाद भाष्य।*

(3) *ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य।*

(4) *विवरणप्रमेयसंग्रह।*

(5) *Six ways of knowing, by Dr. D.M. Dutta.*

6

वाल्लभ वेदान्त में अन्तःकरण का स्वभाव और क्रियाकलाप

श्याम मनोहर गोस्वामी

1. उपक्रम :

वाल्लभ वेदान्त, अपने-आप में, उत्प्रेक्षामूलक दर्शन न हो कर श्रुति स्मृति सूत्र और पुराण आदि वैदिक शास्त्रों के परस्पर समन्वित-सुसंगत व्याख्यानार्थ प्रवृत्त हुआ एक दर्शन है[1]। अतएव अपनी इस प्रतिबद्धता के अनुरूप उल्लिखित शीर्षक से जुड़ी वैचारिक धारणाओं के बारे में भी वाल्लभ वेदान्त अपने उल्लिखित उपजीव्य प्रमाणस्रोतों से निकल कर बहने वाली अर्थात् इन्हीं पर निर्भर होने वाली एक व्याख्यारूपा चिन्तनधारा है। हमारे इस प्रबन्ध में, किन्तु, उन उपजीव्य उद्धरणों के आधार पर वाल्लभ वेदान्त की धारणाओं का समर्थन अथवा यथाव्याख्यात अभिप्रायों के औचित्य का उपपादन अभिप्रेत नहीं है। यहां तो केवल संक्षेप में स्वीकृत स्वरूप का निरूपण प्रस्तुत करना ही हमें अभिप्रेत है। अस्तु।

2. 'माइन्ड्' पदका वाल्लभ वेदान्त में सम्भावित पर्याय :

बोलचाल की अंग्रेज़ी भाषा में 'माइन्ड' शब्द अनेकानेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। बुद्धि/भावावेग के द्वन्द्व के सन्दर्भ में 'माइन्ड' पद का प्रयोग, उदाहरणतया, ''हार्ट् के बजाय अपने माइन्ड् के अनुसार बरतो'' जैसे विधान में, बुद्धिवाचक बन जाता है। इसके विपरीत ''माइन्ड् अपसेट् हो गया'' जैसे विधान में, जबकि, 'माइन्ड' पद उद्विग्नता के मनोभावों का भी वाचक बनता ही है। 'माइन्ड्-बॉडी' के द्वन्द्व में यह पद शरीरान्तर्भूत मस्तिष्करूप अंग या उसके व्यापारों का जैसे वाचक बनता है, वैसे ही 'माइन्ड्-मेटर' के द्वन्द्व में यह अभौतिक चेतन द्रव्य का वाचक भी बन जाता है। अत: ऐसी अनेकविध अर्थछायाओं को अपने साथ समेटे रखने वाले इस पद का पूर्ण पर्याय और वाच्यभूत पदार्थ भारतीय दर्शन में सहसा उपलब्ध नहीं होता। फिर भी वाल्लभ वेदान्त में प्रयुक्त

'अन्त:करण' पद 'माइन्ड्' पद में प्रकट होती, सारी कि सारी नहीं तो भी, कई सारी अर्थछायाओं को ध्वनित करता है। अत: उसे आत्मा, चेतना, विचार, सावधानी, भावावेग या मन आदि के अभिधायक पद के रूप में लेने के बजाय अन्त:करण के वाचक पद के रूप में लेकर विवेचन करना अधिक उपयुक्त एवं प्रासंगिक लगता है। अतएव पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में अन्त:करण की यह विवेचना, यदि अप्रासंगिक लगती हो तो इस सामान्य विद्वद् गोष्ठी से क्षमायाचनापूर्वक ही, तदर्थ प्रवृत्त होना चाहूंगा।

3. अन्त:करण के स्वरूप-क्रियाकलाप का वेदान्तभिमत पूर्वसन्दर्भ :

इस सृष्टि में अनुभूयमान नाम-रूप-कर्मो के अनेकविध द्वैतों की व्याख्या, वाल्लभ वेदान्त में, एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म के सर्वभवनसामर्थ्य और सत्य संकल्प के आधार पर प्रस्तुत की जाती है। यह सुवर्ण-आभूषण के बीच अनूभूत होते अविकृतपरिणाम (*nominal formal and functional transformation of immutable substance*) के उदाहरण द्वारा सिद्ध कार्यकारणभाव के रूप में स्वीकारी गयी है[2]। अत: सारे के सारे भौतिक पदार्थ उस सच्चिदानन्द (सत्+चिद्+आनन्द) रूप ब्रह्म के अनेकानेक अविकृत सदंशों के संघातों में प्रकट हुए विशेष-विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम हैं[3]।

इस एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म की तीन : [क]स्वरूप, [ख]कारण तथा [ग]कार्य रूपिणी कोटियां (*Categories*) स्वीकारी गई हैं[4]।

इनमें सर्वमूल स्वरूपकोटि के अन्तर्गत सर्वप्रथम कोटि [क/1] क्रिया और ज्ञान रूपी दो धर्मों से विशिष्ट धर्मी परब्रह्म परमात्मा 'भगवान् श्रीकृष्ण' स्वीकारी गयी है[5]। दूसरी उसी परब्रह्म की [क/2] सत्ता चेतना और देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहितता रूपिणी धर्मभूत एवं धामभूत भी एक 'अक्षरब्रह्म' नामक कोटि सर्वकारणकारणतया मान्य की गयी है। इसी अक्षरब्रह्म के तीन अवान्तर पहलु : [क/2/अ] काल [क/2/आ] कर्म और [क/2/इ] स्वभाव नामक, स्वीकारे गये हैं[6]।

ख कारणकोटि के अन्तर्गत अट्ठाईस : [ख/1-3] सत्त्वादि गुणत्रयी [ख/4] उनकी साम्यावस्था प्रकृति [ख/5] पुरुष [ख/6] महद् [ख/7] अहंकार [ख/8-12] पंचतन्मात्रा [ख/13-17] पंचमहाभूत [ख/18-27] दशविध इन्द्रिय और [ख/28] मन नामक तत्त्व स्वीकारे गये हैं[7]।

[ग] कार्यकोटी के अन्तर्गत [ग/1] जड़गण और [ग/2] जीवगण प्रभेद स्वीकारे गये हैं। इन दोनों में पुन: जड़ के : [ग/1/अ] व्यष्टि और [ग/1/आ] समष्टि रूप भी स्वीकारे गये हैं। इसी तरह जीवगण के भी पुन: [ग/2/अ] व्यष्टि और [ग/2/आ] समष्टि प्रभेद स्वीकारे गये हैं[8]।

प्रत्येक भौतिक जड़ रूप, उदाहरणतया घट, जड़गण के अन्तर्गत एक व्यष्टिरूप होता है। तथा [ख/13-17] पंचमहाभूतान्तर्गणित पृथिवी स्वरूपेण कारणकोटिक होने पर भी सकल जड़ पार्थिव पदार्थों की कार्यसमष्टि के रूप में कार्यकोटिक भी मानी जा सकती है।

इसी तरह प्रत्येक सजीव प्राणी, उदाहरणतया 'देवदत्त' नामक पुरुष या उसका घोड़ा, जीवगण के अन्तर्गत व्यष्टिरूप होते हैं और कारणकोटी के अन्तर्गणित [ख/5] पुरुष स्वरूपेण कारणकोटिक होने पर भी अपने कार्यसमष्टि होने के रूप में कार्यकोटितया भी परिगणित हो पाता है।

यहां हम यह देख सकते हैं कि कार्यकोटि में प्राय: अनेकविध तत्त्वों का संघात ही किसी न किसी विशेषरूपतया प्रकट होता है।

4. अन्त:करण का स्वरूप :

उल्लिखित स्वरूप-कारण-कार्यकोटिओं के सन्दर्भ परिप्रेक्ष्य में 'अन्त:कारण' पदवाच्य तत्त्व भी कारणकोट्यन्तर्गणित [ख/5] पुरुष की अंशभावापन्न व्यष्टिचेतना एवं कारणकोट्यन्तर्गणित [ख/6] महद् [ख/7] अहंकार [ख/28] मन के व्यष्टिभावापन्न कार्यरूपों के संघाततया एक विशिष्ट स्वरूप एवं क्रियाकलापों को निष्पन्न करने वाला चिदचिद् ग्रन्थिरूप पदार्थ है। यह हम प्रत्येक प्राणिओं के भीतर प्रकट होता है और यही अन्त:करण हमारे इस प्रबन्ध का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है।

कार्यकोटि के सभी पदार्थ प्राय: इन कारण तथा कार्य कोटिओं के अन्तर्गणित अनेकविध तत्त्वों के संघातरूप होते हैं जो ब्रह्म के स्वरूप में प्रकट होते हैं। अत: इस तथ्य को थोड़ा सा और सुस्पष्ट कर लेना प्रस्तुत विमर्श में कुछ उपकारक ही होगा। क्योंकि, उदाहरणतया, हमारा शरीर पंचविध महाभूत, दशविध इन्द्रिय, पंचविध प्राण, चतुर्विध अन्त:करणों के संघात में प्रकट हुआ एक विशेष नाम-रूप-कर्मात्मक परिणाम है। इसमें संघातघटक तत्तत् सदंश तो अविकृत ही रहते हैं परन्तु एक विशिष्ट नाम-रूप-कर्मात्मक संघातरूप यह शरीर षड्विध उत्पत्ति स्थिति विपरिणति वृद्धि अपक्षय और विनाश रूपी भाव विकारों में गुजरता सा प्रतीत होने पर भी अपने सत्स्वभाव का त्याग नहीं करता ऐसा माना जाता है। अन्यथा उत्पत्त्यादि क्रियाओं को निराधार मानने को बाधित होना पड़ेगा। अत: न तो उत्पत्ति प्रागभावरूप मानी जाती है और न विनाश प्रध्वंसाभावरूप ही, ब्राह्मिक सदंश सभी अवस्थाओं में अविकृततया अनुगत रहता अनुभूत होता होने से, सदंशों के अविकृत परिणामरूप इन अनेकानेक नाम-रूप-कर्मों में चिदंश और आनन्दांश के आविर्भाव-तिरोभाव की प्रक्रिया के अंगीकार द्वारा छहों के छह भावविकारों की प्रतीति और चतुर्विध अभावों की प्रतीति की भी व्याख्या, वाल्लभ वेदान्त, इसी आविर्भाव-तिरोभाव की प्रक्रिया के आधार पर देना चाहता है [9]। अर्थात् उत्पत्त्यादि अवस्थाओं में गुजरते नाम-रूप-कर्म कभी गुप्ततया या सुषुप्ततया विद्यमान (*latent*) रहने के कारण या तो निज अर्थक्रिया को करते रहने पर भी अनुभूतिगोचर (*manifest*) नहीं होते या अनुभूतिगोचर होने पर भी निज-अर्थक्रियाकारी (*activated*) नहीं होते अथवा कभी न तो अनुभूतिगोचर (*non-evident*) होते हैं और न निज-अर्थक्रियाकारी ही (*non-activated*) होते हैं [10]।

इसी तरह सारी चेतनाएं उसके अविकृत चिदंश में से उद्‌गत अणुरूप होती हैं। प्रत्येक चेतना अपने अणुस्वरूप में दूसरी अणुरूप चेतना से भिन्न होने पर भी किसी विशेष नाम या विशेष रूप को प्रकट करती न होने से उत्पत्ति विपरिणति वृद्धि अपक्षय या विनाश अवस्थाओं को दरसाती नहीं है। अत: चेतना में गमापगम की क्रिया तो अनुभूत होती हैं परन्तु उत्पत्त्यादि भावविकार की नहीं, चेतना का ऐसा स्वरूप पाश्चात्य दर्शनों में स्वीकृत 'सोल' 'सेल्फ' 'आइडिया' 'थॉट्' 'लोगोस्' 'मॉनाड्' या 'माइन्ड्' आदि पदों के प्रयोग द्वारा भलीभांति अभिव्यक्त नहीं हो पाता। क्योंकि इस तरह की कॉन्शीअसनेस् को 'सेंसेशन्' कहना भी जब शक्य नहीं, तब 'रीज़निंग्' या 'रेशनेलिटी' के रूप में स्वीकारना सर्वथा अप्रासंगिक ही होगा, अत: चेतना एक ऐसी सेल्फ अवेयर सेंसिटिविटी है जो किसी विषय के सम्पर्क में आने पर विषयस्फुरणा, विषयानुभूति विषयकामना, विषयसंकल्प, विषयस्मृति, विषयकल्पना, विषयसंकलना, विषयाज्ञान, विषयसंशय, विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध बौद्धिक या मानसिक व्यापारों के प्राकट्य का अन्यतर हेतु बनती है। उदाहरणतया इलेक्ट्रीसिटी को हम कम्प्यूटर टेपरेकार्डर या टी.वी. रेफ्रीजेरेटर आदि बिजली के उपकरणों में निष्पन्न होते अनेकविध क्रियाकलापों का अन्यतर हेतु तो मान सकते हैं परन्तु एकमात्र हेतु नहीं, क्योंकि इन उपकरणों के न होने पर, अकेली बिजली इन अनेकविध क्रियाकलापों को निष्पन्न नहीं कर पाती।

5. अन्त:करण के क्रियाकलापों के प्रकट होने की रीति :

इस तरह हम देख सकते हैं कि ब्राह्मिक सदंश प्रकृति महान् अहंकार आदि से मन पर्यन्त उत्तरोतर प्रवर्तित उपादान-परिणामभावापन्न होने की प्रक्रिया, जब पुरुष के सान्निध्यवशात् अपने में ब्राह्मिक चिदंशरूप चैतन्य से कृत्रिमतया प्रतिसंक्रान्त होती है, तब वह एक व्यष्टि अन्त:करण का रूप धारण कर लेती है। इसके कारण अन्त:करण स्वयं जड़ होने पर भी चेतनायित हो कर चेतनोपम व्यवहार करने लगता है। और चिदंशरूपा चेतना स्वयं में अन्त:करण द्वारा निष्पन्न होती क्रियाओं को निष्पन्न करने में सक्षम न होने पर भी अन्त:करण की उपाधि के वशात् विषयस्फुरणा, विषयानुभूति, विषयकामना, विषयसंकल्प, विषयस्मृति, विषयकल्पना, विषयसंकलना, विषयाज्ञान, विषयसंशय, विषयभ्रान्ति अथवा विषयव्यामोह आदि अनेकविध सचेतन व्यापारों के रूप में प्रकट हो जाती है[11]।

6. अन्त:करण के विभिन्न क्रियाकलापों के केन्द्ररूप चार विभाग :

वाल्लभ वेदान्त में अन्त:करण के चार विभाग : [1] चित्त [2] अहंकार [3] मन और [4] बुद्धि स्वीकारे गये हैं[12]। अतएव 'माइन्ड' के पर्यायवाचक पदतया 'अन्त:करण' पद को स्वीकारने पर इस चतुर्ग्रन्थी अन्त:करण के क्रिया-कलापों की जानकारी उसके विभिन्न

केन्द्रों या विभागों के स्वरूपों को जाने बिना सम्भव न होने से विभागश: क्रिया-कलापों के बारे में विमर्श करना अधिक उपयुक्त होगा।

7. अन्त:करण के प्रथम विभाग चित्त का स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

पूर्वनिर्दिष्ट सच्चिदानन्द ब्रह्म की स्वरूपकोटि के अन्तर्गत [क/2] परब्रह्म की सत्ता चैतन्य और देश-काल-वस्तु परिच्छेदरहितता रूपी धर्मभूत-धामभूत तथा सर्वकारणकारणभूत अक्षरब्रह्म होता है यह हमने दिखलाया। उसमें उसी ब्रह्म की कारणकोटि में अन्तर्भूता [ख/1-3] सत्त्वादि गुणत्रयी की अक्षुब्ध साम्यावस्था रूपिणी [ख/4] प्रकृति प्रकट होती है। इस प्रकृति में [क/2/अ] काल के वश तिरोहित चैतन्य पुन: [ख/5] पुरुषचैतन्यरूपेण प्रतिसंक्रान्त होता है। इस प्रतिसंक्रान्ति के वश वह क्षुब्ध हो जाती है। परिणामतया उसमें गुणवैषम्य प्रकट होने लगता है और इस तरह वह [ख/6] महत् तत्त्व के आकारतया पुन: परिणत हो जाती है। इस महत् तत्त्व में सदंश तो प्राकृत ही होता है परन्तु चिदंश पौरुष। इसे 'महान्' इसलिए कहा जाता है क्योंकि आगे चल कर पैदा होने वाले सम्पूर्ण जगत् का प्रसवहेतु यही बनता है। यही विश्वाधाररूप होता है। डिम्बकोशसदृश प्राकृत सदंश में रेतोबीज सदृश चिदंश का प्रतिसंक्रमण या प्रवेश होता है और तब यह जगत् का भ्रूणरूप या अंकुररूप बनता है। यों बोध्यबोधक भावरहित तमोरूप प्राकृत सदंश में पौरूष चिदंश के प्रतिसंक्रमणवशात् बोध्यबोधक भाव का उद्भवरूप तमोनिरसन इस महत् तत्त्व के कारण शक्य बन जाता है। अत: वृक्ष के बीज की तरह अपने में से प्रकट होने वाले विश्व की सूक्ष्मावस्था इसमें अंकुरणाभिमुखी बनती है। अत: इसे ब्लुप्रिन्ट्, की तरह जगत्प्रकाशक, वृक्ष बीज की तरह जगज्जनक तथा अतिसमर्थ तमोनाशक होने के रूप में भी प्रकट होता माना जाता है। यह अतिनिर्मल शान्त तथा सच्चिद्रूप होता है। परब्रह्म परमात्मा भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण [13] की अनूभूतिका विश्वसनीय आनन्दानुभावक वासुदेवात्मक करण भी यही बनता है [14]। हमारे भीतर अन्त:करण की जो निगूढ़ावस्था या निगूढ़तम विभाग 'चित्त' नामक है, उसे इसी महत् तत्त्व का व्यष्टि अंश समझना चाहिए। यह अति स्वच्छ होता है अत: इसे बुद्धि से पृथक्तया समझना चाहिए। बुद्धि ज्ञानरूपा होने पर भी स्वच्छ नहीं होती। चित्त, जबकि, निर्विषय, केवल सुषुप्त्यवस्थासाक्षिक आत्मावबोधरूप स्वच्छ होता है।

आत्मावबोध सारे विषयावबोधों का बीजरूप होता है। जैसे कम्प्यूटर का स्विच ऑफ कर देने पर भी ऑफ न होने वाला स्विच ऑफ-अवस्थासाक्षिक *CMOS (Complementary Metal Oxide Semiconductor)* निजात्मावबोधरूप होता है; अर्थात् वह स्वयं के प्रति सभान होता है तद्वत् वह जैसे अपने हार्डडिस्क् तथा समय आदि के बारे में कम्प्यूटर की सभानता है, वैसे ही चित्त भी निद्रावस्था में अनस्तमित

आत्मसभानता है; अत: यह चित्त विकाररहित होता है। कम्प्यूटर में जैसे *RAM (Random Acces Memory)* होती है वैसा चंचल मन, जबकि, निरन्तर विकारशील होता है, क्योंकि वह किसी भी विषय की फाइल या प्रोग्राम को कम्प्यूटर के ऑन/ऑफ करने की प्रक्रिया के अनुसार ही सम्हाल पाता है अथवा खो देता है।

इसी तरह शान्त घोर विमूढ़ अहंकार भी केवल शान्त कभी नहीं हो पाता, जबकि चित्त तो केवल शान्त होने के कारण अहंकार से भी विसदृश ही होता है। बुद्धि-उपाधि-वशात् कभी-कभी विकृत अशान्त कालुष्य सा इसमें प्रतीत होने पर भी चित्त स्वभावत: तो निर्विकार शान्त ही रहता है [16]।

हमने देखा कि वैसे तो वाल्लभ वेदान्त में आधिभौतिक आध्यात्मिक या आधिदैविक सभी रूपों को धारण करने वाला ब्रह्म स्वयं एकमेवाद्वितीय तत्त्व है। फिर भी सत्ता चैतन्य और त्रिविध अपरिच्छिन्नता को लिये रखने वाला अक्षरब्रह्म प्रकृति और पुरुष के रूप में द्विधा विभक्त होने के बावजूद अपनी इस महद्-अवस्था में पुन: चिदचिद्ग्रन्थि भावापन्न हो जाता है। तदनुरूप प्रत्येक प्राणी में विद्यमान महदंशभूत चित्त भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है।

मूल में यही कारण है कि अपने यहां भारतवर्ष में चार्वाक मत केवल भौतिक पदार्थों ही सत्ता स्वीकारते हैं। इसी तरह यूरोप में भी कुछ भौतिकवादी चिन्तक केवल मेटर की ही सत्ता स्वीकारते हैं तो दूसरे आत्मवादी चिन्तक केवल माइन्ड् की ही सत्ता स्वीकारते हैं। दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोणों के आग्रहों के अनुरूप सारे के सारे *material phenomina* या *mental phenomina* की *Mind* या *Matter* के रूप में व्याख्या कर पाते हैं। यह *Reductionistic approach* स्वयं चित्त के चिदचिद्ग्रन्थरूप होने से उपपन्न भी हो जाता है। अतएव अर्नेस्ट् वाल्डफ्राईड् जोसेफ् वेंज़ेल् मॅक् को यदि Neutral Monism युक्तिसंगत लगता है तो बर्ट्रेन्ड्र रसेल "*What is Mind ? Does not matter. What is metter ? Never mind.*" उपहास द्वारा '*Neutral Atomic Pluralism*' भी प्रस्तावित कर पाते हैं।

वाल्लभ वेदान्त इस सन्दर्भ में कहना चाहेगा कि मूल तत्त्व उभयात्मक है और उभयातीत भी [16]। अतएव प्रत्येक भौतिक पदार्थ की जैसे सेंसेशन में व्याख्या शक्य हो जाती है, वैसे ही सभी मानसिक क्रियाकलापों की भौतिक-रासायनिक व्याख्या भी उतनी ही सुशक्य लगती है। मूलत: यह इसीलिए सम्भव हो पाता है क्योंकि विश्व के मूल में रहा महत् तत्त्व उभयात्मक होता है। यह महत् स्वयं जिस काल-कर्म-स्वभाव-प्रकृति-पुरुषात्मक अक्षरब्रह्म का नाम-रूप-कर्मात्मक व्याकरण या विस्तार है वह उभयात्मक भी होता है और उभयातीत भी [17]। अत: जड़जीवात्मना विभक्त अक्षरब्रह्म महत् तत्त्व के रूप में पुन: उभयमिश्रित हो जाता है। महत् अहंकारतया परिणत होता

है। अहंकार से विषयों के गुणधर्मरूप तन्मात्राओं का परिणाम प्रकट होता है तथा तद्ग्राहक इन्द्रियां भी परिणत होती हैं। इन्हीं तन्मात्राओं के स्थूल परिणामरूप पंचमहाभूत होते हैं। अत: इस दृष्टिकोण से हमारी अनुभूतियों का आकलन करने पर सृष्टि की प्रक्रिया में ही चिदचिदात्मकता अन्योन्यसंक्रान्त रहती होने से किसी भी विषय या अनुभूति की विवेचना जिस छोर से की जाय उस छोर से उसका वैसा रूप दिखलाई देने लगना एक स्वाभाविक कथा लगती है। अतएव हाल ही में स्वपर बोधशील स्वतोजनक मॉलेक्यूल के निर्माण-अनुसन्धान में निरत नॉबेल उपाधि से पुरस्कृत श्री ज्याँ मारिए लेन्ह के हाल ही में मुंबई में *Times of India* समाचार पत्र को दिये एक साक्षात्कारों में उनके द्वारा प्रकट यह उद्‌गार सभी विचारों के लिए मननीय है :-

"Imagine bricks that can get together to from a house, (if) the information is in the bricks to spontaneously assemble. Bricks can't do it, of course, but molecules can....... Life for me is a much simpler than, say,consciousness. Indeed, the distance from non-livling matter to living matter is much shorter than that from living matter to thinking matter. How come natural evolution has led to an entity able to think over the very thing which produced it ? This ability (–) to be a part of nature and to be apart.....(–)is what I find absolutely awesome."

यहां न केवल जड़-जीव के बीच आत्यन्तिक भेद का अपितु अभेद का भी निरसन ध्वनित हो रहा है। अत: सिद्ध होता है कि तात्त्विक अभेद और नाम-रूप-कर्मगत भेद को स्वीकारे जाने की दिशा में ही श्री ज्याँ मारिए लेन्ह का अनुसन्धान अग्रसर होता जायेगा। अत: जड़ विषय के बोधात्मक धर्मों से मण्डित होने में अथवा जड़विषयक बोध के स्वयं जड़ उपकरणों से जन्य होने में दर्शनशास्त्र को अब विस्मित होने की मनोवृत्ति पर काबू पाना पड़ेगा; क्योंकि अनुभूति विषयरूप जड़द्रव्य विषयि की अजड़-अनुभूति की इतरेतरजन्य जनकता अब सहज ही समझी जा सकने वाली बात बनने जा रही है।

7. अन्त:करण के द्वितीय विभाग अहंकार का स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

ज्ञानप्रधान महत् क्रियाशक्तिरूप व्यष्टि तथा समष्टि रूप अहंकार परिणत या प्रकट होता है। क्योंकि व्यष्टिरूप चित्त और समष्टिरूप महत् दोनों ही चिदचिद् ग्रन्थिरूप होते हैं। अत: अपने उपादान कारणानुरूप अहंकार भी उभय ग्रन्थिरूप ही प्रकट होता है। तमोगुण के उद्रेकवश, इसमें से तन्मात्राओं का, रजोगुण के उद्रेकवश दशविध इन्द्रियों का और सत्त्वगुण के उद्रेकवश मन का परिणाम प्रकट होता है [18]।

शुद्ध आत्मचेतना में कर्तृत्वबोध इसी अहंकार से कृत्रिम तादात्म्यभावा-

पत्तिवशात् सम्भव होता है। इसे यों कहा जा सकता है कि आत्मचेतना बिना न तो अहंकाररूप अन्त:करण के विभाग में अहंबोध शक्य हो सकता है और न आन्तरिक अहंकरण के बिना आत्मचेतना में ही अहंवित्ति वेद्यता सम्भव हो पाती है। प्रगाढ़ निद्रा में अहंवित्तिवेद्य आत्मा के विद्यमान रहने पर भी अहंबोध रह नहीं जाता। अत:, जैसा कि पहले ही चतुर्ग्रन्थी अन्त:करण के बारे में हम देख ही चुके, कम्प्यूटरगत *CMOS* के समान जैसे चित्त होता है, वैसे ही *ROM (Read Only Memory)* की तरह अहंकार होता है, क्योंकि यह अहंकार भी कुछ वैसा ही उत्तरदायित्व निभाता है कि जैसा कार्यनिष्पादन कम्प्यूटर में *ROM (Read Only Memory)* करता है। हमारे सभी तरह के चेतना व्यापारों को एकसूत्र करने वाला निजात्म संवेदनारूप यह विभाग या आन्तरिक संकर्षणरूप उपकरण है। हमारे बाह्य शरीर और आन्तरिक मनोबुद्धि के नित्य परिवर्तनशील होने की प्रक्रिया में यह अहंकार अपरिवर्तनशील ही रहता है, रीड् ऑन्ली मेमॉरी = यू कॅन् नॉट् चेंज् ऑर रीमूव् व्हॉट् इज़ स्टोर्ड् इन् इट्।

इसी अहंकार में से प्राण और बुद्धि के पहलु भी शनै: परिणत या प्रकट होते हैं। अत: इन्हें अहंकार के रूपान्तरतया मान्य किया गया है [19]। प्राण, हमारे भीतर वह क्रियाशक्ति भरता है जिससे कि कर्मेन्द्रियां स्वस्वकार्य निष्पन्न करने में समर्थ हो पाती हैं। बुद्धि इसी तरह ज्ञानेन्द्रियों के द्वार से विषयों को गृहीत बना कर विषयबोध, विषयस्मृति, विषयाज्ञान, विषयसंशय, विषयविभ्रम, विषयस्वप्न या निद्रा उत्पन्न करती है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

8. अन्त:करण के तृतीय विभाग मन का स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

जैसा कि हम कह चुके अहंकार में सात्त्विक गुण के उद्रेकवशात् मनस्तत्व रूपी परिणाम प्रकट होता है। यह मन भी क्रिया और बोध उभयविध गुण धर्मों से युक्त होता है। इसका स्वरूप संकल्प-विकल्पात्मक होता है [20]।

जो भी कुछ कर्म हमें अपने स्वभाव के अनुरूप करने पड़ते हैं या सामर्थ्य के अनुरूप हम करना चाहते हैं, उन्हें करने का संकल्प और उनकी कामनायें हमारे सक्रिय मन के भीतर पैदा होती मानी गयी हैं। इसी तरह जिस विषय का हमें बोध होता है उसके याथार्थ्य के सारे सम्भावित और असम्भावित विकल्प भी सभान मनके भीतर ऊहापोह के रूप में उभरते-डूबते रहते हैं। उदाहरणतया घटके बोध के समय वह किस/किन उपादान और किस/किन निमित्त कारणों से निर्मित हुआ है, वह किस/किन रंगों का है या हो सकता है, वह जलधारणार्थ है या संगीतगोष्ठि में तालवादनार्थ है, वह अपने समानवर्गीय अन्य घटों की तुलना में छोटा है या बड़ा है, यह अस्वामिक है या व्यक्तिविशेषस्वामिक है, आदि-आदि अनेकानेक विकल्पों का ऊहापोह मन घटानुभूति की आद्यक्षण के शतांश में कर लेता है। अतएव सुख-दु:ख, राग-द्वेष, दया-नैष्ठुर्य,

काम-अकाम, क्रोध-अक्रोध, लोभ-अलोभ, मोह-अमोह, मद-अमद, मात्सर्य-अमात्सर्य, संकल्प-विचिकित्सा, श्रद्धा-अश्रद्धा, धैर्य-अधैर्य, लज्जा-अलज्जा अथवा भय-अभय आदि सभी मनोवृत्तियां मन:करणिका ही होती हैं। हमारी विषयानुभूतिओं को हमारी भावनाओं के रंग में रंग देने का काम भी मन ही करता रहता है। गुणत्रयी के सात्विकसात्विक, सात्त्विकराजस, सात्त्विकतामस, राजसात्त्विक, राजसराजस, राजसतामस अथवा तामससात्त्विक, तामसराजस, तामसतामस आदि इतरेतरगुणित अनेकविध निमित्तों के वश क्षुब्ध हो कर मन ही इन अनेकविध मनोभावनाओं को प्रकट करता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि यह मन कैसे कम्प्यूटर के *RAM (Random Acces Memory)* जैसा चंचल होने के कारण निरन्तर परवर्तनशील ही रहता है।

सभी ज्ञानेन्द्रियां और सभी कर्मेन्द्रियां मन के आधीन रहती हैं। अतएव इसे अनिरुद्धरूप माना गया है। क्योंकि बिरले योगी ही इसे निरुद्ध कर पाते हैं [21]। निद्रकाल में यह मन अहंकार की ही तरह सक्रिय नहीं रहता परन्तु स्वप्न-जागरण में अहंकार की ही तरह जाग उठता है। इसका सामर्थ्य भी अन्त:करण के समान अन्य सभी विभागों पर बहुधा बलवत्तर ही होता है। इसके सहयोग बिना कोई भी इन्द्रिय अपने रूपरसादि विषयों के ग्रहणार्थ समर्थ नहीं हो पाती। अतएव प्रत्यक्षानुभूति अपने प्राथमिक स्तर पर निर्विकल्पक सन्मात्र ग्राहिणी होने के कारण इस अवस्था में प्रत्यक्ष मन:संयुक्त इन्द्रियों से जन्य माना गया है [22]। मन जिन विकल्पों का उद्भावन करता है वह उन्हें बुद्धि के स्मृति केन्द्र में से ही बाहर निकालता है और स्वसंयुक्त इन्द्रियों द्वारा प्रापित विषय सूचनाओं के साथ-साथ गृहीत-वस्तु-देश-काल-से सम्बद्ध या असम्बद्ध अनेकानेक विकल्पों का अवगाहन बुद्धि से यह मन ही करवाने लग जाता है।

9. अन्त:करण के चतुर्थ विभाग बुद्धि का स्वरूप और उसके क्रियाकलाप :

अहंकार में राजस गुण के उद्रेकवश बुद्धितत्व का प्राकट्य होता है। मन, यदि इन्द्रियों का प्रेरक बनता है तो बुद्धि इन्द्रियों पर अनुग्रह करने वाली मानी गयी है। कर्मेन्द्रियों से जो कुछ हम कर पाते हैं या ज्ञानेन्द्रियों से जो कुछ हम जान पाते हैं, वह उस क्रिया या उस विषय के बुद्ध्यारूढ़ होने पर ही शक्य हो पाता है। अतएव बुद्धि की सात्त्विकादि अवस्थाओं के अनुरूप हमसे कोई कार्य या विषय भिन्न-भिन्न रीति से सम्पन्न या गृहीत हो पाते हैं। यह बुद्धि का कार्य है। बुद्धि का स्वरूप यों समझाया गया है कि किसी भी घटादि सदृश विषय के स्फुरण होने पर शब्द या संस्कार अथवा आलोक के वश जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है वह बौद्धिक ही होता है [23]। अर्थात् हमारा सारा सविकल्पक ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान ही होता है। समनस्क इन्द्रियों द्वारा बुद्धि के विभाग में उपस्थापित सामान्य ज्ञान विषयीभूत विषयों के साथ यथार्थ/अयथार्थ विविध विकल्पों का समायोजन बुद्धि द्वारा ही विशेष ज्ञान के रूप में निष्पादित होता है [24]।

कम्प्यूटर के बेसिक फंक्शन्स् के उदाहरणों में चतुर्थ *BIOS (Basic Input output System)* के समानान्तर अन्त:करणों में बुद्धि का विभाग होता है। जैसे *BIOS* कम्प्यूटर के अन्य सारे क्रिया-कलापों में सहायक बनता है, ऐसे ही बुद्धि भी चित्त, अहंकार एवं मन के आधीन रह कर उन्हें सर्वविध कार्यों को सम्पन्न करने में सहायिका बनती है। *BIOS* जैसे *ROM* के भीतर स्टोर्ड् होता है, इसी तरह बुद्धि भी हमारे अहंकार पर आश्रित होती है। अतएव गाढ़निद्रावस्था में अहंकार के भी सो जाने पर चित्त तो जगता है परन्तु बुद्धि सो जाती है। अन्त:करण में स्फुरित (*input*) द्रव्य की सत्त्वादिगुणहेतुक स्फुरणाओं में तारतम्यवश बुद्धि भी तरतमभावापन्ना हो जाती है, यों वह भी नानाविधा बन जाती है। अत: बुद्धि के *Output*, नामश:, संशय, विपर्यास=भ्रम, निश्चय, स्मृति, स्वप्न, रूपिणी पंचविध वृत्तियां होती हैं[25]। इस प्रकार बुद्धि के क्रिया-कलापों की भी अनेक विधाएं प्रकट होती हैं।

इसमें आवश्यकतया अवधेय बात यही है कि सामान्यतया वस्तु के विकल्पों का अवगाहन करने वाला सारा का सारा बौद्धिक ज्ञान वैसे तो राजस स्वभाव का माना गया है। मूल में, क्योंकि, अहंकार के भीतर राजसगुणोद्रेक का ही परिणाम बुद्धि को माना गया है। इसे वाल्लभ वेदान्त के पुन: सद्य: प्रकट प्रस्थानरत्नाकर[26] के अनुसार देख लेना उपकारक होगा :

संशय : उस मौलिक राजसता के अन्तर्गत किसी एक धर्मी के बारे में विरुद्ध नानाकोटिक धर्मों का अवगाहन करने वाला संशयरूप ज्ञान पुन: राजस-राजसरूप ज्ञान का एक प्रकार होता है। सम्भावना और तर्क को, वाल्लभ वेदान्त में, संशयकोटिक ज्ञान के अन्तर्भूत ही मान लिया गया है।

विपर्यास : अर्थात् इन्द्रियों से गृहीत विषय से भिन्न किसी विषय की स्फुरणा कराने वाला राजस-तामस रूप ज्ञान का प्रकार भ्रमरूप होता है। यद्यपि प्रस्थानरत्नाकर-कार के अनुसार यह विषयदोष और/अथवा करणदोष के वश पैदा होता है। एतावता सोपाधिभ्रम तथा निरुपाधिभ्रम दोनों तरह के भ्रम भेद वाल्लभ वेदान्त में अमान्य या अव्याख्येय नहीं हो जाते।

निश्चय : अर्थात् यथार्थ अनुभूति। इसे 'प्रमा' भी कहा जाता है। ज्ञान के इस प्रकार में अनुभूति अर्थानतिवर्तिनी होती है। अर्थात् जिस देश-काल में जो वस्तु जैसी हो उसका उसी देश-काल में उसी तरह अनुभूत होना। यह राजस-सात्त्विक रूप ज्ञान का प्रकार होता है। इस निश्चयात्मक ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष यों दो भेद स्वीकारे गये हैं। निश्चयान्तर्गत प्रत्यक्ष के अवान्तर प्रभेद निर्विकल्पक अर्थात् सन्मात्रग्राही सामान्य ज्ञान होता है - सविकल्पक अर्थात् विकल्पावगाही विशिष्टज्ञान होता है। परोक्ष ज्ञान के प्रकारों में अनुमिति, शाब्द और ऐतिह्य को गिनाया गया है। अन्य जो उपमान, अर्थापत्ति,

अनुपलब्धि आदि अन्यान्य दर्शनों द्वारा प्रस्तावित किये गये परोक्ष प्रमा के प्रकार हैं उनका अनुमिति में अन्तर्भाव स्वीकार कर लिया गया है।

स्मृति : बाह्य विषय के उपक्रम के बिना ही पूर्वानुभूत वस्तु विषयक संस्कारों के कारण पैदा होने वाला स्मृतिरूप बौद्धिक ज्ञान राजस-राजस प्रकार का होता है। यह बाह्यार्थजन्य न होने के कारण अर्थात् केवल आन्तरिक संस्कारवश पैदा होने के कारण अप्रमाणतया माना गया है। अतएव स्मृतितया स्मृति के प्रामाणिक होने पर भी अर्थात् दृष्टार्थसंवादिनी होने पर भी, केवल आन्तरिक करणों के व्यापार पर निर्भर जन्यता के कारण स्मृति प्रमेयसिद्धि में साधिका नहीं बनती है। अत: इस पारिभाषिक अर्थ में स्मृति को अप्रमाण ज्ञान के प्रकारतया माना गया है।

स्वप्न : यह निद्रा और जागरण के बीच प्रकट होता बौद्धिक ज्ञान, राजस-तामस प्रकार का ज्ञान होता है। इसकी गाढ़ अवस्था में जाने पर अर्थात् बुद्धि के समेत मन और अहंकार के सो जाने पर सुषुप्तिरूप चित्तकरणक ज्ञान प्रकट होता है। अर्थात् बुद्धि की निष्क्रियता के रूप में इसे बौद्धिक ज्ञान का भेद माना जा सकता है वरना यह चित्तकरणक ज्ञान का प्रकार है जिसे हम देख ही चुके हैं।

बौद्धिक ज्ञान के इन पांच प्रकारों में प्रमाणतया जो निश्चयाकारक ज्ञान को माना गया है उसका स्पष्टीकरण स्वयं श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु इन शब्दों में देते हैं ''अर्थोहि ज्ञानस्य अर्धम् अङ्गम्; अतएव, स्मृति: न निश्चयात्मिका अर्थाभावात्''[27]। अर्थात् अनुभूयमान पदार्थ अनुभूति का आधा अंग होता है। अत: जब कोई अनुभूति अनुभूयमान पदार्थ से उत्पन्न न हो कर अन्यान्य कारणों से उत्पन्न हो जाती है तो उस बौद्धिक घटना को पूर्णतया घटित न मान कर अर्धघटित घटना के रूप में स्वीकारना चाहिए। जैसे एक भाषा में कही गयी किसी बात का दूसरी भाषा में अनुवाद होता है, उसी तरह देश-काल में घटित किसी वास्तविक घटना या वस्तु का देशकालातीत चेतना में पुन: अनुघटित हो जाना 'अनुभूति' कहलाती है। ''यद् भवति तदेव अनुभूयते'' ऐसा होने पर ही भूतवस्तु का अनुभव यथार्थ होता है। अन्यथा तद्देशवर्तिता, तत्कालवर्तिता, तद्धर्मविशिष्टता से रहित अनुभूति भूतवस्तु की अनुकारिणी न होने के कारण अयथार्थ (स्मृति संशय भ्रम स्वप्न रूपिणी) बन जाती है। बावजूद इसके वाल्लभ वेदान्त में भ्रम ज्ञान को अन्यथाख्यातिरूप न मान कर अन्यख्यातिरूप जो माना गया है, उसका हेतु केवल यही है कि सारे भ्रमज्ञान इन्द्रियसम्प्रयुक्त देश-काल-वस्तु प्रकार से भिन्न किसी देश-काल-वस्तुप्रकारविषयक होते हैं। यह विषयगत आन्तरिक/बाह्य दोषों के और/अथवा ज्ञान के आन्तरिक/बाह्य करणों के दोषों के वश घटित होता होने से अन्यख्यातिरूप माना गया है।

वाल्लभ वेदान्ताभिमत अन्त:करण का स्वरूप और उसके क्रियाकलापों के निरूपण में इस तरह सांख्याभिमत ज्ञान प्रक्रिया का भगवद्गीता और भागवतपुराण के अनुसार उपनिषदों के साकारब्रह्मवाद के साथ समन्वय का निदर्शन स्पष्ट होता है।

संदर्भ -

1. *"अखण्डं कृष्णवत् सर्व यथा तत्तु निरूपितं आत्मैव सर्वं सृज्यते सृजति प्रभु: त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर: 'आत्मैव तदिदं सर्व ' 'ब्रह्मैव तदिदं ' तथा इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वै: यथामति, अयमेव ब्रह्मवाद: शिष्टं मोहाय कल्पितम्" त.दी.नि. 2।182-184।*
2. *" 'तदात्मानं स्वयमकुरुत ' इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्, 'सुकृत' त्ववचनाच्च अलौकिकत्वं तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह 'परिणामात्', परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं सर्वाणि च तैजसानि....तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मणएव इति सिद्धम् " अणुभा. 1।4।26.*
3. *"संहतै: उपचितै: अवयवै: गुप्तो अवयवी प्रकटीक्रियते" सुबोध 2।1।24*
4. *"प्रमेयं हरिरेवैक: सगुणो निर्गुणश्च स: गुणा: कार्यं तथा धर्म: क्रियोत्पत्त्यादयश्च स: .... बुद्धिसौकर्यसिद्धयर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतो अष्टाविंशतिभेदास्तु कारणे तत्त्वभेदत: भगवत्त्वं यतस्तेषां तस्मात्तत्त्वानि तानि तु:" त.दी.नि. 2।84-86।*
5. *"स्वरूपेतु त्रयो भेदा: क्रियाज्ञानविभेदत: विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरे:" त.दी.नि. 2।89।*
6. *द्रष्ट. त. दी. नि. 2/98-116।*
7. *"सत्त्वं रजस्तमश्चैव पुरुष: प्रकृतिर्महान् अहंकार: पच्चमात्रा शब्दस्पर्शाकृती रस: गन्धो भूतानि पञ्चैव खं वायुर्ज्योतिरप्क्षिति: क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्राङ्घ्रिपायव: श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मन: षडिति भेदत:" त.दी.नि. 2।94-95।*
8. *द्रष्ट. त.दी.दि. 2।118-120।*
9. *"सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तद् अनन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् आविर्भासतिरोभावै: मोहनं बहुरूपत:" त.दी.नि. 1।70-72।*
10. *द्रष्ट. त.दी.नि. 2।141-146।*
11. *द्रष्ट. त.दी.नि. 1।27-33।*
12. *"एकमेव अन्तरात्मकम् अन्त:करणं मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्धा लक्ष्यते " सुबो. 3।26।14।*

13. "यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमो अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" भग. गीता. 15/18।

14. "चित्ते भगवत्प्रेम सम्पादनीयम्। ततः प्रेमसंवलितं चित्तं सर्वत्र विद्यमानं भगवन्तं विषयीकरिष्यति। यथा यथा रसेनेन्द्रियसहिता जिह्वा द्रव्येषु विद्यमानान् रसान् स्वयमेव गृह्णाति, नतु तद्रसज्ञानं पूर्वम् अपेक्षते। तथा भक्त्याविष्टं चित्तं स्वयमेव भगवन्तं गृह्णाति। प्रतिनियतेन्द्रिययवद् भगवद्व्यक्तिः"। सुबो. 2/6/33.

15. द्रष्ट. सुबो. 3/26/19-22।

16. "प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद् विलक्षणं जगतः समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम्" त.दि.नि. 1/67-68, "मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना" भग. गीता. 9/4. "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितं जगत्" तत्रैव 10/42।

17. "परं ब्रह्मतु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहद् द्विरूपं तद्धि सर्वं स्याद् एकं तस्माद् विलक्षणम्" सिद्धा. मुक्ता 3।

18. द्रष्ट. प्रस्थानरत्नाकर कोटीत्रयनिरूपक कल्लोलगत द्वितीय तरंग।

19. तत्रैव।

20. "संकल्पविकल्परूपत्वं स्वरूपलक्षणं कामजनकत्वं कार्यलक्षणम्" सुबो. 3/26/27।

21. द्रष्ट. तत्रैव . 3/26/28

22. द्रष्ट. प्रस्थानरत्नाकरीयप्रमाणपरि. प्रथमकल्लो. द्वितीयतरं।

23. द्रष्ट. सुबो. 3/26/29

24. तत्रैव।

25. तत्रैव।

26. द्रष्ट. प्रस्था. रत्ना. प्रमा.परि. प्रथमकल्लो. द्विती. तरं।

27. सुबो. 3/26/29।

7

वेदांतीय मनोविज्ञान

अ.ग. जावडेकर

1. पाश्चात्य मनोविज्ञान की मर्यादायें -

पश्चिम में मनोविज्ञान का उदय, जैसा कि शब्द के अक्षरार्थ से सूचित होता है, आत्मा के विज्ञान के रूप में हुआ। लेकिन मनोविज्ञान की इस तथाकथित शास्त्रीय कल्पना में धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अधिक समाविष्ट हुआ प्रतीत होता था। इस कारण मनोविज्ञान बाद में चलकर मन का ही विज्ञान समझा जाने लगा। लेकिन पुरोगामी वैज्ञानिक प्रवृत्तियां मन जैसे अनिरीक्षणार्ह, अत: अवास्तविक, विषय का स्वीकार नहीं कर सकती थीं। इसलिये मनोविज्ञान का क्षेत्र निरीक्षणार्ह तथा प्रयोग से प्रमाणीकरणीय चेष्टाओं तक ही सीमित कर देना उचित माना जाने लगा। वेदान्त-दर्शन के दृष्टिकोण की तुलना में ये सब विचार संकुचित प्रतीत होंगे। इनमें से एक भी स्वयंपूर्ण, आत्मसंगत तथा निर्धारित नहीं सिद्ध हो सकता।

मनोविज्ञान के सर्वांगीण अध्ययन में बाह्य प्रकट चेष्टायें, आन्तरिक मानसिक अनुभव तथा उसका प्रकाशक तत्व आत्मा इन सब का समावेश अत्यावश्यक है। मानवीय चेष्टाओं का पूर्ण स्पष्टीकरण मन का विचार किये बिना संभव नहीं। और मन का पूर्ण स्पष्टीकरण आत्मा के विचार के बिना संभव नहीं है। मानवीय चेष्टाओं का भौतिक, रासायनिक, शरीरक्रिया, जीव आदि शास्त्रों में आधिभौतिक दृष्टिकोण से विचार असंभव नहीं है। लेकिन यह विचार तब तक पर्याप्त नहीं समझा जा सकता जब तक अनुभवों का आन्तरिक रूप से विचार करने वाला मनोविज्ञान प्रस्तुत न हो। और जिस प्रकार भौतिक शास्त्र अनिवार्य रूप से अतिभौतिक शास्त्र में परिणत हो जाता है उसी प्रकार मनोविज्ञान भी अतिमानस विज्ञान तथा आत्मविद्या में परिणत हुए बिना नहीं रह सकता।

2. वेदान्तीय मनोविज्ञान की व्यापक कल्पना -

वेदान्त की मन संबंधी चर्चा केवल मनोवैज्ञानिक ही नहीं है; वेदान्त मन का विचार ज्ञान शास्त्र, अतिभौतिक शास्त्र तथा निकष शास्त्र इन सभी दृष्टिकोणों से करता है। यदि इन दृष्टिकोणों की उपेक्षा की जाय तो मन का अधूरा ही ज्ञान हम प्राप्त कर पायेंगे। इसके अतिरिक्त मन के संबंध में तथा सत्य के स्वरूप के संबंध में चर्चा, जो वेदान्त में की जाती है, वह केवल बौद्धिक उत्कंठा के प्रशमन के लिये ही नहीं होती, उसका एक महत्वपूर्ण और व्यावहारिक उद्देश्य शाश्वत सुख की प्राप्ति है। अतिभौतिक शास्त्र की भारतीय दर्शनों की विभिन्न आस्तिक तथा नास्तिक विचारधाराओं में चाहे जितनी अलग-अलग कल्पनायें क्यों न प्रचलित हों, इन सब के लिये वह मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाली कला या विज्ञान अवश्य है। प्रयोग तथा प्रमापण के बिना शास्त्रीय अध्ययन कभी पूर्ण नहीं होता। लेकिन प्रयोग और प्रमापण की कल्पनायें बहुत व्यापक होनी चाहियें। प्रयोग को बाह्य तथा निरीक्षणार्ह दृश्यों तक ही सीमित कर डालना तथा प्रमापण को ऐन्द्रियिक अनुभवों तक ही मर्यादित कर देना उचित नहीं है। अनुभव के क्षेत्र का विस्तार संवेदनाओं से कहीं अधिक बड़ा है। वह अनेक प्रकार के अनुभवों को अपने में समाविष्ट करता है। इन विभिन्न अनुभवों के जरिये हम अपने ऊपर प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरणत: योग दर्शन, जिसका बतलाया हुआ साधना मार्ग वेदान्त को मान्य है, स्वयं प्रायोगिक मनोविज्ञान का ही एक संप्रदाय है। वास्तव में, यदि कोई विचार-संप्रदाय पूर्णतया और सब तरह प्रयोगाधारित है तो वह वेदान्त ही है। इस कथन की सत्यता उन सभी लोगों की समझ में उपयोगी और मान्य भी होगी जिनका मन प्रयोग की एक विशिष्ट पद्धति से ही अभिभूत नहीं है तथा अनुभव के एक विशिष्ट क्षेत्र में ही बँध नहीं गया है। ध्यानात्मक प्रयोग में तथा नीति-नियमों के सतत अभ्यास में ऐसी एक गहराई होती है जिसका एक साधक ही अनुभव प्राप्त कर सकता है। अतिभौतिक शास्त्र शाश्वत सत्य की प्राप्ति के हेतु किया गया एक अभीप्स प्रयोग ही है। यह प्रयोग पूर्णतया मनोवैज्ञानिक ही है।

3. उपयुक्त विचार पद्धति -

विचारणीय विषय तथा विचार पद्धति इनमें परम्परानुरूपता होनी चाहिये। इस अनुरूपता में विचार्य विषय को विचार पद्धति के निर्धारण में प्राथम्य देना आवश्यक है। इस प्राथम्य के सिद्धान्त को विचार्य वस्तु के द्वारा विचार पद्धति निर्धारण का सिद्धान्त कह सकते हैं। लेकिन आधुनिक विज्ञानों में बिलकुल इसके विपरीत तरीका अपनाया जाता है। इन्होंने भौतिकनिष्ठ पद्धति को अवास्तव महत्व दिया है। यह पद्धति निरीक्षणाधारित अनुभववाद, वस्तुवाद तथा पारिमाणिक अनुरूपता आदि को महत्व देती है। जो बातें इस पद्धति के इन निकषों की कसौटी पर सही उतरती हैं वे ही विज्ञान

के उपयुक्त तथा अध्ययनार्ह विषय माने जाते हैं। जो इन निकषों के अनुरूप नहीं होते वे या तो निरर्थक या कपोलकल्पित या केवल भावाभिव्यक्ति रूप समझे जाते हैं। ऐसी बातों में ही वास्तुशास्त्र, रहस्यवाद, धर्म और सभी मूल्यविषयक विचारों का अन्तर्भाव किया जाता है। इस योजना के अनुसार मन का शरीर-यंत्र के अंतर्गत एक कल्पित भूत से अधिक महत्वपूर्ण कोई स्थान नहीं है। जब मन की ही यह बात है तो आत्मा के लिये कोई सम्मानपूर्ण स्थान उक्त योजना में न होना स्वाभाविक ही है। ये सब निष्कर्ष वस्तु-सत्यों का जान बूझकर कर अपलाप करने वाले तथा एक पूर्वकल्पित विचार पद्धति के द्वारा सत्य पर अत्याचार करने वाले ही मानने चाहियें। विभिन्न अनुभवों में अवगत होने वाली वस्तुओं की वास्तविक विभिन्नता के अनुरूप विचारपद्धतियों को अपनाने के बजाय एक पूर्वकल्पित विचार पद्धति के सांचे में विभिन्न वस्तुओं को बलात् बैठाना समीचीन नहीं है। इस संबंध में यह सोचना आवश्यक है कि यदि किन्हीं अनुभवगम्य वस्तुओं तथा एक पूर्वस्वीकृत विचारपद्धति में विरोध उपलब्ध होगा हो तो इन दोनों में से किसका परित्याग करना चाहिये ? इस प्रश्न का यही उत्तर होगा कि वस्तुओं के आगे विचार पद्धति की ही शरण में जाना चाहिये। सत्य ही विचारपद्धतियों के निर्धारक हो सकते हैं। इस बात को न मानकर चलना सिर के बल चलने के समान ही होगा। वेदान्त ने उपर्युक्त स्वाभाविक तथा पक्षपातरहित विचारपद्धति को अपनाया है और मनुष्य को अच्छी तरह समझने के लिये सब प्रकार के अनुभवों के महत्व को पहिचाना है।

4. व्यक्तित्व का विश्लेषण

मनुष्य के व्यक्तित्व के विश्लेषण की प्रक्रिया में वेदान्त ने अनुभवों के छह स्तर माने हैं। इनमें मूल्यों की दृष्टि से नैसर्गिक श्रेणीबद्धता है। आत्मा के पांच कोषों की उत्तरोत्तर श्रेणियां : अन्नमय याने आधिभौतिक, प्राणमय याने जैविक, मनोमय याने मानसिक, विज्ञानमय याने बौद्धिक तथा आनन्दमय याने भावनात्मक, में हुआ करती हैं। मानवीय व्यक्तित्व का केन्द्रीय तथा सर्वोत्कृष्ट तत्व 'चैतन्य' है। इनमें से हर एक का स्वतंत्र और महत्वपूर्ण स्थान है। एक का दूसरे में समावेश करना दुराग्रहपूर्ण ही होगा। इस प्रकार का समावेश मानवीय अनुभवों की विभिन्नता को, जो व्यक्तित्व की इकाई का निर्माण करती हैं, कृत्रिमरूप से एक सांचे में ढाल देता है। अनुभवों के इन विभिन्न स्तरों का एक उदाहरण के द्वारा निदर्शन कर सकते हैं। शरीर की सहज *(Reflex)* क्रियायें आधिभौतिक होती हैं, सहज प्रवृत्तियां *(Instincts)* जैविक होती हैं, इच्छा मानसिक होती है, विचार या निर्णय बौद्धिक होता है, मूल्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार आन्तरिक होता है तथा सभी मूल्यों का स्रोत तथा अनुभवों का प्रकाशक तत्व आत्मा की अनुभूति हुआ करती है।

मन के संबंध में विशेषतया विचार करने पर वेदान्त में उसके अस्तित्व का

समर्थन करने वाली तीन युक्तियां उपलब्ध होती हैं। एक श्रुति और स्मृति के प्रामाण्य पर आधारित है, दूसरी प्रत्यक्ष अर्थात् आन्तरिक अनुभव पर आधारित है और तीसरी अनुमान पर आधारित हैं। तीसरी युक्ति आत्मा और विषय को एक दूसरे के संपर्क में जानने वाले करण की कल्पना का उपयोग करती है।

इनमें पहली युक्ति की यहां चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। सभी दार्शनिक संप्रदाय अनुमान के द्वारा ही मुख्यतया मन के अस्तित्व का समर्थन करते हैं। वेदान्त को कणाद का यह तर्क मान्य है कि अनवधान की [1] अवस्था में, यद्यपि ज्ञान के अन्य साधन-विषय, बाह्य इन्द्रियां तथा आत्मा ये सब उपस्थित होते हैं, तब भी प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इससे ज्ञान के लिये मनोयोग की आवश्यकता स्वयं सिद्ध होती है। यदि विषय, इन्द्रिय और आत्मा ये तीन ही ज्ञान के लिये पर्याप्त होते तो इनके हमेशा ही अनिवार्य रूप से उपस्थित होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान हमेशा होता रहता। किन्तु प्रत्यक्ष का कभी उत्पन्न होना और कभी न उत्पन्न होना अनिवार्य रूप से पूर्वकल्पित करता है कि मनोयोग भी एक चौथा ज्ञान-साधन है।

लेकिन वेदान्त का अपना अलग विचार यह है कि साक्षी आत्मा के लिये अन्तःकरण रूपी मन सीधा प्रत्यक्षगम्य ही है। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि मन के अस्तित्व का यह प्रत्यक्ष प्रमाण सभी विचारकों को मान्य हो सकता था[2]। किन्तु कुतर्कपूर्ण तथा कृत्रिम दार्शनिक चर्चाओं ने इस विषय को उलझा दिया है। जहां प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता वहीं सामान्यतया अनुमान का उपयोग किया जाता है। वेदान्त मन के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण को पर्याप्त और स्वयं-प्रमाण मानते हुए भी दूसरों के द्वारा प्रस्तुत किये गये अनुमान-प्रमाण का समर्थन इसलिए करता है कि यदि वे अपने अन्तर्दर्शन या शब्द प्रमाण के विषय में संदेहपूर्ण हो तो अनुमान के जरिये वे इस संदेह का निराकरण कर सकें। यह सच है कि जो मन के संबंध में विचार ही करने के लिये उत्सुक नहीं हैं उनके लिये कोई प्रमाण उपयोगी नहीं हो सकता। लेकिन यह स्थिति इतनी विसंगतिपूर्ण है कि वह मन के अस्तित्व की ही परोक्ष रूप से समर्थक सिद्ध होती है।

5. मन का अचेतन स्वभाव -

इसके बाद हम वेदान्त मत में स्वीकृत मन के स्वरूप की कल्पना पर आते हैं। भारतीय विचार समुदायों के समान किन्तु सामान्य पाश्चात्य धारणाओं के विपरीत वेदान्त मन को अचेतन या जड़ मानता है। आत्मा चैतन्य का तत्व है और वह मन से भिन्न है। विषयी स्वरूप या चेतनता आत्मा में ही होती, मन में नहीं। आत्मा चैतन्य का तत्व है और वह मन से भिन्न है। विषयी स्वरूप या चेतनता आत्मा में ही होती है, मन में नहीं। आत्मा मन का आन्तरिक करण के रूप में उपयोग करता है और इसके द्वारा ही आत्मा का बाह्य विश्व के साथ संपर्क प्रस्थापित होता है। आत्मा की चेतनता निरपेक्ष है क्योंकि वह कभी किसी अनुभव का विषय नहीं होता।[3]

पाश्चात्य मनोविषयक कल्पनाओं में एक बहुत बड़ी विसंगति उपलब्ध होती है। इस कल्पना के अनुसार मन में चेतना होती है लेकिन यही कल्पना मन को दिमाग और नाड़ी संस्थान का कार्य या अभिव्यक्ति मात्र मानने से नहीं हिचकिचाती। इससे जड़ द्रव्य को ही चेतना का अधिष्ठान समझने की नौबत आ पड़ती है। अधिक संगत तो यह होगा कि या तो मन को जड़ द्रव्यों के समान जड़ माना जाय या उसे चेतना का केवल एक आधार मान लिया जाय जिससे जड़ द्रव्य के रूप में उसकी परिगणना न की जा सके।

वेदान्त का इस संबंध में यह विचार है कि मन जड़ होते हुए भी स्थूल द्रव्य न होकर एक अति सूक्ष्म द्रव्य ही है। इसमें आत्मा को प्रतिबिंबित करने की क्षमता होती है और इसी कारण यह चेतन जैसा दिखलाई पड़ता है। मन को भौतिक, रासायनिक, शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि विविध साधनों के कार्य के रूप में अध्ययन करना उपयुक्त ही है और उसके समर्थन में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। लेकिन यह सत्य है कि यह अध्ययन मन के स्वरूप का पूर्ण स्पष्टीकरण करने वाला नहीं माना जा सकता क्योंकि यह चेतना की उपस्थिति को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं है।

6. चार पहलू -

अन्य भारतीय दर्शनों में मन आत्मा से स्वतंत्र तत्व भी माना जाता है जबकि वेदान्त आत्मा की ही स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है और आत्मा से भिन्न जड़ या वस्तु विश्व को वह अज्ञान का कार्य समझता है। मन इस मूलभूत अज्ञान का एक कार्य है। स्वयंप्रकाश आत्मा को अज्ञान से परिच्छिन्न होने पर जीव का रूप प्राप्त होता है। आत्मा के इस नैसर्गिक अज्ञान का सर्वसामान्य साक्षात्कार अनुभवसिद्ध है। इससे 'मेरा' और 'दूसरे का' इस द्वैत की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार है जो मन की एक वृत्ति मात्र है। जो मूलत: चिन्मात्र होता है वह अहंकार के पारदर्शक जैसे आवरण के कारण चित्त बन जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों अवस्थाओं में चित्त आत्मा का परिच्छेदक तत्व बनता है। यह स्मृति के रूप में अतीत को धारण करता है और अपेक्षा के रूप भविष्य की ओर उन्मुख होता है। आत्मपरिच्छेद से पर की भावना का विकास होता है। इसके लिये विश्लेषण और निर्णय इन दोनों की आवश्यकता होती है। इसका आधार बुद्धि है जो सैद्धान्तिक रूप में वस्तुविषयक ज्ञान का और व्यावहारिक रूप में आत्मपूर्णता का तत्व है। यह बुद्धि प्रामाण्य और मूल्य दोनों का अधिष्ठान है। ये विभिन्न कार्य सामूहिक रूप में 'अन्त:करण' अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय के नाम से अभिहित होते हैं। अन्त:करण एक होते हुए भी चतुर्गुण है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्त:करण के घटक हैं और इनके मुख्य कार्य क्रमश: विकल्प, अध्वसाय, अनुभवसातत्य तथा आत्मसात्करण हैं।

मन के ऊपरी स्तर के नीचे वस्तुत: अनंत ज्ञान का भंडार पड़ा है लेकिन अपने अचेतन स्वभाव के कारण यह ज्ञान उपयोग में नहीं आ पाता। यहां इस कल्पना की पश्चिम की अचेतन मन की कल्पना के साथ तुलना की जा सकती है। यह मन में अनुभवों का भंडार है और यह मन के वर्तमान ज्ञात अनुभवों का नियंत्रण करता रहता है। लेकिन इन दो कल्पनाओं का भूलभूत भेद यह है कि यदि पाश्चात्य विचारों के अनुसार ये संचित अनुभव बाह्य विषयों के संपर्क से मन में प्रविष्ट होते हैं तो वेदान्त के विचारों के अनुसार ये अनुभव मन में ही विद्यमान होते हैं किन्तु ये मानसिक क्रियाओं से परिच्छिन्न हुआ करते हैं। तथापि इन दोनों दृष्टिकोणों में इस संबंध में असाधारण ऐकमत्य है कि मन के निचले स्तरों में ज्ञान की पूर्णता है और मन स्वयं जड़ है। अन्त:करण जागृति तथा स्वप्नावस्था में कार्य करता रहता है लेकिन सुषुप्ति में विषय के अभाव का, द्वैत के अभाव का ज्ञान होता है। लेकिन अज्ञान का सूक्ष्म स्तर इस अवस्था में विद्यमान ही होता है। इसकी अनुभूति का समर्थन जागृति में प्राप्त होता है।[4] पाश्चात्यों ने जिन क्रियाओं को सामान्यतया मानसिक बतलाया है या जिन्हें भारतीय विचारकों ने आत्मा से संबंधित माना है उन्हें वेदान्तियों ने केवल मानसिक या केवल आत्मिक न मान कर इन दोनों के पारस्परिक और अवस्तुभूत साहचर्य या अभ्यास का परिणाम कहा है। केवल निर्विकल्पक ज्ञान ही विषय रहित तथा अद्वैत रूप होता है। मन स्वयं जड़ होने के कारण कभी चेतन क्रियायें नहीं कर सकता।

7. मन इन्द्रिय नहीं -

भारतीय दर्शनों में इस प्रश्न की भी चर्चा की जाती है कि मन इतर बाह्य इन्द्रियों के जैसे एक इन्द्रिय है या नहीं। इस संबंध में उनमें मतभेद है और वेदान्तियों में भी ऐकमत्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि प्रत्यक्ष मात्र के लिये इन्द्रिय संयोग अपेक्षित है तो मन आन्तरिक प्रत्यक्ष का इन्द्रिय सिद्ध होता है। लेकिन यह बात विचार करने पर कि बाह्य प्रत्यक्षों में भी मन साधारण कारण के रूप में आवश्यक होता ही है, मन में इन्द्रियों में विद्यमान विशेषताओं का उपस्थित होना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वेदान्तियों का मन के प्रत्यक्ष का व्यावर्त्तक लक्षण इन्द्रिय जन्यता न होकर साक्षात्कारिता ही है। अत: मन को इन्द्रिय मानने की जरूरत नहीं। आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष से पूर्णत: समान नहीं होता। आन्तरिक प्रत्यक्ष के सुख, दु:खादि के जैसे विषय मनोवृत्ति रूप ही होने के कारण किसी अन्य साधन के बिना ही आत्मा याने साक्षी चैतन्य को ज्ञात हो जाते हैं।

8. प्रत्यक्ष का विषय -

प्रात्यक्षिक ज्ञान में मन का कार्य विश्रुत ही है। आत्म चैतन्य से उद्भासित अन्त:करण वृत्ति इन्द्रियों के मार्ग से बाहर जाकर अभिमुखावस्थित विषय का आकार

ग्रहण करती है। प्रत्यक्ष प्रक्रिया का यह वर्णन नपा तुला नहीं लगता किन्तु इसमें प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में काफी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिखलाई देता है। मन और बाह्य विषय इनके द्वैत का पुरस्कार करने वाले सभी मतों में इन दोनों के संयोग पर आधारित प्रत्यक्ष प्रक्रिया का स्पष्टीकरण देना बड़ा कठिन हो जाता है। लेकिन वेदान्तीय स्पष्टीकरण में ऐसे किसी द्वैत का सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि उसके अनुसार मन और विषय एक ही तत्व के बने होते हैं। इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य विचारक, सामान्यतया, संवेदना को मन और इन्द्रिय इनकी क्रियाओं का परिणाम न मानकर बाह्य विषयों से उसे स्वतः प्राप्त *(Received passively)* ही मानते हैं। इस आधार पर प्रत्यक्ष में संवेदनाओं का संघटन कैसे होता है, यह समझना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई का निराकरण तभी होता है है जब हम मन की और उसमें प्रतिबिंबित आत्मरूप तत्व को प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का संघटक तत्व समझें। मन की स्वाभाविक अवधानात्मकता को प्रयत्नकृत और नैसर्गिक सभी प्रत्यक्षों का स्थायी घटक समझना आवश्यक है। यदि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष घटित होता हो तो इन्द्रियों का मन के नियंत्रण में रहना जरूरी है। इसके बाद मन को बाहर जाकर विषय का आकार ग्रहण करना भी जरूरी है। बाह्य पदार्थ के साथ इस प्रकार के प्रत्यक्ष सम्पर्क के बिना केवल शारीरिक परिवर्तनों के आधार पर मन के अस्तित्व का अनुमान भी संभव नहीं है। केवल वस्तुनिष्ठ पद्धति से वस्तुओं की मानसिक प्रतिकृति की उपपत्ति देना भी आसान नहीं है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि कैसे मन ज्ञात वस्तुओं का आकार वास्तव में ग्रहण करता है। मन ऐसी ही बाह्य विषयों की मानसिक प्रतिकृतियों का बना होता है और इन्हीं के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय इनमें संपर्क प्रस्थापित होता है। आत्मरूप ज्ञाता में विषयाभिमुख वृत्ति का जो उदय होता है उसी को मन कह सकते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय इनके ऐक्य के बिना ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता। ज्ञाता का विषय से घनिष्ठ परिचय होना ज्ञान के लिये नितांत आवश्यक है। यह परिचय आत्मा के द्वारा उद्भासित और बाहर जाकर विषय का आकार ग्रहण करने वाली मनोवृत्ति के द्वारा घटित होता है।

इस विषयि-विषयैक्य के संबंध की प्रक्रिया के बारे में तीन मत प्रचलित हैं - (1) अभेदाभिव्यक्ति का, याने आत्मा और विषय इनको अलगाने वाली उपाधियों का निवारण कर इनके ऐक्य को प्रकट करने की कल्पना का पुरस्कार करने वाला मत। (2) दूसरा मत चिदुपराग का पुरस्कर्ता है जिसके अनुसार आत्मा विषय के आकार से ईषत् प्रभावित होता है। (3) तीसरा मत आवरणभिभव को स्वीकार करता है। इसके मुताबिक आत्मा और विषय इन दोनों के बीच अज्ञान का जो व्यवधान है उसका निराकरण प्रत्यक्ष प्रक्रिया में घटित होता है। ये तीन मत आपाततः ही भिन्न हैं। तत्वतः ये एक ही हैं। अज्ञान के आवरण के कारण ही विषय और विषयी का द्वैत रहता है अतः उसी का विनाश आवश्यक

है। लेकिन अज्ञानकृत द्वैत का विनाश, इस द्वैत के आधारभूत आत्मा और विषय के ऐक्य के साक्षात्कार से ही हो सकता है। यदि विषय वास्तव में आत्मा का आकार ग्रहण करने में असमर्थ ही हो तो यह द्वैत नष्ट हो सकता। अत: इन तीनों मतों का इस बात पर ऐकमत्य है कि विषय और विषयी का ऐक्य अवश्य स्वीकार्य है। सभी ज्ञानों में यह तत्व समाविष्ट है। इस तत्व के अस्वीकार के कारण ही आधुनिक मनोविज्ञान तथा उससे संबंधित ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में असंख्य और अनिवार्य ऐसी कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं।

9. मनस्तत्व का आध्यात्मिक महत्व -

वेदान्त की अतिभौतिक मीमांसा में तथा आध्यात्मिक साधना में मन का असामान्य महत्व है। यही वह अति सूक्ष्म किन्तु दृढ आवरण है जो नित्य, शुद्ध, मुक्त आत्मा और उससे विरूद्ध स्वभाव वाले विश्व इन दोनों के बीच में व्यवधान उपस्थित करता है। मन ही इन दोनों के बीच की कड़ी भी है जो दोनों के सदृश स्वभाव वाला भी है। पूर्णतया विषयिप्रधान वृत्ति की अवस्था में मन आत्मा के साथ एकरूप हो जाता है। लेकिन विषयाभिमुख वृत्ति इसे विश्व के विविध अनुभवों के स्तर पर नीचे खींच लाती है। चैतन्य की आनन्दमय तथा प्रशान्त स्थिति में, मन के संकल्प और विकल्प[5] के कारण ही संपूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। इस मूलभूत शान्ति को प्राप्त करना ही मोक्ष है और चपलता में निमग्न होना ही बन्धन[6] है। इसीलिये दार्शनिक और साधु लोग आध्यात्मिक साधना के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में संयम की महान आवश्यकता पर जोर देते नहीं अघाते। मन के जरिये ही हम अपने आत्म स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं।[7]

10. बुद्धि के विश्लेषणात्मक तथा निर्धारणात्मक कार्य -

अन्त:करण का बुद्धिरूप पहलू विश्लेषण तथा निर्धारण की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है। जैसा कि हम ऊपर देख आये हैं, बुद्धि प्रामाण्य और मूल्यांकन इन सब का अधिष्ठान है। बुद्धि की विश्लेषणात्मक तथा निर्धारणात्मक प्रक्रियाओं के जरिये से ही सर्वोदय ज्ञान भी संभव है। बुद्धि ही नित्यानित्य हित और प्रिय व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य, और अभ्यास तथा भौतिक समृद्धि या पुष्टि और आध्यात्मिक शान्ति या तुष्टि इन सब में विवेक करने में सहायता देती है।

बुद्धि के द्वारा घटित होने वाले सभी ज्ञानों में सहजतया ही विवेक और मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया समाविष्ट होती है। यदि यह सत्य है तो केवल वस्तु विषयक ज्ञान को ही ज्ञान का वास्तविक निर्देश्य मानने की तथा सभी मूल्यनिर्माणात्मक प्रक्रियाओं को केवल भावनात्मक समझने की आधुनिक विचारकों की प्रवृत्ति स्वैर और भ्रामक ही हो सकती है।

इसके अतिरिक्त चूँकि बुद्धि का आत्मा के साथ संबंध घटित होता है अत: विज्ञान, दर्शन, कला, धर्म और साहित्य इत्यादि के क्षेत्र में उसकी जो निर्माणशील अभिव्यक्तियां दिखलाई पड़ती हैं उनका स्पष्टीकरण आसानी से दिया जा सकता है। यदि मन भौतिक प्रक्रियाओं का ही आनुषंगिक परिणाम हो तो मानवीय ज्ञान तथा कृति में जो निर्माणशीलता हमें दिखलाई पड़ती है उसका कारण समझना संभव नहीं होगा। लेकिन जब हम प्रत्यक्ष में आध्यात्मिक तत्व के कार्य को देखते हैं तब हमें सृजनशीलता, स्वातन्त्रय, मूल्य इत्यादि का मानव जीवन में जो महत्वपूर्ण स्थान है उसका प्रत्यय प्राप्त होता है। वेदान्त ने मनुष्य स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण कर मानव मात्र के लिये अत्यन्त प्रिय इन आदर्शों की श्रेष्ठता को प्रस्थापित करने में सफलता पायी है।

संदर्भ -

1. *अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, ह्येव मनसा पश्यति, मनसा श्रृणोति'*
   (बृहदारण्यकोपनिषद् 1.5.3.)
2. *देखिये- 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्। छान्दोग्योपनिषत् 2.4.14.'*
   'येनेदं सर्व विजानाति तं केन विजानीयात्' और 'यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्म मनोमनम्' केनोपनिषत्।
3. *देखिये- 'अभमयं हि सोम्य मना' वैसे ही छोन्दोम्य वैसे ही 'पो. जिष्ठात्तन्मन:'*
   6.6.5.।
4. सुखमहं अस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्।
5. देखिये - संकल्पविकल्यात्मकं मन:।
6. देखिये - मन एव मनुष्याणां कारण बंध मोक्षयो:।
7. आत्मैव ह्यात्मनो बंधु: आत्मैमव रिपुरात्मन:। गीता 6-5।

8

योगदर्शन का मनोविज्ञान

पी. एस. शास्त्री

मनुष्य की क्षमता का विकास करने की पद्धति को 'योग' कहा जाता है। यह शरीर और मन के दोषों तथा रोगों को नष्ट कर आत्मा के वास्तविक ज्ञान को उद्भासित करने वाली बुद्धि का विकास करने का दावा करता है। योग का लक्ष्य उन दु:खों व कष्टों का निरसन करना है जो (अ) या तो मनुष्य की दुर्बलताओं तथा दुराचरणों से उत्पन्न होते हैं, या (ब) अन्य प्राणियों और उनके सम्पर्क से उद्भूत होते हैं, या बाह्य विश्व और उसके संबंध से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह लक्ष्य वैराग्य, संयम और समाधि इन साधनों के द्वारा क्रमश:पूर्ण किया जाता है। इसके फलस्वरूप जीव सभी सुख-दु:खों से मुक्ति पा जाता है। पुरुष को इस प्रकार के बंधन से छुटकारा पाना होता है।

प्रकृति की सभी व्यक्त तथा अव्यक्त अवस्थाओं में केवल एक ही शक्ति — जीवन शक्ति— कार्य करती रहती है। यह शक्ति पुरुष और प्रकृति इन को परस्पर संपर्क में लाकर उसके द्वारा सभी पदार्थों की सृष्टि करती है। इन्द्रियों की उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान जो संवेदन-क्षमता है वही जीवन है। जो पूर्व से ही उपस्थित है उसी की अभिव्यक्ति या विकास, यही जीवन है। अत: जीवन-शक्ति मनुष्य के सारभूत (सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर) एवं अदृश्य ऐसे तथ्यों के साथ सदा संबद्ध रहती है। जीवन में से जीवन उसी तरह प्रकट होता है जैसे प्रकाश में से दूसरा प्रकाश। मनुष्य-आत्मचेतन पुरूष तथा पांच प्रकार के द्रव्यों के संयोग से घटित एक शरीर का बना हुआ है। आत्मा केवल चेतनता का समुच्चय है। पुरुष या विश्वव्यापी आत्मा स्वयं अपरिवर्तनशील है। किन्तु बुद्धि के सांचे में ढाले जाने के कारण उसमें आत्मसंवेदना प्रकट होती है। (चितेरप्रतिसंक्रमाया: तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि संवेदनम् (यो. सू. 4-22)। आत्मा के साथ एकीभूत बुद्धि ही वह महत्वपूर्ण स्थान है जो आत्म संवेदन को उत्पन्न करता है। इस बुद्धि में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। इसमें आत्मा की प्रतिच्छाया पड़ने

से ही सक्रियता उत्पन्न होती है। जैसा कि योग दर्शन में कहा है - 'यथा अयस्कान्तमणि: स्वस्मिन्नेव अय: सन्निधीकरण मात्रात् दृश्य स्वरूपं उपकारं कुर्वत् पुरुषस्य स्वामिन: स्वं भवति भोग साधनत्वात् (भाष्य 1-4 पर)।' जैसे लौह चुंबक स्वयं स्थिर रहते हुए भी लोहे को अपनी ओर खींचता है वैसे ही बुद्धिगत वृत्तियां भी सिद्ध आत्मा के द्वारा आकृष्ट होती रहती हैं। यही उनके आत्मा के द्वारा उपभोग्यता का कारण है।

हरेक चेतन वृत्ति में एक स्थायी और एक अस्थायी अंश होता है। अस्थायी अंश अपने घटक तत्वों के परिवर्तन के अनुसार बदलता रहता है। स्थायी अंश चेतना का शुद्ध प्रकाश ही है जिस पर से बुद्धि में आत्मा के प्रतिबिंबित होने की कल्पना की जाती है। चेतना के विषयों के सभी परिवर्तनों के बावजूद यह आत्मा अपरिवर्तित ही रहा करता है। चूंकि हमारे विचार भौतिक विषयों का ही आंकलन करते हैं इसलिये उनका इन विषयों के साथ मूलभूत ऐक्य आवश्यक है। लेकिन पुरुष की प्रतिच्छाया इन विचारों में चैतन्य लाती है और ज्ञान का रूप देती है। इस प्रकार आत्मा और मन में आपातत: ऐक्य प्रस्थापित होता है।

जीव या वैयक्तिक आत्म तत्व वह धारक तत्व है जो स्थैर्य, वैयक्तिक सातत्य तथा एकता की अनुभूतियों का जनक है। सत्ता के आध्यात्मिक पक्ष के विपरीत उसका एक आधिभौतिक पक्ष भी हुआ करता है जिसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृति गुण कहे जाने वाले तीन तत्वों का संघात है। ये गुण सत्व, रज और तम हैं जिनके कार्य क्रमश: प्रकाशन, सच्चा ज्ञान तथा नियमन हैं। मानसिक जगत् में ये गुण स्पष्टीकरण, प्रेरणा तथा आवरण का क्रमश: कार्य करते हैं। ये प्लेटो के दर्शन के अंतर्गत बुद्धि *(Reason)*, इच्छा और भूख *(Appetite)* इन तीनों तत्वों के अनुरूप हैं। ये क्रमश: सुख, दु:ख तथा मोह की अवस्थाओं में प्रकट होते हैं। सतोगुण, आनन्द, सुख, ज्ञान, श्रद्धा, सहिष्णुता, क्षमा, धैर्य, शौर्य, एकाग्रता, नम्रता, शालीनता, समता, वैराग्य, सहानुभूति और सदाचरण आदि का कारण है। रजोगुण विवाद, पश्चाताप, उन्माद, क्रोध, आसक्ति, असूया, पैशुन्य, अहंकार, स्वार्थतत्परता, अत्याचार, हिंसा, वाणिज्य आदि की इच्छा, दुर्विचार, संदेह, निन्दा, दोषारोपण आदि का स्वभाव, असत्य, धोखेबाजी, अनिश्रायी वृत्ति, द्वेष, लापरवाही, अनियमित आचरण, कृतघ्नता, अनादर, चौर्य, प्रदर्शन, निर्लज्जता, उद्यत, कलह और इन्द्रिय-सुख, लोलुपता आदि का कारण है। तम चेतना के अभिभव तथा क्रिया का अवरोध करता है। वह आलस्य, लापरवाही, श्रम, अज्ञान, अनिश्चय, निद्रालुता, भय, दु:ख, लोभ, लपटता, अश्रद्धा, घमंड, औद्धत्य आदि दुर्गुणों का जनक है। यह अविवेक, विस्मृति, कार्पण्य आदि का भी कारण है।

प्रत्येक मनुष्य सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का संघात है। सूक्ष्म शरीर, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ और पांच तन्मात्राएं इन अट्ठारह तत्वों

का समाहार होता है। स्थूल शरीर पांच महाभूतों का बना रहता है। बुद्धि के कार्य विवेक, निर्धारण तथा निश्चय हैं। इनके अनंतर ही क्रिया होती है। अहंकार का कार्य अहंभाव या अत्याचार है। मन विषय का आकलन करता है। ये तीन— मन, अहंकार तथा बुद्धि— चित्त के तीन विभिन्न घटक हैं। चेतन प्राणी के शरीर की रचना की यह लगभग प्राथमिक अवस्था है। दूसरी अवस्था पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा पांच कर्मेन्द्रियों से घटित है। ये आत्मा की बाह्य विषयों की अवधारणाओं तथा उनके प्रति प्रतिक्रियाओं के साधन हैं। ये उपभोग के भी साधन हुआ करते हैं। तीसरी अवस्था चेतन प्राणी की रचना में शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध और शब्द इन पांच तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति की हुआ करती है। अंतिम अवस्था इन्द्रिय संवेदनाओं के विषय पांच महाभूत, जो बाह्य विश्व में दृष्टिगोचर होते हैं, उनसे बनी होती है।

विचार से उसका संवेद्य अंश जब अलग पड़ जाता है तब विचार अपने सामान्य तथा शुद्ध रूप में ही बना रहता है। इसी के कारण हमारी चेतन क्रियायें अर्थपूर्ण हो पाती हैं। इसी को 'सत्व' या विचार का शुद्ध रूप कहा करते हैं। यह विषय-रहित तथा आत्म रूप हुआ करता है। जैसा कि योग भाष्य (2.19) में कहा है - 'लिङ्ग मात्रं महत्तत्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महति आत्मनि'। यह केवल अस्मिता रूप होता है। यह शुद्ध आत्मा ही सत् या महत् है। यही अध्यवसाय का अधिष्ठाता मन भी कहा जाता है। इस का यह मतलब है कि बुद्धि ही कभी महत्, कभी अस्मितमात्र, कभी मन, कभी सत्व को कभी लिङ्ग इत्यादि विभिन्न दृष्टिकोणों से देखी जा सकती है। सर्वव्यापी तथा सब वस्तुओं की उत्पत्ति के कारण के रूप में बुद्धि जब आत्मा के साथ एकता का अनुभव करती है तब वह 'अस्मिता' कही जाती है। ('दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्मतैव अस्मिता') वैयक्तिक तादात्म्य का अधिष्ठान जो अहंकार है वह बुद्धि की सक्रियता की प्राथमिक अभिव्यक्ति है। क्रिया का तत्व 'रज' जब आत्मा पर हावी होता है तब पांच कर्मेन्द्रियों- वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ इनका उदय होता है। सत्व के प्रभावी होने पर पांच ज्ञानेन्द्रियों - दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, घ्राण, रसन इनका उदय होता है। और रजस के प्रभाव से विविध वस्तुओं का बाह्य जगत् उत्पन्न होता है।

अहंकार अपने अंतर्गत वैविध्य तथा परिगमन के स्वरूप पांच ज्ञानेन्द्रियों के रूप में प्रगट होता है। मतलब यह है कि ज्ञानेन्द्रियां और उनके विभिन्न कार्य अहंकार में अधिष्ठित होते हैं। इनके विपरीणमन के फलस्वरूप विभिन्न संवेदनायें उत्पन्न होती हैं। अंततोगत्वा प्रत्येक संवेदना बाह्य विषयों के आघात के कारण होने वाला अहंकारिक परिवर्तन ही है।

लेकिन अहंकार ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों से प्रत्यक्षतया संबद्ध नहीं है। यह संबंध अहंकार से उद्भूत मन के द्वारा प्रस्थापित होता है। मन अहंकार का वह परिणाम

है जो संवेदनाओं को आपस में संयुक्त कर उनका इस तरह सामान्यीकरण करता है कि उनसे सामान्य कल्पनाओं का उदय हो। योग भाष्य इस संबंध में कहता है - 'निरोध धर्म संस्कारा परिणामोयं जीवनम्' । चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्यं धर्मादर्शनवर्जिता: ।

मन के धर्म निरोध, निर्धारण, कारणीभाव *(Potentialisation)*,सतत परिणाम, जीवन, क्रिया और चैतन्य ये हैं। इन धर्मों में आधुनिक मनोविज्ञान सम्मत सभी मनोधर्मों का समावेश हो सकता है।

मन की एक अवस्था यथार्थ ज्ञान रूप वृत्तियों के रूप में प्रकट होती है। इन वृत्तियों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द-प्रमाण, अयथार्थ ज्ञान, कल्पना, स्मृति और निद्रा ये भी अन्तर्भूत हैं। दूसरी अवस्था वह है जिसमें ये वृत्तियों निरूद्ध होती हैं।

इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण अवस्था प्रत्यक्ष की हैं। विषय के सम्पर्क में आने पर जब इन्द्रियों में परिवर्तन घटित होते हैं तब चित्त, जो उनके द्वारा कार्य करता है, स्वयं परिवर्तित होता है। प्रकाश के समान चित्त विषयों को व्याप्त कर उनका आकार ग्रहण करता है। चूंकि इन्द्रियों के रास्ते ही चित्त विषय तक पहुँचता है इसीलिये वह इन्द्रियों के परिवर्तनों तथा मर्यादाओं से स्वयं प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जैसा कि विज्ञान भिक्षु कहते हैं (4-17) -

'अयस्कान्त मणिवत्क्रिया एव विषया अयोवत् क्रियाशीलं चित्तं स्वमहिम्ना आकृष्य स्वस्मिन् संयोज्य तदुपरं जयंति स्वाकाराकारयंति इति लाक्षारस इव वस्त्रम् अतो येन विषयेणा उपरक्तं यच्चितं स विषयस्तस्य ज्ञात: इत्यर्थ: ।'

ज्ञान के विषय स्वयं निष्क्रिय हुआ करते हैं। लेकिन लौहचुम्बक के समान वे सतत परिवर्तनमान् चित्त को अपने आकार के अनुसार अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। यह बात वैसी ही है जैसे एक कपड़े के टुकड़े का मेंहदी के संबंध से लाल हो जाना। अत: जिस वस्तु के संपर्क में मन आता है उसी के आकार का वह हो जाता है। यह वस्त्वाकार प्रत्यक्षवाद का ही एक नमूना है। चेतन अनुभवों का संघटित रूप ही चित्त है। उसका व्यवच्छेदक स्वरूप चैतन्य है। चित्त अपने चारों ओर की स्थिति को जानने और प्रभावित करने में समर्थ होता है। उसकी प्रक्रियायें ज्ञात हो सकती हैं और अज्ञात भी। ज्ञात प्रक्रियाओं में संवेदनाओं की सभी प्रक्रियाओं तथा ज्ञात भावनाओं का समावेश होता है। अज्ञात प्रक्रियायें मन के निम्न स्तर पर होती हैं और वे अवचेतन होती हैं।

उसके कार्यों के अनुसार चित्त का विचार बुद्धि, अहंकार और मन तीनों विभागों में किया जाता है। बुद्धि साक्षात्कार का साधन है। उससे ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। सामान्यीकरण, निर्धारण तथा निश्चय भी उसी के परिणाम हैं। यही सद्गुण, वैराग्य, प्रज्ञा आदि का आधार है। उसकी अभिव्यक्ति अध्यवसाय, विचार तथा प्रयत्न के लिये विनिश्चय, सामान्य कल्पनाओं के सृजन तथा धारणा इनके द्वारा होती है।

अहंकार, मन और इन्द्रियां इनके द्वारा घटित होने वाली सभी का ज्ञान, भावना, प्रयत्न इनसे सम्बन्धित क्रियाओं के सन्दर्भ में चित्त का ही कार्य अंतिम हुआ करता है । ज्ञान, भावना, इच्छा, निर्धारण आदि का यही मुख्य आधार होता है। मन ज्ञान-विषय वस्तुओं का आकलन करता है; बुद्धि वस्तु का विश्लेषण करती है तथा उसका निर्धारण तथा प्रत्यभिज्ञान भी करती है। मनन में मन ज्ञान विषयों का उद्बोध करता है तो बुद्धि उनका चिन्तन करती है।

अहंकार सहज प्रवृत्तियों तथा आवेगों का, जिनमें सुख-दु:खादि अनुभूतियों का प्राधान्य होता है - महान भंडार है। यह सभी अनुभवों का आगार है। यही वैयक्तिक चेतना या आत्मता की प्रथम अभिव्यक्ति है। ज्ञान के कारण अवधान की एकाग्रता तथा बुद्धिपूर्वक अनुभूति संपन्न होते हैं। यह आत्मानुभव तथा कल्पना *(Ideation)* का अधिष्ठान है। सभी आन्तरिक अनुभवों का यह चेतन ज्ञाता है। यही व्यक्तीकृत आत्मा भी है।

मन उन ज्ञान की प्रक्रियाओं का संस्थान है जो वस्तुओं के परस्पर संबंधों के आकलन की तथा मानसिक प्रक्रियाओं को संपन्न करने की क्षमता रखता है। यह बुद्धिपूर्वक तथा जिम्मेदारी से किये गये क्रियाकलापों का अधिष्ठान है। इसके कारण विचार की प्रक्रिया *(Rationalisation)* संपन्न होती है। मन वह भौतिक शक्ति है जो चेतना को अभिभूत या आवृत करती है। यही प्रक्रियाओं की दिग्दर्शक भी है। यह इच्छाओं का आधार होकर ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साहचर्य से कार्य करता है। इसमें अवधान, चयन तथा निरसन *(Rejection)* की सामर्थ्य होती है। यही विशकलित प्रमेयों का संश्लेषण करता है। यह प्रत्यक्ष कर सकता है किन्तु बुद्धि के समान विचार नहीं कर सकता। इसमें ग्रहण का सामर्थ्य होते हुए भी ज्ञान के आत्मसात्करण की क्षमता नहीं होती। ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के बीच इसका स्थान संकलनकारी इन्द्रिय का है। यह प्रत्यक्ष तथा प्रत्यभिज्ञान का आन्तरिक इन्द्रिय है। यह विचार, तर्क, कल्पना, विकल्प, स्वप्न, ज्ञान, भावना, इच्छा, आवेग आदि का अधिष्ठान है। सोचने की क्षमता इसका आन्तरिक धर्म है।

विचार वैचारिक प्रक्रिया के समान एक क्रिया है। यह स्थिर न होकर सक्रिय है। यह गति या परिवर्तन एक प्रकार की शक्ति है जिसे रजस् कहते हैं और यही मन का विशिष्ट रूप है। मन अपनी अवस्थाओं या वृत्तियों के रूप में अवस्थित होता है। यदि इन्द्रियां प्रक्रियाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं तो मन वह है जो चेतन अवस्थाओं का संधारण करता है। किसी न किसी अवस्था में अवस्थित मन को कार्य-चित्त कहते हैं। कारण-चित्त असंख्य हुआ करते हैं। कारण-चित्त आत्मा से संबद्ध तथा विश्वव्यापी हुआ करता है। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन में जो चित्त प्रगट होता है वह कार्यचित्त या वृत्तिरूप होता है।

योग-दर्शन का लक्ष्य चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का नियंत्रण कर उसे कारण-चित्त में अंत में विलीन कर डालना ही है। चित्त के परिवर्तनों का एकाग्रता के द्वारा निरोध करते रहने से यह लक्ष्य साध्य हो सकता है।

मन के पांच प्रकार होते हैं। पहला हैं क्षिप्त चित्त जो रज से प्रचालित होता है। यह भावनाओं से प्रभावित हुआ करता है। दूसरा है मूढ़ चित्त, याने विस्मरणशील चित्त। यह चित्त क्रोध जैसी भावनाओं से, जो तम की अभिव्यक्तियां हैं, नियंत्रित रहता है। यह प्राय: गलत बातों की ओर अभिमुख होता है। विक्षिप्त चित्त यह तीसरा प्रकार है। यह कभी कभी स्थिर रहते हुए भी प्राय: चंचल ही रहा करता है। चौथा है एकाग्रचित्त जो किसी एक ही योग्य या उपयुक्त विषय पर केन्द्रित रहा करता है। अंतिम है निरोध चित्त अर्थात् नियंत्रित चित्त। ज्ञान में सभी मानसिक क्रियाओं का प्रतिरोध हो गया होता है। जब सामान्य मनोवृत्तियों का निरोध हो जाता है तब संप्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इसमें सत्व विपुलता से विद्यमान होता है।

मन की प्रकियायें छ: प्रकार की होती हैं (2. 18) : वे ग्रहण, धारण, ईहा, अपोह, तत्व-ज्ञान तथा अभिनिवेश ये हैं।

योग दर्शन में मन और चित्त की चर्चा की जाती है। कहीं कहीं इनको एक ही माना गया है; कहीं तो मन को इन्द्रिय कहा गया है। मन को अन्यत्र ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में प्रधान कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन दोनों को बाह्य विश्व के अभिमुख करता है। यहां रज प्रधान होता है। मन में अनुव्यवसाय भी घटित होता है। इसमें मनन हुआ करता है जिसके जरिये संवेदनायें संश्लेषित, विश्लेषित तथा एकीकृत होकर प्रत्यक्ष तथा सामान्य कल्पनाओं में समाविष्ट की जाती हैं। इसमें सत्व का प्राधान्य होता है। इसके सिवाय मन इन अनुभवों तथा कल्पनाओं को संस्कारों के रूप में धारण भी करता है। यहां तम का प्राधान्य होता है। किन्तु जब आत्मा के जैसा सत्व शुद्ध हो जाता है तब कैवल्य की प्राप्ति होती है। सत्वपुरुषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् (1.25)। सत्व की शुद्धता पुरुष की शुद्धता के समान है।

चित्त में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं। एक दिशा में वह कल्पनाओं के रूप में तथा दूसरी दिशा में वह संस्कारों के रूप में प्रगट होता है। जब कोई मनोवृत्ति विलीन हो जाती है तब वह सुप्त रूप में या संस्कार के रूप में बची रहती है। वृत्तियां संस्कारों को उत्पन्न करतीं तथा अपने आप को अभिव्यक्त करती हैं। यह प्रक्रिया वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियां इस क्रम से जारी रहती हैं। सुख तथा दु:ख संस्कारों को उत्पन्न करते हैं और ये अन्य सहचारियों के साथ स्मृति का रूप धारण करते हैं। स्मृति वस्तुओं तथा क्रियाओं के प्रति अनुराग तथा द्वेष निर्माण करती है।

ये वृत्तियां क्लिष्ट याने कलेशयुक्त, अक्लिष्ट याने क्लेशरहित, अभ्यास याने आदत, तथा वैराग्य से हुआ करती हैं। अंतिम तीन वृत्तियां क्लिष्ट की विरोधी होती हैं। क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों की अभिव्यक्तियां प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच हैं।

यहां संस्कार स्वरूप वासनायें भी विचारार्ह हैं। ये चित्त में दृढ़मूल होती हैं। संस्कार यदि सुप्तावस्था का तथा स्मृति जाग्रत् अवस्था के निदर्शक हैं तो वासना स्वाभाविक स्मृति की निदर्शक है। ये स्मृतियां पूर्व जन्मों तक का आकलन कर सकती हैं। यदि यह सत्य है तो योगदर्शन के अनुसार मन को बिलकुल कोरा कतई नहीं समझा जा सकता।

ऐसी बहुत सी बातें हैं जो मन की एकाग्रता को भंग करती हैं। ये नौ हैं - (1) रोग, (2) आलस्य, (3) अनिश्चय, (4) समाधि के लिये अपेक्षित मानसिक तैयारियां, (5) जाड्य, (6) इन्द्रिय विषयों के प्रति आसक्ति, (7) अयथार्थ या भ्रामक ज्ञान, (8) एकाग्र ध्यान की असमर्थता, तथा (9) समाधि में मन की अस्थिरता। इनके साथ दु:ख और निराशा संलग्न होते हैं। इस सब पर से शरीर और मन की अन्योन्य क्रिया जैसा सिद्धान्त निष्कृष्ट होता है।

एकाग्रता के अंतराय तथा मन की अशुद्धियां आठ योगांगों की मदद से नष्ट होते जाते हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (विषयों से इन्द्रियों का अपसारण), धारणा, ध्यान और समाधि। योगाभ्यास से संवेदन-क्षमता और मनकी शक्तियों का विकास होता है। इसीलिये योगी लोग विश्व के रहस्यों का गम्भीरतर ज्ञान और विश्व की घटनाओं का व्यापक नियंत्रण इन दोनों की क्षमता रखते हैं।



9

तंत्र मनोविज्ञान के मूलतत्त्व

पी.एस. शास्त्री

सभी तत्व तथा शरीर (भूतानि) ये जीव पर आधारित हैं और जीव का अस्तित्व ज्ञान तथा क्रिया इनसे घटित हुआ करता है। ज्ञान स्वत: सिद्ध है और क्रिया कार्याश्रित होती है। जीव की ज्ञान-शक्ति स्थल, काल और वस्तु इनसे नियंत्रित हुआ करती है। किन्तु प्रत्येक ज्ञेय वस्तु प्रमाता - जो वास्तव में महेश्वर ही है - अविभाज्य होती है। महेश्वर आनन्द तथा चैतन्य रूप है और परिवर्तनातीत है। परिवर्तन या क्रम यह समकालता में परिवर्तित हो जाता है : 'अक्रमानन्द चिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर:'। जैसा कि सोमानन्द नाथ कहते हैं - ''आत्मा अपने को शिव के, तथा शिव-शक्ति के रूप में जानता है।''

आत्मा का यह ज्ञान 'प्रकाश' के नाम से अभिहित होता है और ज्ञान-क्रिया-शक्ति को 'विमर्श' की संज्ञा दी जाती है। प्रकाशमय चिद्रूप के कारण ही विश्व की अभिव्यक्ति संभव होती है। ज्ञाता 'चैत्यरूप प्रकाश' है। अतएव शिव सूत्र में कहा है - ''चैत्यं आत्मा''। चैतन्य (चिद्रूपत्वं), साक्षात्कारिता (अन्योन्यमुखत्वं), और आनन्दमयत्व ये सब महेश्वरत्व के समानार्थक शब्द हैं।

'चित्क्रियाया: प्रत्यवमर्श: शिवात्मचमत्कार लक्षण: आत्मा।' आत्मा चेतन, स्वतंत्र तथा स्वयं प्रकाश है। अज्ञान से आत्मा जब बद्ध होता है तब विश्व उद्‌भूत होता है।

आत्मा की तीन अवस्थायें - जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति - हुआ करती हैं। जागृति में ज्ञान, स्वप्न में विकल्प और सुषुप्ति में अविवेक हुआ करता है। यौगिक अनुभव में आत्मा जब अपने को पहिचानता है तब विस्मय होता है।

आत्मा के प्रत्यक्ष ज्ञान का जो विषय होता है वह शरीर है। आत्मज्ञान 'वितर्क' इस नाम से पहिचाना जाता है। लेकिन वह तत्व जो विषम वासना से भरा रहता है, जो अध्यवसाय जैसी क्रियाओं से युक्त होता है तथा जो बुद्धि, अहंकार और मन के रूप में अभिव्यक्त होता रहता है, वह चित्त है। यह अणु होता है और आत्मा की तरह ही कार्य

करता है। चूंकि आत्मा अपने में ही सभी वस्तुओं को प्रगट करता है अत: वह नर्त्तक भी कहा जाता है और इसके नृत्य का रंगमंच है अन्तरात्मा। नृत्य के द्रष्टा इन्द्रियां हैं।

प्रकाश, आनन्द और स्वातंत्र्य ये कूटस्थ सत्ता के लक्षण हैं। जीव प्रत्यभिज्ञा या साक्षात्कार की खोज में तत्पर रहता है। यह साक्षात्कार कूटस्थ का 'आभिमुख्येन ज्ञान' है। जीव में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों होती हैं। ज्ञान यह प्रकाशरूपता है जबकि क्रिया यह विश्व-रचना (जगन्निर्मातृत्व) का सामर्थ्य है। 'चित्' जो स्वच्छ और स्वतंत्र रूप होता है, विश्व के रूप में अभिव्यक्त होता है (स्फुरति)। यह 'चित्' ज्ञान, क्रिया या माया शक्तिरूप है। जब यह नियंत्रित होता है ('संकोचप्रकर्षात्'), तब वह सत्व, रज, और तम युक्त मन (चित्त) के रूप में प्रगट होता है। मायाप्रमाता का स्वरूप ही चित्त है। अत: शिव सूत्र में कहा है 'चित्त आत्मा'। चित्त या कूटस्थ के तीन नियंत्रक (मल) होते हैं। ये आणव, मायीय तथा कार्मण हैं जो उसे ढँकते हैं। यह चतुरात्म अर्थात् शून्य, प्राण, पुर्यष्टक और शारीर इस प्रकार चतुर्धा विभक्त होता है। इसका स्वभाव पैंतीस तत्वों से निर्धारित होता है। उसका स्वरूप पांच कंचुकों - कला, विद्या, राग, काल और नियति - से घटित होता है। इतर दर्शनों में प्रतिपादित आत्मविषयक सिद्धान्त वास्तव में आत्मा के आवरण (भूमिकायें) ही हैं। चार्वाकों का शारीरिक आत्मवाद, नैयायिकों का ज्ञानाश्रय आत्मवाद, मीमांसकों का बुद्धयात्मवाद, बौद्धों का ज्ञानसंतानवाद, पांचरात्रों की प्राण, अस्त्, वासुदेव आदि कल्पनायें, सांख्यों का विज्ञानी मय पुरुष, वैयाकरणों का शब्द-ब्रह्म ये सब आत्मा के केवल आवरण ही हैं।

इच्छा शक्ति का संकोच यह आणव मल है, ज्ञान शक्ति का संकोच मायीय मल है और क्रिया शक्ति का संकोच कार्मण मल है।

इस तरह सर्व-कर्तृत्व का स्थान कला रूप ग्रहण करता है। सर्वज्ञत्व में से विद्या का प्रादुर्भाव होता है। पूर्णत्व में से राग उद्भूत होता है। नित्यत्व में से काल और व्यापकत्व में से नियति उद्भूत होती है। किन्तु चूंकि आत्मा ही वस्तुओं के बाह्य विषयों के रूप में अभिव्यक्त होने का कारण है अत: वही स्रष्टा है। इतर स्थल कालों की वस्तुओं को अभिव्यक्त न होने देकर आत्मा उनसे महत्तर बनता है। वस्तुओं की अभिव्यक्ति का कारण होकर वह स्थापक बनता है। उनकी भिन्नताओं को अभिव्यक्त कर वह विलयकारी बनता है। वस्तुओं को प्रकाशित कर वह अनुग्रहीता कहलाता है। वे सब शुद्ध चित् के परिस्फुरण या स्पंदन हैं।

माया दशा में चित् शक्ति अपना स्वरूप अवगुंठित कर प्राण शक्ति का स्वरूप धारण कर लेती है। तब वह बुद्धि, देह आदि पर निर्भर हो जाती है और नाड़ी सहस्र के मार्ग का अनुसरण करती है। इस अवस्था में वह मध्यम नाड़ी रूप में अवस्थित होती है क्योंकि सभी वृत्तियों इसी अवस्था में से उद्भूत होती तथा उसी में विलीन होती हैं। इस मध्यनाड़ी या ब्रह्म नाड़ी का विकास ही चिदानंद कहा जाता है। यह अवस्था जीवन्मुक्ति

है। इस स्थिति में चित्त हृदय में उतर आता है और सभी विकल्प प्रज्ञापित हो जाते हैं। इस अविकल्प परामर्श के कारण ही प्रमाता शरीरादि के द्वारा दूषित नहीं होता। यह चिदानन्द लाभ ही परमयोगी की समाधि भी है।

छत्तीस तत्व -

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल और भूमि।

शिव यह इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक तथा केवल पूर्णानन्द स्वभाव रूप है। जब शिव विश्व की सृष्टि करने की इच्छा करता है तब उसका प्रथम स्पन्द ही इच्छा शक्ति है।

सृष्टि किया जाने वाला विश्व शिव की अहंता से जब आच्छादित होता है तब उसे 'सदाशिव' यह रूप प्राप्त होता है। सृष्ट विश्व, जो अहंता से आच्छादित होता है, वही ईश्वर है । अहंता और इदंता की एकता का आकलन ही शुद्ध विद्या है। माया की परिभाषा -'स्व स्वरूपेण भावेषु भेद प्रथा' यह है। ईश्वर को जब माया आच्छादित करके आवृत करती है तब उसे मर्यादित विषयी का रूप प्राप्त होता है। इसे पुरुष कहते हैं। यही संसारी है जो कर्म से बद्ध तथा मायामोहित हुआ करता है।

सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णतत्व, नित्यत्व, व्यापकतत्व आदि जो पूर्ण शिव के धर्म हैं वे नियंत्रित होने पर कला, विद्या, राग, काल और नियति इनको जन्म देते हैं। कला की परिभाषा 'किञ्चित्कर्तृता हेतु' यह है। विद्या यह 'किञ्चिज्ज्ञत्व कारण' कही गयी है। राग 'विषयाभिष्वंम' रूप है। काल का लक्षण 'भावानां भासना भासनात्मकानां क्रम: अवच्छेदक: भूतादि:' ऐसा बतलाया गया है। नियति यह 'नियमन हेतु' है। ये पांच परमशिव के 'कंचुक' कहे जाते हैं।

प्रकृति त्रिगुणों की साम्यावस्था है। बुद्धि यह निश्चयकारिणी और विकल्प प्रतिबिम्ब धारिणी ऐसी कही गयी है।

अहंकार अभिमान का साधन है। मन यह संकल्प साधन है। इन तीनों से अन्त:करण बनता है। यह भूतेन्द्रियादि कार्य-वर्ग का कारण भी है। काल, स्पर्श, रूप, रस, और गंध ये विषय हैं। इनको ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियां हैं जो पांच हैं। वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये कर्मेन्द्रियां हैं।

शब्दादि पांच तन्मात्राओं में से पांच सत्व उद्भूत होते हैं।

इस संबंध में यह वाक्य प्रसिद्ध है -

'यथान्यग्रोधबीजस्थ: शक्ति रूपो महाद्रुम: ।
तथा हृदय बीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥'

हृदय बीज में - जो कि परा भट्टरिका स्वरूप है - संपूर्ण विश्व अंतर्भूत है।

10

संज्ञानात्मक भारतीय मनोविज्ञान में प्रत्यक्ष-मीमांसा

रामचन्द्र पाण्डेय

भारतीय दर्शन में मनस्तत्व का विचार जितनी गंभीरता से हुआ है उतना कदाचित् किसी अन्य दर्शन-प्रस्थान में नहीं हुआ है। परन्तु यह विचार आज के मनोविज्ञान की दृष्टि से कितना उपादेय है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। भारत में वैज्ञानिक पद्धति से मन के सूक्ष्म रूपों तथा इसकी क्रियाओं का विश्लेषण प्रयोगशाला की सीमा में न होकर अन्तर्दर्शन के माध्यम से हुआ है। यही कारण है कि आज के मनोविज्ञान से जिन मानस-रहस्यों का उद्घाटन हो सका है वे रहस्य प्राचीनकाल में अज्ञात रहे। परन्तु अन्तर्दर्शन पद्धति की भी अपनी विशेषताएं हैं और भारत के आचार्यों ने जो बातें अन्तर्दर्शन के अध्ययन से ढूँढ निकाली थीं वे आज प्रयोगशाला की सीमा में उपलब्ध नहीं हो सकतीं तथा उनकी प्रामाणिकता की परीक्षा असंभव सी हो गई है। यही कारण है कि प्रायोगिक पूर्वाग्रह से ग्रस्त लोग भारतीय मनोविज्ञान को शुद्ध मनोविज्ञान न मानकर दर्शन और रहस्यवाद की संज्ञाओं से अभिहित करते हैं।

प्रत्यक्ष के संबन्ध में भारत में काफी विचार हुआ है। प्रत्यक्ष ज्ञान का द्वार है अत: मन का अध्ययन बिना प्रत्यक्ष के अध्ययन के संभव ही नहीं है। हमारे यहां प्रत्यक्ष का अध्ययन दो दृष्टियों से किया गया है। प्रामणिकता की दृष्टि से इसका अध्ययन प्रमाणशास्त्र के अन्तर्गत आता है। इन्द्रियों तथा उनके विषयों के संबन्ध से उत्पन्न ज्ञान का अध्ययन इसी कोटि में आता है। इसके विपरीत इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष का अध्ययन भारतीय दर्शन की अपनी मौलिकता है, जिसका वर्णन योगशास्त्र का विषय है।

प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है क्योंकि अनुमान आदि की तरह इसमें इन्द्रियों के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। योगज प्रत्यक्ष में तो इन्द्रियां भी सहायक नहीं हैं। जिस प्रत्यक्ष में इन्द्रियां सहायक होती हैं उसे हम लौकिक प्रत्यक्ष कह

सकते हैं। इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष अलौकिक प्रत्यक्ष कहलाता है। लौकिक प्रत्यक्ष इन्द्रियों पर आधारित होता है अत: इन्द्रिय-संबन्धी दोषों के कारण इसमें भी दोष उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव दूषित लौकिक प्रत्यक्ष को अनश्चियात्मक, भ्रमात्मक और असामान्य इन तीन भागों में बांटा जा सकता है। स्वप्न में इन्द्रिय-व्यापार नहीं होता फिर भी जाग्रत अवस्था में किए गए इन्द्रिय-व्यापार के कारण स्वप्न होते हैं और स्वप्नावस्था में स्वप्न-द्रष्टा को आभास होता है कि उसकी इन्द्रियां सक्रिय हैं। अत: स्वप्न भी प्रत्यक्ष के अध्ययन की परिधि में आता है।

इन प्रत्यक्ष के भेदों का क्रमश: विवेचन करने के पूर्व, भारतीय दर्शन के विभिन्न प्रस्थानों के अनुसार प्रत्यक्ष क्या है तथा इसके लिए किन कार्य-कारणों की आवश्यकता होती है, इसका अध्ययन आवश्यक है। अत: हम सर्वप्रथम भारतीय दर्शन में प्राप्त प्रत्यक्ष के प्रमुख सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

प्रत्यक्ष के सिद्धान्त

(1) न्याय-दर्शन

न्यायसूत्र के अनुसार प्रत्यक्ष इन्द्रियों और उसके सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान है। प्रत्यक्ष यदि सत्यज्ञान का माध्यम या प्रमाण माना जाए तो इसे सर्वदा भ्रम-रहित या अव्यभिचारी होना चाहिए। साथ ही शुद्ध प्रत्यक्ष विषय-सन्निकर्ष मात्र से उत्पन्न होता है, अत: उसमें पूर्व संस्कार से उत्पन्न कल्पना का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए। अत: प्रत्यक्ष की एक अन्य विशेषता है - कल्पना से रहित होना। जब भी कल्पना का सम्मिश्रण होगा प्रत्यक्ष शब्द के माध्यम से व्यक्त किया जा सकेगा। कल्पना के सम्मिश्रण के पूर्व यह प्रत्यक्ष शब्दातिक्रान्त अथवा अव्यपदेश्य कहा जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि सविकल्पक को प्रत्यक्ष ही नहीं मानते। वास्तव में निर्विकल्पक और सविकल्पक ये दो भेद न्याय दर्शन में माने गए हैं, इनका विवेचन हम आगे करेंगे।

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति एक प्रक्रिया पर आधारित है। वस्तु का इन्द्रिय से संबन्ध अथवा सन्निकर्ष होता है। वस्तु से संबंधित इन्द्रिय मन से संयुक्त होती है और वह मन आत्मा से संबन्धित होकर आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष, इन्द्रिय-मन-संबन्ध, मन-आत्मा-संबन्ध इन तीन बातों पर आधारित माना गया है। इनमें से मन-आत्मा का संबन्ध, मन-इन्द्रिय संबन्ध, अनुमान आदि सभी ज्ञानों में समान मिलता है। परन्तु विषय-इन्द्रिय-सन्निकर्ष प्रत्यक्ष की अपनी विशेषता है जो अन्य प्रकार के ज्ञानों में उपलब्ध नहीं होती।

प्रगाढ़ निद्रा में सोया व्यक्ति तेज आवाज से जाग जाता है क्योंकि आवाज की तीव्रता उसके श्रवणेन्द्रिय को अपनी ओर आकृष्ट करती है। फलस्वरूप उसका मन चंचल हो जाता है और उसे आत्मा के साथ संयुक्त होने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष का प्रमुख हाथ है। परन्तु प्रत्यक्ष में मन का महत्व भी कम नहीं है। किसी विषय में ध्यान लगा होने पर कभी-कभी हम सामने से जाती वस्तु को देख नहीं पाते अथवा किसी बात को सुन नहीं पाते। यह इसलिए होता है कि यद्यपि विषय और इन्द्रिय का संबन्ध है फिर भी मन के अन्यत्र व्यापृत होने के कारण हमें उस विषय के संस्कार को आत्मा तक पहुँचाने का माध्यम नहीं मिल पाता। यह माध्यम मन है। इन्द्रियों द्वारा विषय की प्रतिच्छाया गृहीत होती है, इसी प्रतिच्छाया को मन इन्द्रियों से लेकर आत्मा को पहुँचाता है जिसमें ज्ञान होता है। अत: इन्द्रिय-सन्निकर्ष और ज्ञान के बीच मन मध्यस्थ का काम करता है।

इन्दियां विषय की ओर दो कारणों से आकृष्ट होती हैं।[1] विषय की तीव्रता और पटुता इन्द्रियों को विषय की ओर उन्मुख करती है। तेज आवाज़ का प्रत्यक्ष कमज़ोर आवाज़ के प्रत्यक्ष से शीघ्र होता है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष में विषय ही प्रमुख कारण है।[2] इन्द्रियों का विषय की ओर उन्मुख होने का दूसरा कारण है - आत्मा की इच्छा और द्वेष। यदि आत्मा में सुगन्धि पाने की इच्छा होती है तो उस आत्मा की इच्छा का संदेश मन के द्वारा इन्द्रिय में पहुँचाता है और इन्द्रिय विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर आत्मा को सुगन्धि का अनुभव करा देती है। इन दोनों कारणों से उत्पन्न प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष अत्यन्त प्रमुख कारण है। उनमें भेद केवल इस बात का है कि पहले प्रकार में प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का आरंभ विषय से होता है और दूसरे प्रकार में आत्मा से। मन, आत्मा, इन्द्रियां और विषय इनके परस्पर संबंध से प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इनमें से प्रत्येक अपने आप प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं करा सकता; प्रत्यक्ष इनके समूह में से उत्पन्न ज्ञान है।

सुख, दु:ख आदि का ज्ञान भी प्रत्यक्ष से होता है - अनुमान अथवा शब्द से इनका ज्ञान असंभव है। परन्तु इस ज्ञान में विषयेन्द्रिय संयोग सहायक नहीं है क्योंकि सुख या दु:ख चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा या त्वक् से ज्ञेय नहीं है। इनके ज्ञान में केवल मन कारण है। परन्तु मन चक्षु आदि की तरह एक इन्द्रिय नहीं है। अत: न्याय-दर्शन में सुख, दु:ख आदि का प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है, इसके उत्तर में कहा गया है कि मन भी एक इन्द्रिय है परन्तु यह चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों से विलक्षण है। चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय निश्चित हैं - जैसे चक्षु का विषय उद्भूत रूप, श्रोत्र का विषय शब्द, घ्राण का विषय गंध, जिह्वा का विषय रस और त्वक् का विषय स्पर्श। मन का कोई निश्चित विषय नहीं है; यह सभी प्रकार के विषयों का ग्रहण करने में सहायक होता है। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय एक विशेष द्रव्य है, यथा - चक्षु तेज है, घ्राण पृथ्वी है, श्रोत्र आकाश है, जिह्वा जल है, तथा त्वक् वायु है। मन इन द्रव्यों से विलक्षण स्वतंत्र द्रव्य है, परन्तु इन बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह इन इन्द्रियों से पृथक् एक इन्द्रिय है

और इसके दो कार्य हैं - (1) इन्द्रियों को ज्ञान में सहायता देना और (2) स्वतंत्र रूप से सुख-दु:ख आदि का ज्ञान करना। इसी दूसरे अर्थ में इसे एक इन्द्रिय मानते हैं और इससे जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष के अंतर्गत स्वीकार करते हैं। जैसे चाक्षुष, घ्राणज, श्रोत्रज, रासन तथा त्वाक् प्रत्यक्ष होते हैं वैसे ही मानस प्रत्यक्ष भी होता है।

न्याय के प्रत्यक्ष सिद्धान्त के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष कहा जा सकता है तो फिर योगियों के ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष-ज्ञान माना जा सकता है ? यह कहा जाता है कि योगी अतीत, अनागत और परोक्ष में वर्तमान विषयों का भी उसी तरह प्रत्यक्ष करता है जैसे वह साक्षात् उपस्थित विषयों का करता है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष है तो योगी का ज्ञान प्रत्यक्ष में गृहीत नहीं होगा। इसी कारण से परवर्ती नैयायिकों ने प्रत्यक्ष को दूसरे ढंग से बतलाया है। विश्वनाथ का कहना है कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिसमें दूसरे ज्ञान की सहायता की अपेक्षा नहीं है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान है। अनुमान में लिंग-ज्ञान तथा शब्द-ज्ञान में शक्ति-ग्रह कारण होते हैं, अत: वे दूसरे ज्ञानों पर आधारित हैं, परन्तु प्रत्यक्ष के लिए इस प्रकार के किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। यह स्वतंत्र ज्ञान का जनक प्रमाण है। योगी का जो ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्ष है, क्योंकि योगी बिना किसी अन्य ज्ञान की सहायता के ही ज्ञान प्राप्त करता है।

(2) मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य जैमिनी ने प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए कहा है "आत्मा में इन्द्रिय और विषय के संबंध से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और यह अतीन्द्रिय धर्म का ज्ञान प्राप्त करने में सहायक नहीं होता।" न्याय के प्रत्यक्ष के लक्षण तथा मीमांसा के इस लक्षण में बहुत समानता है। विषय-इन्द्रिय, इन्द्रिय-मन और मन-आत्मा के संबंधों से यह उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष का विषय, इन्द्रिय और आत्मा इनके होने पर ही प्रत्यक्ष संभव है। कुमारिल का यह कहना है कि प्रत्यक्ष में इन्द्रिय को भली-भांति विषय के साथ सम्पृक्त होना चाहिये। मृग-मरीचिका, गंधर्व नगर आदि का मिथ्या-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि इन में इन्द्रिय विषय के साथ संपृक्त होती ही नहीं। सुख, दु:ख आदि का भी प्रत्यक्ष होता है क्योंकि इन में यद्यपि ब्राह्य इन्द्रिय-विषय-संपर्क संभव नहीं है फिर भी आन्तर इन्द्रिय या मन का विषय से संपर्क होने पर ही इनका ज्ञान होता है।

प्रभाकर के अनुसार प्रत्यक्ष साक्षात् प्राप्ति है। प्रत्येक प्रत्यक्ष में तीन चेतनाएं अथवा त्रिपुटी संवित् होती हैं। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान इन तीनों का प्रत्येक प्रत्यक्ष में ज्ञान होता है। जब प्रत्यक्ष होता है उसी समय प्रत्यक्ष-कर्त्ता को यह भी ज्ञान हो जाता है कि उसे प्रत्यक्ष हो रहा है। प्रत्यक्ष का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य प्रत्यक्ष की आवश्यकता

नहीं होती, अन्यथा अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। चेतना या संवित् स्वयं-प्रकाश है, यह विषय को तथा अपने आप को - दोनों को - एक साथ प्रकाशित करती है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि मीमांसा दर्शन में सभी ज्ञान स्वत:-प्रमाण हैं। एक ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही ज्ञाता के द्वारा प्रमाणभूत मान लिया जाता है। कोई भी व्यक्ति एक फूल देखता है तो देखने के साथ ही यह मान लेता है कि फूल का प्रत्यक्ष सही है। यहां तक कि हम भ्रम को भी सही मान लेते हैं। रस्सी में सर्प का ज्ञान होते ही हम डर के मारे काँपने लगते हैं। अत: एक ज्ञान का प्रामाण्य स्वत: उत्पन्न होता है तथा इसका ज्ञान भी स्वत: होता है। यदि प्रामाण्य को पर से उद्भूत मानें तो प्रामाण्य की प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं होगा। एक व्यक्ति को किसी एक वस्तु के ज्ञान की प्रामणिकता जानने में अपने सारे जीवन को लगा देना पड़ेगा तब भी उसे प्रमाण्य का निश्चय न हो पाएगा। अत: प्रमाण्य स्वत: उत्पन्न होता है, परन्तु बाद के ज्ञानों से इसकी अप्रामणिकता का ज्ञान हो सकता है। जैसे किसी को पहले रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है और वह उसे सत्य मान लेता है परन्तु बाद में उसे जब यह मालूम होता है कि जिसे वह सर्प समझता है वह तो वास्तव में रस्सी है, तो इस द्वितीय ज्ञान से प्रथम ज्ञान में अप्रामणिकता उत्पन्न होती है। अत: प्रामाण्य तो स्वत: होता है, पर अप्रामाण्य परत: ही होता है। न्याय-दर्शन में इसके विपरीत यह माना जाता है कि प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परत: से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान उत्पत्ति काल में न तो प्रमाण है और न अप्रमाण।

(3) सांख्य दर्शन

प्रत्यक्ष बुद्धि की वृत्ति है। विषय के आकार के प्रभाव से बुद्धि का आकार भी विषय के आकार के सदृश हो जाता है। प्रत्यक्ष में बुद्धि की क्रिया विषय के संपर्क पर आधारित नहीं है, यह स्वाभाविक है। केवल क्रियागत वैशिष्ट्य विषय-संपर्क से जन्य होता है। यह बुद्धि की वृत्ति इन्द्रियों के माध्यम से विषय तक पहुँचती है और वहां विषय के आकार में परिणत हो जाती है। अत: प्रत्यक्ष के लिए विषय की सन्निधि अत्यन्त आवश्यक है। परंतु कभी-कभी विषय के सन्निकट होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। सांख्य के अनुसार इसका कारण यह है कि उस समय बुद्धि तामस गुण से आवृत होती है, अत: विषय का इसे प्रत्यक्ष नहीं होता। विषय-इन्द्रिय-संपर्क में इस गुण का शमन होता है तब प्रत्यक्ष होता है।

प्रत्यक्ष के लिए सत् विषय के ज्ञान का होना आवश्यक है। भ्रम में विषय असत् होता है। वृत्ति का अपना कोई आकार नहीं होता, विषय के कारण ही इस में आकार उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष के विषय दो प्रकार के होते हैं : बाह्य विषय, जैसे : पृथ्वी, जल, टेबुल आदि और आभ्यन्तर विषय, जैसे : सुख, दु:ख आदि। इन्द्रियां भी इसके लिये आवश्यक हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय निश्चित है। इन्द्रियों का विषय से संपर्क होने पर

वृत्ति विषय के आकार में परिणत होती है और ज्ञान होता है। बुद्धि की क्रिया तो प्रत्यक्ष के लिए बहुत ही आवश्यक है। इस क्रिया के बिना वृत्ति का तामसिक आवरण नहीं हटता। जब यह आवरण हट जाता है तो बुद्धि में सत्व गुण का प्रकाश होने से ज्ञान होता है। इस सत्व के कारण ही विषय का सुनिश्चित ज्ञान होता है। संशय में सत्व का उदय न होने से निश्चित ज्ञान नहीं रहता।

बाह्य इन्द्रियां विषयों के साथ संपर्क में आकर मन को विषयों से अवगत कराती हैं। मन उन विषयों पर मनन करके उनको अहंकार के सम्मुख उपस्थित करता है। अहंकार के कारण ही विभिन्न विश्रृंखलित विषय एकाकार होते हैं और बुद्धि में प्रतिबिंबित होते हैं, जिससे पुरुष में ज्ञान उत्पन्न होता है। अत: प्रत्यक्ष में बाह्य इन्द्रियों के साथ साथ मन, अहंकार और बुद्धि इन तीन आन्तर इन्द्रियों अथवा अन्त:करणों का भी सहयोग आवश्यक है।

मन, अहंकार और बुद्धि इनको अन्त:करण कहते हैं। इन्द्रियों को बाह्य करण कहते हैं। बाह्य-कारणों से विषयों का आलोचन मात्र होता है। आलोचन का अर्थ है विषयों का याथातथ्य रूप में ग्रहण। इन्द्रियों के ग्रहण में केवल 'इदम्' का बोध होता है; वह क्या है, कैसा है इसका बोध इन्द्रियों से संभव नहीं है। किसी आचार्य के मत से आलोचन निर्विकल्प, (अनिश्चित) ज्ञान है और किसी के मत से इसमें निर्विकल्प और सविकल्प दोनों का समावेश होता है। मन इस आलोचनात्मक ज्ञान का विश्लेषण करता है : 'यह क्या है, क्या नहीं'। इसमें द्रव्य, गुण आदि का विभाजन मन की क्रिया से होता है। इसी क्रिया को मनन कहते हैं। आलोचन मूक व्यक्ति का ज्ञान है परन्तु मनन से उत्पन्न ज्ञान विशेषण-विशेष्य भाव संपन्न ज्ञान होता है। आलोचन का मन के द्वारा विश्लेषण हो जाने पर अहंकार के द्वारा व्यक्तित्व का समावेश किया जाता है। 'यह ज्ञान मेरा है', 'मैं इसे देख रहा हूँ', इस ज्ञान में 'अहंकार वैयक्तिक 'अहं' या 'मैं' का समावेश अहंकार की देन है। आलोचन और मन निर्वैयक्तिक ज्ञान हैं - अहंकार वैयक्तिक है। इसी अहंकार-प्रदान की प्रक्रिया को अभिमान कहा जाता है। अभिमान की प्रक्रिया समाप्त होने पर बुद्धि सक्रिय होती है। उपस्थित विषय के प्रति क्या करना है, क्या नहीं करना है, इसका निर्णय बुद्धि करती है। इसी को अध्यवसाय कहते हैं।

बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन परस्पर निरपेक्ष करण नहीं है। इन तीनों को मिलाकर अन्त:करण कहा जाता है। इन्द्रियों से विषय का निश्चय-ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति उसके बारे में सोचता है कि 'मुझे क्या करना चाहिए' बुद्धि इसका निश्चय करती है। बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है, इनमें परस्पर कार्यकारण-भाव संबंध है। सांख्य के अनुसार कार्य-कारण से पृथक् नहीं होता। एक ही वस्तु की दो अवस्थाएँ होती हैं। कारणावस्था में वस्तु उत्पादक होती है और कार्यावस्था में

उत्पादक वस्तु उत्पन्न हो जाती है। अतएव तीनों अन्त:करण कारण की दृष्टि से एक हैं परन्तु उनमें कार्य की दृष्टि से भेद होता है। अन्त:करण और बाह्य इन्द्रियों में परस्पर द्वार-द्वारीभाव संबंध है। बाह्य इन्द्रियां ज्ञान के द्वार हैं और अन्त:करण द्वारपाल है। इन्द्रियों से प्राप्त विषय को अन्त:करण पूर्वोक्त प्रक्रिया से पुरुष या आत्मा के ज्ञान के लिए उपस्थित करता है। अन्त:करण केवल प्रक्रिया है परन्तु पुरुष ज्ञाता है। चेतना पुरुष में ही है — अन्त:करण चेतना-शून्य होता है।

पुरुष चेतनारूप है, चेतना पुरुष का गुण नहीं है। पुरुष को चेतनहीन रूप में सोचा ही नहीं जा सकता। पुरुष सबका ज्ञाता है, इसका ज्ञाता कोई नहीं है। अन्त:करण स्वयं चेतना से रहित हैं और पुरुष के ज्ञान का विषय है। अत: अन्त:करण ज्ञान का कर्ता नहीं केवल ज्ञान का माध्यम माना जाता है। पुरुष के अभाव में अन्त:करण के रहते हुए भी ज्ञान संभव नहीं है। दूसरी बात यह है कि पुरुष स्वयं क्रिया-शून्य है। सारी मानसिक क्रिया अन्त:रण में होती है। ज्ञान सत्ता है, क्रिया नहीं। अतएव पुरुष और अन्त:करण एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न तत्व हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार अन्त:करण प्रकृति से उत्पन्न है और पुरुष प्रकृति से पृथक् है। सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण प्रकृति में पाए जाते हैं। पुरुष त्रिगुणातीत है। अन्त:करण चेतनाहीन होने के कारण अपने लिए कुछ नहीं करता। अन्त:करण की क्रिया 'पर' या पुरुषके लिए ही होती है। परन्तु दूसरी ओर पुरुष और अन्त:करण में परस्पर संबंध भी है। पुरुष बुद्धि में प्रतिबिंबित होता है और बुद्धिगत क्रिया को यह अज्ञानवश अपनी क्रिया मान लेता है। पुरुष के प्रतिबिंब से अचेतन बुद्धि भी मानों चेतन हो जाती है। विज्ञानुभिक्षु के अनुसार पुरुष बुद्धि में तथा बुद्धि पुरुष में प्रतिबिंबित होती है। पुरुष और बुद्धि एक-दूसरे में प्रतिबिंबित होकर ज्ञान का संपादन तथा मानस-व्यापार का संचालन करते हैं। अत: यद्यपि पुरुष और अन्त:करण में तथ्यत: कोई संबंध नहीं है परन्तु प्रतिबिंब के कारण उनमें संबंध मालूम पड़ता है।

बुद्धि का रूप विचित्र-सा है। प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण यह अचेतन है परन्तु पुरुष की तरह यह सत्व गुण का बाहुल्य होने के कारण पारदर्शक और प्रकाशक भी है। चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति ये दोनों बुद्धि में ही संपृक्त होते हैं। परन्तु यहां संपर्क का अर्थ एक दूसरे को प्रभावित करना नहीं है। बुद्धि और पुरुष एक दूसरे के समानान्तर भी नहीं हैं। सांख्य का सिद्धान्त समानान्तरतावाद और प्रभावकतावाद इन दोनों से भिन्न है। इसे हम प्रतिबिंबवाद कह सकते हैं, क्योंकि पुरुष और बुद्धि एक दूसरे के बिंब से प्रतिबिंबित होते हैं जिसके कारण बुद्धि में चेतना प्रतीत होती है और पुरुष में क्रिया का आभास होता है। वास्तव में न तो बुद्धि चेतन है और न पुरुष सक्रिय।

(4) जैन दर्शन

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है : अपरोक्ष और परोक्ष। अपरोक्ष

ज्ञान साक्षात् ज्ञान है; इसमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। परोक्ष ज्ञान माध्यम के द्वारा होता है। कुछ आचार्य प्रत्यक्ष को परोक्ष ज्ञान मानते हैं : क्योंकि इस ज्ञान में इन्द्रिय का माध्यम आवश्यक है और साथ ही इसमें भ्रम की भी संभावना रहती है। दूसरे आचार्य प्रत्यक्ष को अपरोक्ष ज्ञान कहते हैं क्योंकि इसमें वस्तु का बिना किसी ज्ञान के माध्यम से प्रत्यक्ष होता है। अतएव यदि अपरोक्ष का अर्थ ''माध्यम के बिना उत्पन्न वस्तु का साक्षात् ज्ञान'' हो तो प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। यदि इसका अर्थ हो ''वस्तु का साक्षात् ज्ञान'' तो प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। क्योंकि इसमें इन्द्रियों के माध्यम की आवश्यकता होती है।

प्रत्यक्ष को विशद ज्ञान कहा गया है। विशद का अर्थ होता है— वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान। अनुमान आदि के द्वारा कुछ धर्मों का ही ज्ञान होता है, परन्तु प्रत्यक्ष सभी धर्मों का ज्ञान कराता है। यह प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है : सांव्यवहारिक और मुख्य। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दैनिक जीवन में होने वाला प्रत्यक्ष है परन्तु मुख्य प्रत्यक्ष असाधारण प्रत्यक्ष है। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियों के माध्यम से होता है। अत: उसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। मन को जैन दर्शन में अनिन्द्रिय कहा जाता है, अत: मानसिक प्रत्यक्ष को अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। मुख्य प्रत्यक्ष भी तीन प्रकार का होता है (1) अवधि प्रत्यक्ष में देश और काल के बंधन के बिना भूत और भविष्यत् वस्तुओं तथा वर्तमान की दूर-देशस्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है। (2) मन:पर्याय में दूसरे के मन का ज्ञान होता है। (3) केवलज्ञान देश-काल के बंधन से परे है और इसे सर्वज्ञता कहते हैं।

विषय के संपर्क से जब इन्द्रियां सक्रिय हो कर ज्ञान उत्पन्न करती हैं तो वह ज्ञान वस्तु की सत्तामात्र का होता है, उसके बारे में उसकी सत्ता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ज्ञात होता। इस ज्ञान को दर्शन कहते हैं। जब वस्तु के विशेष गुणों का ज्ञान होता है तो उसे ज्ञान कहते हैं। दर्शन को निर्विकल्प ज्ञान तथा ज्ञान को सविकल्प ज्ञान कह सकते हैं। इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्वदा सविकल्पक ही होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को वे ज्ञान नहीं, दर्शन कहते हैं। इसलिए दर्शन को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते क्योंकि उसमें वस्तु का ज्ञान निश्चयात्मक नहीं है।

मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्याय और केवल जैन दर्शन के अनुसार ये पांच प्रकार के ज्ञान होते हैं। अंतिम तीन ज्ञानों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। मति-ज्ञान सामान्य ज्ञान है जो इन्द्रियां तथा मन से प्राप्त होता है। स्मृति अथवा स्मरण, प्रत्यभिज्ञा अथवा पहचानना, तर्क अथवा वस्तुओं को देखकर उनके सामान्य धर्मों का ज्ञान (आगमन) तथा अनुमान (निगमन) मति-ज्ञान के अन्तर्गत ही माने गए हैं। मति-ज्ञान के लिए दर्शन का होना अत्यन्त आवश्यक है। दर्शन के बिना प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि सभी ज्ञान असंभव होंगे। श्रुति-ज्ञान शब्द के श्रवण से उत्पन्न होता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में ज्ञान चार स्तरों में विभाजित है। (1) दर्शन के द्वारा वस्तु की सत्ता का ज्ञान होता है, वह अस्पष्ट और अनिश्चित ज्ञान है। इस अनिश्चित सत्ता का दर्शन होने के बाद वस्तु के सामान्य तथा विशेष गुणों का ज्ञान होता है इसे अवग्रह कहते हैं। (2) अवग्रह के बाद प्राणी में वस्तु को पूर्णत: जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसे ईहा कहते हैं। (3) अवग्रह से गुणों का ही ज्ञान होता है, वस्तु या व्यक्तित्व नहीं ज्ञात होता। एक वस्तु लाल है यह ज्ञान अवग्रह से होता है परन्तु यह लाल वस्तु क्या हैं ? इसको जानने की इच्छा होने पर हम अवाय का सहारा लेते हैं। अवाय में वस्तु के सत् रूप का पता चलता है। वस्तु क्या है, क्या नहीं है इसका ज्ञान इसी तीसरे स्तर पर होता है। यही वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि वस्तु की सच्ची विशेषता, उसकी जाति, उसका दूसरों से साम्य और वैषम्य इन सब बातों का ज्ञान इसी स्तर पर होता है। (4) अवाय के बाद ज्ञान की धारणा अथवा मन में उसका संस्कार के रूप में स्थापन होता है।

आत्मा तथा इसके विषय एक दूसरे से भिन्न हैं। इन्द्रियों से साधारणत: बाह्य विषयों के तथा मन से मानसिक प्रत्यक्ष होते हैं। आत्मा की चेतना सक्रिय है जिसके कारण वह स्वयं अपना तथा अपने संपर्क में आए विषयों का ज्ञान प्रकाशित करती रहती है। किसी भी ज्ञान में विषय के ज्ञान के साथ ही साथ आत्मा का भी ज्ञान होता है। जब भी कोई ज्ञान होता है तो ज्ञाता यही कहता है कि "मैं जानता हूँ।" आत्मा को ज्ञानी कहते हैं और ज्ञान उस आत्मा में रहने वाला ऐसा धर्म है जिसे आत्मा से अलग नहीं किया जा सकता परन्तु उसको अलग समझा जा सकता है। ज्ञान के बिना आत्मा संभव ही नहीं है तथा आत्मा के बिना ज्ञान असंभव है।

मति, श्रुति तथा अवधि इन तीन ज्ञानों में भ्रम संभव है परन्तु मन: पयार्य और केवल ज्ञान सर्वदा भ्रम से अछूते होते हैं। पूर्णता प्राप्त आत्मा में ज्ञान और दर्शन साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, परन्तु साधारण आत्माओं में पहले दर्शन होता है बाद में ज्ञान होता है। पूर्ण ज्ञान संशय, विमोह और विभ्रम से परे है, अपूर्ण ज्ञान में ये सब होते हैं।

जैन दर्शन में आत्मा को जीव कहते हैं। ये जीव अनन्त हैं। वास्तविक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्व वीर्य और अनन्त सुख से युक्त होता है। परन्तु कर्म के अणुओं से उसका सत्य स्वरूप आवृत हो जाता है अत: वह सीमित ज्ञान, दर्शन आदि से युक्त दिखाई देता है। सांसरिक जीव के ज्ञान, दर्शन आदि सीमित हैं। वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं, जीव कुछ धर्मों का ही ज्ञान प्राप्त करता है और उसी को इत्थंभूत मान लेता है। पर सत्य यह है कि किसी वस्तु के सारे धर्मों का ज्ञान बद्ध जीव के लिए असंभव है। जितने धर्मों का ज्ञान होता है उन से कहीं अधिक धर्म अज्ञात हैं। परन्तु अज्ञात होने का अर्थ यह नहीं है कि ये हैं ही नहीं। अत: ज्ञान सर्वदा सीमित होता है, परन्तु उसमें यह संभावना बनी रहती है कि उस ज्ञान के अलावा बहुत सारे धर्मों का ज्ञान संभव है। अत:

जीव का ज्ञान निश्चित नहीं है। वह सर्वदा अपूर्ण है, परन्तु उसकी अपूर्णता उसकी पूर्णता की संभावना की ओर संकेत करती है। अतएव जैन दर्शन 'संभावना' अथवा 'स्यात्' का दर्शन है। एक वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् सत् नहीं है। इसी मत को स्याद्वाद कहते हैं।

(5) बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन में इतने मत-मतान्तर हैं कि उन सबका प्रत्यक्ष के विषय में मन्तव्य उपस्थित करना यहां संभव नहीं है। यहां केवल उन प्रमुख विचारों का संक्षिप्त उद्धरण दिया जाएगा जो प्राय: सभी मतों में गृहीत हैं।

नाम और रूप व्यक्तित्व के ये दो भाग हैं। 'नाम' मानसिक तत्वों का तथा 'रूप' भौतिक तत्वों का बोधक है। जो स्थूल है उसे रूप कहते हैं, जो सूक्ष्म है उसे नाम कहते हैं। यें दोनों परस्पर संबद्ध हैं और एक दूसरे पर आधारित हैं। नाम आाध्यात्मिक या आंतर धर्म है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा को नहीं माना गया है। इसी लिए बौद्ध सिद्धांत को अनात्मवाद कहते हैं। जिसे हम आत्मा कहते हैं वह कोई एक और नित्य तत्व नहीं है। वास्तव में तथाकथित आत्मा पांच तत्वों या स्कंधों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। रूप, वेदना,संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच तत्वों से बनी आत्मा निरंतर बदलती रहती है। यह नदी की धारा की तरह है जिस में एक बूँद भी स्थिर नहीं है। प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होती आत्मा क्षणिक है।

भौतिक धर्मों को रूप कहा जाता है। मानस अनुभव को वेदना कहते हैं। यह वेदना सुख रूप, दु:ख रूप और अदु:खसुख रूप की हो सकती है। इन्द्रिय से अनुभूयमान विषय के संपर्क से इसकी उत्पत्ति होती है। सभी प्रकार के प्रत्यक्षों की उत्पत्ति संज्ञा से होती है। संज्ञा में स्पष्ट ज्ञान होता है, परन्तु वेदना केवल अनुभवरूप है। चेतना को विज्ञान कहा जाता है। विज्ञान विषय के संपर्क में आता है जिस से अनुभव तथा क्रिया उत्पन्न होती है। प्रत्यक्ष में वस्तु दी हुई होती है। हमारी इन्द्रियां इस वस्तु के संपर्क में आती हैं। इस संपर्क से अनुभव उत्पन्न होता है। अनुभव अस्पष्ट प्रत्यक्ष है, इसमें वस्तु का विशद ज्ञान नहीं होता। जब ये अनुभव संज्ञा में एकत्र होते हैं और उनको स्पष्ट रूप से दूसरे अनुभवों से अलग किया जा सकता है तो वह प्रत्यक्ष कहलाता है। पूर्ण प्रत्यक्ष संज्ञा के द्वारा ही होता है।

बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय प्रमुख हैं। माध्यमिक संप्रदाय में परमार्थ दृष्टि से सारी सत्ता का निषेध है, अत: परमार्थत: न तो द्रष्टा है न दृश्य वस्तु। अत: प्रत्यक्ष संभव नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से ही प्रत्यक्ष की स्थिति है। अत: उसका विवेचन करने की आवश्यकता का इस दर्शन में कोई अनुभव नहीं किया गया। योगाचार दर्शन में विज्ञान

या चेतना को ही माना गया है और कहा गया है कि सारा अनुभव विज्ञान तथा विज्ञान के परिणामों का ही होता है। विज्ञान से अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नहीं है जिस का अनुभव किया जा सके। जिसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं वह हमारे विज्ञान तथा आलय-विज्ञान में उत्पन्न परिवर्तनों का ही प्रत्यक्ष है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक यथार्थवादी संप्रदाय हैं। इनके अनुसार मन तथा बाह्य जगत् दोनों सत्य हैं। बाह्य वस्तु मन या विज्ञान पर आधारित नहीं है। इन दोनों संप्रदायों में प्रमुख भेद केवल इतना है कि वैभाषिक संप्रदाय के अनुसार बाह्य वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, परन्तु सौत्रान्तिक संप्रदाय के अनुसार बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। हम अनुमान के द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस भेद के अतिरिक्त प्रायः दोनों संप्रदाय एकमत हैं।

दिङ्नाग (सौत्रान्तिक आचार्य) के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता हैं। इतना ही नहीं, इस प्रत्यक्ष को भ्रान्ति से रहित होना चाहिये। यह ज्ञान साक्षात् विषय से उत्पन्न होता है; विषय और ज्ञाता के बीच कोई मध्यस्थ नहीं रहता। कल्पना का अर्थ होता है नाम और जाति। जब वस्तु के साथ मन का संपर्क होता है तो वस्तु अपने स्पष्ट रूप में हमारे ज्ञान में भासित होती है और इस ज्ञान में हमें किसी प्रकार के नाम आदि का आभास नहीं होता। नाम वस्तु का अपरिहार्य धर्म नहीं है, यह तो हमारी बुद्धि की देन है। जो वस्तु जैसी है उसका - बिना कुछ छोड़े या जोड़े - जो ज्ञान होता है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं। नाम वस्तु में नहीं हैं; हमारी बुद्धि एक वस्तु को दूसरी से अलग करने के लिए तथा व्यवहार में सुविधा के लिए एक नाम गढ़ती है, अतः नाम को प्रत्यक्ष की देन नहीं कह सकते। प्रत्यक्ष शब्द-संपर्क से रहित होता है। इसी प्रकार वस्तु किस जाति की है, यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष से नहीं होता। हम केवल वस्तु का मात्र प्रत्यक्ष करते हैं। वह वस्तु अपने-आप में दूसरी वस्तुओं से भिन्न है तथा उस वस्तु का अस्तित्व उसी वस्तु के उपयुक्त है। उसका अस्तित्व दूसरी वस्तुओं पर आधारित नहीं है। इसलिए वस्तु को स्वलक्षण कहा गया है। जब स्वलक्षण का प्रत्यक्ष हो जाता है तो समानता आदि के आधार पर व्यवहार में सुविधा के लिए एक-सी वस्तुओं को हम एक जाति की मान लेते हैं। यह जाति केवल मन की कल्पना है, वस्तुगत रूप में इसका कोई अस्तित्व नही हैं। यदि जाति का वस्तु में अस्तित्व होता तो वह हमें वस्तु से पृथक् दिखाई देती। अतएव वस्तु के प्रत्यक्ष में नाम और जाति का स्थान नहीं है। नाम और जाति केवल कल्पना है। इनसे रहित वस्तु का जो प्रत्यक्ष होगा वह अस्पष्ट ही होगा। निश्चयात्मक प्रत्यक्ष वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि उसमें कल्पना का योग आवश्यक है।

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति के लिए चार बातों या प्रत्ययों की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष के लिए किसी आलंबन या विषय का होना आवश्यक है। किसी सहकारी अथवा माध्यम (जैसे : देखने के लिए प्रकाश) तथा अधिपति अथवा इन्द्रियों की भी

आवश्यकता होती है। इनके रहते हुए भी जब तक पुर्वानुभव का स्मरण न हो तो प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी पूर्वानुभव के स्मरण को समनन्तर कहते हैं। इन चार प्रत्ययों के अलावा पांचवां कोई प्रत्यय नहीं है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष के अतिरिक्त मनोविज्ञान, स्वसंवेदन तथा योगिप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष के भेद हैं। इन्द्रियों के व्यापार की समाप्ति हो जाने पर जो प्रत्यक्ष होता है उसे मनोविज्ञान कहते हैं। यह प्रत्यक्ष इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के तुरंत बाद होता है। मन तथा मन के धर्मों का प्रत्यक्ष स्वसंवेदन कहलाता है। बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों की भावना से परिपूर्ण योगी का प्रत्यक्ष वस्तु के सत्य रूप का प्रत्यक्ष है। यह प्रत्यक्ष वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष है।

(6) अद्वैत वेदान्त दर्शन

अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा ही एकमात्र तत्व है। चेतना इसका धर्म नहीं अपितु रूप है। यह आत्मा गुणों से रहित तथा सभी में रहने वाली एक सत्ता है। सर्व-व्यापिनी एकसत् आत्मा को ब्रह्म कहते हैं। संपूर्ण ज्ञान का इसी से प्रकाश होता है, आत्मा के बिना ज्ञान संभव ही नहीं है। परन्तु यदि आत्मा एक है तो व्यक्तियों का ज्ञान भिन्न-भिन्न क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि एक आत्मा भी विभिन्न रूप में प्रकाशित होने के कारण भिन्न मालूम होती है, इसी से ज्ञान में भेद होता है। इस आत्मा के तीन स्वरूप माने गए हैं। अन्त:करण के कारण आत्मा ज्ञाता का रूप धारण करता है तब उसे प्रमातृचैतन्य कहते हैं। अन्त:करण की वृत्तियों (देखिए सांख्य दर्शन) की उपाधि से भूषित आत्मा प्रमाण या ज्ञान का रूप धारण करता है तब उसको प्रमाण चैतन्य कहते हैं तथा ज्ञात विषय के कारण आत्मा विषय का रूप धारण करता है तो उसे विषय-चैतन्य कहते हैं। आत्मा वास्तव में एक और अद्वितीय है और यही इन्द्रियों, इन्द्रिय की वृत्तियों तथा विषयों का प्रकाशन करता है। अन्त:करण स्वयं इन्द्रिय नहीं है परन्तु इसका आत्मा के साथ संपर्क होने पर अंत:करण विषय का ज्ञान करता है। अंत:करण जब विषय के आकार में परिणत होता है तो उसके परिणाम को वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियां चार प्रकार की होती हैं - 1. संशय, 2. निश्चय, 3. गर्व (स्वयं का ज्ञान) तथा 4. स्मरण। संशयावस्था में स्थित अंत:करण को मन कहते हैं। निश्चयास्थापन्न अन्त:करण को बुद्धि कहते हैं। गर्वावस्थापन्न अन्त:करण अहंकार कहलाता है तथा स्मरणावस्था का अन्त:करण चित्त कहा जाता है। इस प्रकार ज्ञान का कारण यद्यपि मूलत: आत्मा है तथापि जब आत्मा अन्त:करण की वृत्तियों से भूषित होता है तभी ज्ञान होता है। अन्त:करण अलग है अत: आत्मा के एक होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति में ज्ञान भिन्न-भिन्न होता है।

इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न साक्षात् ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। अन्त:करण

इन्द्रियों के द्वारा विषय तक पहुँचाता है और विषय के आकार में परिणत हो जाता है। जिस इन्द्रिय के द्वारा अन्त:करण विषय तक पहुंचाता है उस इन्द्रिय के गाह्य विषय-गुणों-का प्रत्यक्ष होता है। यदि आंख के द्वारा अंत:करण वस्तु से संबंधित होगा तो वस्तु के रूप, रंग आदि का प्रत्यक्ष होगा। यदि विषय अति दूर हुआ अथवा अति सूक्ष्म हुआ तो अंत:करण उस विषय का ग्रहण न करेगा। यह बतलाया गया है कि अंत:करण का विषयाकार ग्रहण करना वृत्ति कहलाता है। विषय के कारण उत्पन्न अन्त:करण की वृत्ति तथा आत्मा का विषय के साथ संपर्क इन दो कारणों से विषय का ज्ञान होता है। यही प्रत्यक्ष की विशेषता है। अनुमान में विषय के साथ संपर्क नहीं होता। दूसरे शब्दों में वर्तमान विषय के साथ संपर्क होने पर ही प्रत्यक्ष होता है। स्मरण आदि में विषय वर्तमान नहीं रहता।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों के कारण होता है। अनिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष में इन्द्रिय की आवश्यता नहीं होती। सुख, दु:ख आदि का प्रत्यक्ष अनिन्द्रियजन्य है। प्रमाण-चैतन्य तथा विषय-चैतन्य जब दोनों एक रूप के होते हैं तो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अतएव प्रत्यक्ष में चैतन्य इन्द्रिय के योग्य तथा वर्तमान विषय से अवछिन्न होता है और विषय के आकार में परिणित वृत्ति से अवच्छिन्न होकर ज्ञान उत्पन्न करता है।

भ्रम में, वेदान्त के अनुसार, दो बातें होती हैं। एक तो सामने स्थित विषय (इदम्) होता है और दूसरे अविद्या (अज्ञान) आदि के द्वारा पूर्वानुभूत विषय का स्मरण होता है। स्मरण के कारण जो ज्ञान होता है उसको वर्तमान विषय के ज्ञान के साथ एक मानकर हम भ्रान्त प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। सामने सीपी का एक टुकड़ा है, उसको देखते हैं परन्तु उसकी चमक से चांदी का स्मरण होता है। इस स्मृत[1] चांदी तथा विषय (सीपी) को एक मानने पर हमें यह ज्ञान होता है कि "सामने चांदी का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है।" वास्तव में यह ज्ञान भ्रांत है क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य से प्रमाण चैतन्य पृथक् है।

इन्द्रियों का स्वरूप

प्रत्यक्ष के विभिन्न सिद्धान्तों का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है। ये इन्द्रियां दो प्रकार की होती हैं - 1. बाह्य इन्द्रियां : आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा, तथा 2. आभ्यन्तर इन्द्रियां : मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त। प्रत्यक्ष का ज्ञान इन इन्द्रियों के विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत स्वरूप के बिना अधूरा रहेगा, अत: उनका यहां विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

बाह्य इन्द्रियां :- बौद्ध दर्शन में दर्शन, श्रवण, रस-ज्ञान, स्पर्श, गंध-ज्ञान तथा मानस-ज्ञान के छ: प्रकार के प्रत्यक्ष माने गए हैं। इनमें से पहले पांच तो पांच बाह्य

इन्द्रियां पर आधारित हैं परन्तु यहां मानस ज्ञान मन पर आधारित है। मन को यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ दें तो पांच ज्ञान की इन्द्रियां बौद्ध दर्शन में स्वीकृत हैं। ये इन्द्रियां शरीर के विभिन्न छिद्रों में स्थिल गोलक हैं। पांच इन्द्रियां विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म तत्वों से बनी हैं। ये तत्व भौतिक हैं। इनमें से नाक, जिह्वा तथा त्वचा ये तीन इन्द्रियां विषय के साथ सीधे संपर्क में आने पर ही प्रत्यक्ष उत्पन्न करती हैं अत: इन्हें प्राप्यकारी कहते हैं। आंख तथा कान विषय का दूर से ग्रहण करते हैं अत: उन्हें अप्राप्यकारी कहते हैं।

जैनों के अनुसार पांच इन्द्रियां हैं। प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की होती है। भौतिक इन्द्रिय वह इन्द्रिय है जो हमें दिखलाई देती है। इसको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इन भौतिक इन्द्रियों के पीछे इन इन्द्रियों से मिलती भावेन्द्रियां हैं जो आत्मा में स्थित हैं। प्रत्येक भौतिक इन्द्रिय के दो भाग होते हैं। एक भाग तो वह है जो ज्ञान का वास्तविक कारण है, जैसे आंख की पुतली; तथा दूसरा भाग वह है जो इन्द्रिय का उपकरणमात्र है - जैसे आंख की पलकें। द्रव्येन्द्रियां भावेन्द्रियों के साथ मिली होती हैं। केवल द्रव्येन्द्रियों से प्रत्यक्ष संभव नहीं है जब तक उनका भावेन्द्रियों के द्वारा आत्मा से संपर्क नहीं होता। भावेन्द्रियां भौतिक जगत् को आत्मा से मिलाने की माध्यम हैं। मन नामक इन्द्रिय को जैन दर्शन में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि जैन दर्शन में आत्मा को सारे शरीर में व्याप्त माना गया है। जैसे किसी कमरे में रखे दीपक का प्रकाश कमरे भर में व्याप्त रहता है उसी प्रकार शरीर के भीतर आत्मा व्याप्त रहती है। जैन दर्शन में आंख अप्राप्यकारी है और शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियां पुरुष के साधन हैं। ये इन्द्रियां अहंकार से उत्पन्न होती हैं। सांख्य में ग्यारह अथवा बारह इन्द्रियां मानी गई हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां तो हमें मालूम हैं। पांच कर्मेन्द्रियों की भी गणना इन्द्रियों में की गई है : वाक्, हाथ, पैर, गुदा तथा जननेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रियां हैं। मन तथा कभी-कभी बुद्धि की गणना भी इन्द्रियों में होती है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां जैसे दिखाई देती हैं वैसा इनका स्वरूप नहीं है। ये अहंकार से उत्पन्न हुई हैं और इनके भीतर मनोवैज्ञानिक शक्ति काम करती है। बिना इस शक्ति के ये इन्द्रियां निष्क्रिय होती हैं। अत: इन्द्रियों का वास्तविक रूप मनोवैज्ञानिक है, भौतिक नहीं। ज्ञानेन्द्रियों से संवेदना होती है, कर्मेन्द्रियों से क्रिया की निष्पत्ति होती है।

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष की सन्निधि से प्रकृति के तीन गुणों - सत्व, रजस, तथाव तमस् - में विक्षोम उत्पन्न होता है जिससे बुद्धि की उत्पत्ति होती से। बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है। बुद्धि और अहंकार में तीनों गुण विद्यमान होते हैं। अहंकारनिष्ठ सत्वगुण से ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां तथा मन की उत्पत्ति होती है। अहंकार-

गत तमोगुण से पांच सूक्ष्म भूतों या तन्मात्रा की उत्पत्ति होती है। रजस् ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन को गति प्रदान करता है। अतएव इन्द्रियां गतिमान् होती हैं।

सांख्य के अनुसार ज्ञानेन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। ये इन्द्रियां जब अपने विषयों तक पहुंचती हैं तभी अंत:करण में वृत्ति उत्पन्न होती है। यदि बिना विषय के संपर्क के ही प्रत्यक्ष संभव हो तो अतिदूर स्थित तथा परोक्ष विषयों का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। ऐसा नहीं होता इसलिए इन्द्रियां विषय के साथ संपृक्त होने पर ही प्रत्यक्ष कराती हैं। यह संपर्क साक्षात् नहीं होता अपितु इन्द्रियों के विषयाकार में परिणत होने पर ही हो सकता है। अत: वृत्ति के द्वारा ही प्रत्यक्ष संभव है और वृत्ति इन्द्रियों की प्राप्यकारिता पर आधारित है।

न्याय दर्शन में भी पांच ज्ञानेन्द्रियों को स्वीकार किया गया है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना विषय है तथा अपनी क्रिया है। एक इन्द्रिय का काम दूसरी से नहीं हो सकता। ये इन्द्रियां प्रत्यक्ष-गोचर नहीं हैं, इनके कार्य से इनकी स्थिति का अनुमान किया जाता है। पांच इन्द्रियों के पांच अधिष्ठान हैं। त्वचा सारे शरीर में है, आंख पुतली में है, घ्राण नासिका-रंध्रों में है, रसना जिह्वा में है तथा श्रवणेन्द्रिय कानों के छिद्रों में है। इन अधिष्ठानों का नाश हो जाने पर प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे पुतली के न रहने पर रंग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इन्द्रिय अपने अधिष्ठान से पृथक् है। बौद्धों की तरह नैयायिक इन्द्रिय तथा गोलक को एक नहीं मानते। सभी इन्द्रियों की अपनी गति है। आंख, जो तेज रूप है, विषय तक पहुँचती है; त्वचा, जिह्वा तथा घ्राण अपने अधिष्ठान में ही स्थित होकर विषय का ग्रहण करते हैं। श्रवण या कान भी अपने अधिष्ठान में ही स्थित होकर शब्द की लहरियों का प्रत्यक्ष करता है। अत: इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, क्योंकि विषय के साथ संपृक्त होने पर ही उनसे प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रियों की अपनी अपनी आकृति होती है। घ्राण, जिह्वा, और त्वचा अपने अधिष्ठान की जितनी आकृति वाली इन्द्रियां हैं। आंख तेज है और अपने अधिप्ठान से निकलकर जितनी दूर तक उसका प्रकाश जाता है उतनी दूरी तक के विषय को ग्रहण करती है। श्रवण आकाश रूप है। कान के छिद्रों में आकाश रहता है। अत: वे शव्द-लहरियां, जो कान में स्थित आकाश तक पहुँचती हैं, प्रत्यक्ष में आती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अलग अलग जाति की है और अलग अलग द्रव्य से बनी है। घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी से निर्मित है अत: पृथ्वी के विशेष गुण गंध का उससे प्रत्यक्ष होता है। श्रवणेन्द्रिय आकाशरूप है। इससे आकाश के गुण शब्द का प्रत्यक्ष होता है। रसना जलीय इन्द्रिय है, अत: जल के विशेष गुण रस का इससे प्रत्यक्ष होता है। चक्षुरिन्द्रिय तैजस है, अत: इससे उद्भूत रूप का प्रत्यक्ष होता है। त्वचा वायवीय है, अत: वायु के विशेष गुण स्पर्श का इससे प्रत्यक्ष होता है। मीमासां दर्शन न्याय दर्शन में प्रतिपादित इन्द्रिय के स्वरूप को स्वीकार करता है। भेद इतना ही है कि न्याय के अनुसार श्रवणेन्द्रिय आकाश ही है परन्तु मीमांसा इसको दिक् का एक भाग मानता है।

सांख्य की तरह अद्वैत वेदान्त में भी पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा अन्त:करण की स्थिति मानी गई है। सांख्य में मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्त:करण माने गए हैं परन्तु वेदान्त में एक चौथा अन्त:करण भी स्वीकृत है जिसे चित्त कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियां पांच महाभूतों के सात्विक अंश से बनी हैं। कर्मेन्द्रियां पांच महाभूतों के राजस अंश से बनी हैं। अन्त:करण पांच महाभूतों के सम्मिलित सात्विक अंश से निर्मित है। वेदान्त में बौद्धों के इस सिद्धान्त का खंडन किया गया है कि इन्द्रियां गोलकरूप हैं। कुछ ऐसे भी जीव हैं जिनमें कान का गोलक नहीं है फिर भी वे सुनते हैं, जैसे सांप। अत: गोलक इन्द्रिय नहीं है। वास्तव में आत्मा के बिना सभी इन्द्रियां निष्फल हैं। आत्मा ही इन्द्रियों को ज्ञान के लिए प्रेरित करती है। अत: आत्मा ही मुख्य है। परन्तु इन्द्रियों की स्थिति मानना आवश्यक है, क्योंकि इनके बिना प्रत्यक्ष संभव नहीं है। ये इन्द्रियां अपने स्थूल रूप में इन्द्रियां नहीं है। उनके पीछे शक्ति ही वास्तविक इन्द्रिय है।

अन्त:करण :- बौद्ध दर्शन में मन का एक अलग कार्य है। जैसे इन्द्रियों आदि से विज्ञान उत्पन्न होता है उसी तरह मन से मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। मन से ही विषय की वेदना आदि को एक रूप मिलता है। मन कोई तत्व नहीं अपितु क्रिया मात्र है।

न्याय दर्शन में मन को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यद्यपि न्याय के अधिष्ठाता गौतम ने मन की इन्द्रियों में गणना नहीं की है फिर भी वात्स्यायन ने मन को एक आन्तर इन्द्रिय माना है। सुख-दु:ख आदि का प्रत्यक्ष होता है परन्तु इसमें इन्द्रियां सहायक नहीं होती। यह प्रत्यक्ष मन से ही होता है। मन के अतिरिक्त दूसरा अंत:करण न्याय में नहीं माना गया है। यह अणुरूप और नित्य है। पहले इन्द्रियों का मन से संयोग होता है, फिर इन्द्रियसंयुक्त मन का आत्मा से संयोग होता है, तब प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। यदि मन कहीं अन्यत्र लगा हो तो इन्द्रिय का विषय से योग होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता। किसी विषय में दत्तचित्त व्यक्ति सामने से गुजरता चीज़ को नहीं देखता क्योंकि उसका मन उस समय आंख से संयुक्त नहीं है। मन अणुरूप है अत: एक समय में इसका संयोग एक ही इन्द्रिय से होता है जिससे एक समय में एक ही वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। जिसे हम एक साथ कई चीजों को देखना चाहते हैं वह मन की तीव्रगति के कारण उत्पन्न भ्रम है। जैसे कमल की सौ पंखुड़ियों को सूई से छेदने पर पंखुड़ियां एक-एक करके छिदती हैं परन्तु लगता है कि वे एक साथ ही छिद गई हैं। उसी प्रकार मन यद्यपि एक-एक विषय को अलग अलग जानता है परन्तु उसकी क्रिया की तीव्रता से हमें मालूम होता है कि हम एक साथ कई विषयों को जान रहे हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष में मन का हाथ होता है। यहां तक कि स्वप्न में भी मन का आत्मा से संपर्क होता है, इसलिए स्वप्नगत विषयों का प्रत्यक्ष होता है परन्तु वहां मन का इन्द्रियों से संपर्क नहीं रहता।

सांख्य के अनुसार मन, अहंकार और बुद्धि ये अन्त:करण होते हैं। अन्त:करण ही मुख्य और स्वतंत्र इन्द्रिय है क्योंकि बाह्य इन्द्रियों का व्यापार इन्हीं पर आधारित है। इन अंत:करणों में भी बुद्धि सबसे प्रमुख है क्योंकि इसी के द्वारा अहंकार तथा मन का नियंत्रण होता है। बुद्धि से अहंकार तथा अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। बाह्य इन्द्रियों की क्रिया में मन प्रमुख कारण है, मन की क्रिया में अहंकार कारण है तथा अहंकार की क्रिया में बुद्धि कारण है। बुद्धि के कारण ही, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, पुरुष को ज्ञान होता है, अत: बुद्धि की महत्ता सर्वविदित है। साथ ही बुद्धि में ही संस्कार रहते हैं जिनके कारण स्मरण आदि होता है। परन्तु बुद्धि अन्य अंत:करणों तथा बाह्य इन्द्रियों के कारण ही ज्ञान उत्पन्न कर सकती है अत: दूसरी इन्द्रियों की आवश्यकता मानी गई है। अन्यथा अंधा आदमी भी देख पाता तथा बहरा आदमी सुन पाता। बुद्धि के कारण भूत, वर्तमान तथा भविष्य के विषयों का स्वभाव-निर्धारण होता है। अहंकार के कारण इन्द्रियों से प्राप्त विषय के संस्कारों को अहंभाव में अनुस्यूत किया जाता है। मन भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों को मिलाता तथा अलग करता है। ये सभी अंत:करण भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों से संबंधित हैं; बाह्य इन्द्रियां केवल वर्तमान से संबंधित हैं।

अंत:करण के विषय में अद्वैत वेदान्त सांख्य के साथ है। भेद केवल इतना है कि अद्वैत वेदान्त में चित्त को चौथा अंत:करण माना गया है। वास्तव में अंत:करण एक है परन्तु विभिन्न क्रियाओं के कारण इसको चार प्रकार का मानते हैं। संशय अथवा अनिश्चयावस्था को मन कहते हैं। निश्चयावस्था बुद्धि कही जाती है। अहं की भावना उत्पन्न करना अहंकार का काम है। पूर्वानुभवों को याद करना चित्त का काम है।

न्याय की तरह मीमासां में भी केवल मन को ही अंत:करण कहा गया है। यह आणविक है अत: एक साथ एक से अधिक विषयों का इससे ज्ञान नहीं हो सकता। जैन दर्शन में मन को इन्द्रिय नहीं माना गया है। इन्द्रिय का विषय निश्चित होता है परन्तु मन का कोई निश्चित विषय नहीं है।

प्रत्यक्ष के विषय

विभिन्न इन्द्रियों के विषय निश्चित हैं। घ्राण से उद्‌भूत गंध का प्रत्यक्ष होता है परन्तु गंधयुक्त द्रव्य (पृथ्वी) का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। रसना से रस तथा रस की जाति का प्रत्यक्ष होता है परन्तु रसवान् द्रव्य (जल) का इससे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। श्रवण से आकाश का प्रत्यक्ष तो नहीं होता परन्तु आकाश के गुणा शब्द का प्रत्यक्ष होता है। बहुत धीमे तथा तेज शब्द का प्रत्यक्ष संभव नहीं है। केवल मध्यम तीव्रता वाले शब्द का ही प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से उद्‌भूत रूप तथा रूपवान् द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। साथ ही पृथकता, संख्या, संयोग, विभाग, पूर्वत्व, परत्व, सामीप्य, स्नेह तथा द्रवत्व

का भी चक्षु से ही प्रत्यक्ष होता है। विषय की क्रिया तथा जाति एवं वस्तु का समवाय संबन्ध भी चक्षु से जाना जाता है। त्वचा से स्पर्श तथा स्पृष्ट द्रव्य दोनों का प्रत्यक्ष होता है। चक्षु से जिन विषयों का प्रत्यक्ष होता है उनमें से रूप तथा रूप की जाति की छोड़ कर बाकी सब का प्रत्यक्ष भी त्वक् से हो जाता है। बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न का प्रत्यक्ष मन से होता है। कुछ नैयायिकों के अनुसार आत्मा का भी मन से प्रत्यक्ष होता है।

सभी प्रकार के प्रत्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि विषय न तो अति सूक्ष्म हो और न अति महान्। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता तथा अति महान् होने के कारण इस समग्र ब्रह्मांड का। साथ ही, अधिक दूरी के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दूर आकाश में उड़ता पक्षी नहीं दिखाई देता। अति समीपता के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे आंख में लगा काजल अपने आपको नहीं दिखाई देता। चित्त की अस्थिरता अथवा अन्यत्र लगे होने के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं होता। एक विषय का दूसरे विषय में छिप जाने के कारण भी प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे सूर्य के प्रकाश में छिपे तारों का। जब कई वस्तुएं एक में मिल जाती हैं तो वस्तुओं का अलग अलग प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे बहुत से दीपों के प्रकाश में हम यह नहीं कह सकते कि किस दीप का कौन सा प्रकाश है।

दिक् या आकाश का प्रत्यक्ष होता है या नहीं इस पर भारतीय दर्शन में बड़ा विवाद है। न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार दिक् एक और नित्य है। इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। दूरी और समीपता के कारण दिक् की स्थिति का अनुमान भर होता है। परन्तु दिक् में वस्तु की स्थिति, दिशा तथा दूरी का ज्ञान आंखों तथा त्वचा से होता है। मीमांसा दर्शन भी इस बात को स्वीकार करता है। परन्तु मीमांसा में यह माना जाता है कि श्रवणेन्द्रिय से भी वस्तु की स्थिति, दिशा और दूरी का ज्ञान होता है। दिक् शब्द का विशेषण है। कान से शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष में कान शब्द के द्वारा उत्पन्न लहरियों के संपर्क में आता है। शब्द का देश कान में नहीं वस्तु में है, परन्तु कान प्राप्यकारी है - कान कहीं नहीं जाता, अपितु शब्द कान के पास पहुँचता है। कानों के द्वारा इसलिए केवल शब्द का ही प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु शब्द के देश (दिक्) का भी प्रत्यक्ष होता है। शब्द का प्रत्यक्ष होने के साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि शब्द किधर से आ रहा है तथा शब्द की उत्पत्ति का देश दूर है या समीप। दिक् के बिना हमें केवल शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें कानों के द्वारा केवल दिक् का प्रत्यक्ष होता है। जब भी दिक् का कानों से प्रत्यक्ष होगा तो वह शब्द के प्रत्यक्ष के साथ ही होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि कान से मुख्यत: शब्द का प्रत्यक्ष होता है परन्तु शब्द के विशेषण के रूप में दिक् का प्रत्यक्ष गौण रूप में होता है। मीमांसा

के सिद्धांत में एक बात और ध्यान देने की है कि शब्द वस्तु से उत्पन्न होता है, परन्तु वस्तुगत शब्द का प्रत्यक्ष तब तक नहीं होता जब तक शब्द कानों में न पहुँच जाए। अतएव कान ही वस्तुत: शब्द के प्रत्यक्ष के मुख्य देश हैं। परन्तु चूंकि शब्द के साथ-साथ उसके दिक् का भी प्रत्यक्ष होता है अत: हम भ्रमवशात् शब्द का मुख्य देश कानों को न मानकर वस्तु को मान लेते हैं। अत: यह आवश्यक नहीं कि शब्द-लहरियां कान के पर्दे से टकरायें तभी प्रत्यक्ष हो। कान दूर-देश-स्थित शब्द का प्रत्यक्ष कर सकता है और करता है। देश का कान के द्वारा प्रत्यक्ष भ्रम नहीं अपितु सत्य ज्ञान है। सांख्य, योग, वेदान्त तथा महायान और बौद्ध दर्शन के कुछ संप्रदायों के अनुसार दिक् हमारी बुद्धि की कल्पना-मात्र है। यह वास्तविक नहीं है। अतएव इन दर्शनों के अनुसार दिक् का प्रत्यक्ष नहीं होता।

गति के प्रत्यक्ष के बारे में भी ऐकमत्य नहीं है। प्रभाकरानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार गति का साक्षात् प्रत्यक्ष नहीं होता; संयोग और विभाग के कारण केवल अनुमान होता है। एक वस्तु जब एक देश से अलग होती है तथा दूसरे देश से संयुक्त होती है तभी हमें गति का ज्ञान होता है। हमारे प्रत्यक्ष में वस्तु का एक देश से संयोग और दूसरे देश से विभाग ही आता है, इसके अतिरिक्त गति का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष से नहीं मिलता। परन्तु कुमारिलानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार संयोग और विभाग बिना गति के हो ही नहीं सकते, अत: संयोग और विभाग के साथ-साथ वस्तु की गति का भी हमें प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिक दर्शन में भी रूपवान् तथा स्पर्शवान् द्रव्यों की गति का प्रत्यक्ष स्वीकृत है। इसका प्रत्यक्ष आंखों तथा त्वचा से होता है, अतएव हम हवा की गति जानते हैं।

अब हम काल के प्रत्यक्ष के बारे में विचार करेंगे। किसी वस्तु का जब प्रत्यक्ष होता है तो उस वस्तु के ज्ञान के साथ-साथ हमें यह भी ज्ञात होता है कि वस्तु वर्तमान है। वर्तमान-काल का ज्ञान किसी इन्द्रिय-विशेष से नहीं होता अपितु इन्द्रिय-विशेष के विषय के साथ वर्तमान-कालिकता का ज्ञान हमें विशेषण के रूप में होता है। बिना वस्तु के शुद्ध काल का ज्ञान संभव नहीं है क्योंकि काल वस्तु के विशेषण के रूप में है और विशेषण का बिना विशेष्य के ज्ञान संभव ही नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि काल स्वतंत्र सत्ता नहीं है। काल दिक् की तरह एक और नित्य है और सभी उत्पाद्यमान वस्तु का जनक तथा गतिशील वस्तुओं का आश्रय है। यद्यपि काल का स्वतंत्र सत्ता के रूप में ज्ञान संभव नहीं है तथापि वस्तु में परिवर्तन तथा स्थिति के द्वारा काल का प्रत्यक्ष होता है। एक के बाद दूसरी वस्तु आती है, यह हम सभी देखते हैं। इस प्रत्यक्ष में हमें केवल वस्तु का ही ज्ञान नहीं होता अपितु 'एक के बाद' इसका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार 'वस्तु है', यह ज्ञान भी वस्तु के साथ वस्तु की वर्तमानकालिकता का ज्ञान साथ

लिए हुए है। परन्तु बौद्ध दर्शन के अनुसार, परिवर्तन के अतिरिक्त काल स्वतंत्र सत्ता नहीं है। परिवर्तन का ही नाम काल है। वस्तु के परिवर्तन का ही प्रत्यक्ष काल का प्रत्यक्ष है। काल का अलग से प्रत्यक्ष नहीं होता। सांख्य और वेदान्त में भी काल की वास्तविक सत्ता नहीं मानी गई है। जिसे हम काल कहते हैं वह हमारी बुद्धि की उपज है।

जाति के प्रत्यक्ष के बारे में पश्चिमी दर्शन में बड़ा विवाद है। भारतीय दर्शन में भी इस महत्वपूर्ण विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यह सारा विवाद जाति के स्वरूप पर आधारित है। जाति क्या है ? व्यक्ति का जाति से क्या संबन्ध है ? इन प्रश्नों के उत्तर के बिना जाति के प्रत्यक्ष के बारे में कुछ कहना कठिन है। हम विभिन्न आदमियों को एक नाम से बतलाते हैं। राम, श्याम, मोहन आदि व्यक्ति हैं परन्तु वे सभी किसी विशेष गुण-धर्म के कारण एक माने जाते हैं। इसी धर्म को मनुष्यत्व या मनुष्य जाति कहते हैं। बौद्ध दर्शन में व्यक्ति को ही सत्य माना गया है। व्यक्ति की परिभाषा है कि वह स्वलक्षण है-उसकी अपनी विशेषता अपने आप में दूसरे से भिन्न और अतुलीय है। अत: व्यक्ति से अलग जाति की सत्ता नहीं है। यदि कोई सत्य जाति होती तो व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी जाति का भी प्रत्यक्ष होता। परन्तु व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई जाति नहीं दिखाई देती। अत: जाति नहीं है, इसलिए जाति का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। जिसे हम जाति कहते हैं वह व्यवहार में सुविधा के लिए हमारी कल्पना के द्वारा दिया सामान्य शब्द मात्र है। अतएव जाति काल्पनिक है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा दर्शन में जाति को स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। द्रव्य, गुण तथा कर्म में जाति रहती है। यह सत्तारूप है। इसी कारण से गाय मनुष्य से भिन्न है, लाल पीत से भिन्न है तथा खाना लिखने से भिन्न है। यह जाति अनेक व्यक्तियों में रहती हुई भी एक है। व्यक्तियों के नाश से जाति का नाश नहीं होता। अतएव यह नित्य है। न्याय, वैशेषिक तथा प्रभाकरानुसारी मीमांसा दर्शन के अनुसार जाति तथा व्यक्ति में नित्य संबन्ध है, जिसे समवाय कहते हैं। भट्ट-मीमांसा के अनुसार इनका संबन्ध भेदाभेद संबन्ध है। जाति व्यक्ति से भिन्न है परन्तु व्यक्ति से अलग जाति का बोध न होने से वे दोनों अभिन्न हैं। जब हमें व्यक्ति (द्रव्य, गुण या कर्म) का प्रत्यक्ष होता है। वस्तु में समवाय संबन्ध से रहने वाली किसी अन्य वस्तु का संबन्ध एक ही इन्द्रिय से गृहीत होता है। जैन दर्शन में जाति का एक दूसरा ही रूप स्वीकृत हैं। हमें जाति का ज्ञान ही नहीं होता यदि जाति विषयगत न होती। अत: जाति सत्य है तथा विषय में रहती है। परन्तु जाति एक और नित्य सत्ता नहीं है। परन्तु एक वर्ग के व्यक्तियों में समानता दिखाई देती है। यही समानता जाति के ज्ञान का कारण है। समानता के अतिरिक्त कोई जाति नहीं है। समानता का प्रत्यक्ष होता है। रामानुज का सिद्धान्त जैनों से मिलता है।

भट्ट मीमांसा के अनुसार, बुद्धि के व्यापार का प्रत्यक्ष नहीं होता। हमें ज्ञान

होता है, इस ज्ञान से हम यह अनुमान करते हैं कि बुद्धि का व्यापार हुआ होगा। परन्तु यह व्यापार प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। परन्तु प्रभाकर मीमांसा के अनुसार बुद्धि का व्यापार स्वयं अपना भी प्रत्यक्ष करता है, जैसे कि आत्मा अपना तथा विषय का प्रत्यक्ष करता है। बुद्धि के व्यापार का ज्ञान करने के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि स्वयं प्रकाशक है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में भी बुद्धि के व्यापार का प्रत्यक्ष माना गया है। यह प्रत्यक्ष आन्तर प्रत्यक्ष है तथा मन के द्वारा इसका ज्ञान होता है। जैनों तथा बौद्धों (योगाचार) के अनुसार विषय का ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया में ही बुद्धि के व्यापार का भी प्रत्यक्ष हो जाता है, इसके लिए मन जैसे किसी अन्य तत्व की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह व्यापार प्रदीप की तरह अपना तथा दूसरों का प्रत्यक्ष स्वयं करता है। सांख्य में बुद्धि के व्यापार का ज्ञान पुरुष को होता है, बुद्धि को अपने व्यापार का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण बुद्धि जड़ है। अद्वैत वेदान्त में ज्ञान स्वयं-प्रकाश है, अत: उसका ज्ञान अपने आप ही हो जाता है। उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य ज्ञाता की आवश्यकता नहीं होती।

चार्वाक को छोड़ कर सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। किसी भी ज्ञान में एक ज्ञाता होता है और दूसरा ज्ञेय। ज्ञाता ज्ञेय के संबन्ध से ज्ञान होता है। चेतना या तो ज्ञाता का गुण है (न्याय-वैशेषिक) या उसका स्वरूप (सांख्य, वेदान्त)। बौद्ध दर्शन में आत्मा को नित्य तत्व नहीं माना गया है। आत्मा चेतना की धारा मात्र है। योगाचार दर्शन में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद विज्ञान के अन्तर्गत है। विज्ञान ही सत्य है; ज्ञाता और ज्ञेय इसी विज्ञान के परिणाम हैं। विज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, अतएव जो प्रत्यक्ष होता है वह वास्तव में विज्ञान का ही प्रत्यक्ष है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार शुद्ध आत्मा ब्रह्म है और यह ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान की त्रिपुटी से परे है। अविद्या या अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा जीव के रूप में आती है और यही जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप है ; ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है। आत्मा और ज्ञान में कोई भेद नहीं है परन्तु अज्ञानवश हम ज्ञान को ''आत्मा का ज्ञान'' कहते हैं। यह आत्मा तथा जीव भिन्न नहीं है। जाग्रत तथा स्वप्न की अवस्थाओं में तो संस्कारों के कारण जीव विषय का प्रत्यक्ष करता है परन्तु स्वप्नरहित निद्रावस्था में जीव सक्रिय नहीं होता, अतएव विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उस अवस्था में कोई ज्ञाता है ही नहीं। आदमी जब सोकर उठता है तो कहता है कि ''मैं सुख से सोया, कुछ मालूम नहीं हुआ।'' इस अनुभव से सिद्ध होता है कि यद्यपि विषय नहीं था परन्तु सुख का ज्ञान उस अवस्था में भी होता रहा। यह ज्ञान जीव के कारण नहीं होता, क्योंकि जीव बिना विषय के ज्ञाता हो ही नहीं सकता। सुख का यह ज्ञान आत्मा से होता है। निद्रावस्था में स्व-प्रकाश चैतन्य आत्मा

का प्रकाश वर्तमान रहता है। यह प्रकाश विषय तथा इन्द्रियों एवं अन्त:करणों के व्यापार से कलुषित नहीं रहता। अतएव वह शुद्ध आत्मा का ही प्रकाश है, जीव का नहीं आत्मा ज्ञान का विषय नहीं हो सकती क्योंकि सारे ज्ञान का यही मूल कारण है। यह सर्वदा ज्ञाता है, कभी ज्ञेय नहीं बनती। उपनिषदों में भी कहा गया है कि "अरे! ज्ञाता को कौन जान सकता ?" यदि आत्मा ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों हो तो आत्मा के दो भाग मानने पड़ेंगे, परन्तु आत्मा भागहीन एक तत्व है। इसलिए साधारण संसारी व्यक्ति को आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परन्तु साक्षात्कार के द्वारा योगी लोगों को समाधि में आत्मा का ज्ञान नहीं होता। परन्तु इस ज्ञान में भी आत्मा योगी के ज्ञान का विषय नहीं बनती। योगी अपने आप को आत्मा या ब्रह्म से एकाकार कर लेता है। अत: उसका ज्ञान "मैं आत्मा को जानता हूं" यह नहीं अपितु "मैं आत्मा (ब्रह्म) हूँ" यही होता है। अतएव आत्मा विषय के रूप में कभी नहीं जानी जा सकती। इसका ज्ञान जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य होने से शुद्ध ज्ञाता के रूप में ही होता है। सांख्य में भी ज्ञान को आत्मा (पुरुष) का स्वरूप माना गया है, अतएव वही ज्ञेय अथवा ज्ञान का विषय नहीं बन सकता। प्रकृति पुरुष से पृथक् है अतएव वही ज्ञेय हो सकती है। ज्ञाता या पुरुष का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं अपितु बुद्धि में पड़ते पुरुष के प्रतिबिंब के माध्यम से अनुमान द्वारा होता है। परन्तु योग दर्शन के अनुसार प्रातिभ ज्ञान के द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है। न्याय के अनुसार बुद्धि, सुख, दु:ख आदि आत्मा के गुण हैं। परन्तु मुक्तावस्था में इन गुणों का अभाव बतलाया गया है। परन्तु हमें वस्तु के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु अभाव के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष असंभव है। तब कैसे अभाव का प्रत्यक्ष होता है ? न्याय के अनुसार इसका प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्य भाव नामक छठे सन्निकर्ष से होता है। किसी वस्तु का अभाव किसी स्थान पर ही होगा, बिना आधार के अभाव संभव नहीं है। कमरे में आदमी नहीं है अत: कमरा आदमी के अभाव का आधार है। आदमी का अभाव कमरे का विशेषण है। कमरा विशेष्य है। कमरा भावरूप है अत: उसका प्रत्यक्ष तो हमें हो जाता है और उसी प्रत्यक्ष के माध्यम से कमरे के विशेषण "आदमी का न होना" का भी प्रत्यक्ष होता है। अत: सन्निकर्ष अभाव के प्रत्यक्ष के लिए भी माना गया है। किसी भी प्रकार का सामान्य प्रत्यक्ष इन छ: सन्निकर्षों पर ही आधारित है। इनसे बाहर कोई भी सामान्य प्रत्यक्ष नहीं होता। कुछ मीमांसक पहले तीन ही सन्निकर्ष मानते हैं। शब्द का प्रत्यक्ष करने के लिए अलग सन्निकर्षों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि शब्द, उनके मत में द्रव्य है, गुण नहीं। द्रव्य के कारण इसका प्रत्यक्ष संयोग से ही हो जाता है। भट्ट मीमांसा तथा वेदान्त में अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता। अभाव का ज्ञान एक अलग प्रमाण से होता है जिसे अनुपलब्धि कहते हैं। वेदान्त में समवाय संबंध नहीं माना गया है अत: संयुक्त समवाय आदि चार सन्निकर्षों के स्थान पर वे तादात्म्य संबन्ध मानते हैं।

प्रत्यक्ष के भेद

(1) सविकल्प और निर्विकल्प

जितनी इन्द्रियां हैं उतने ही प्रकार के प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु इनके अलावा भी भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष के भेद माने गए हैं। यहां हम इन भेदों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करेंगे।

प्राय: सभी प्रमुख दर्शनों में प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है : निर्विकल्प प्रत्यक्ष तथा सविकल्प प्रत्यक्ष। परन्तु इनके स्वरूप के बारे में दार्शनिकों में मतभेद है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार इन्द्रिय तथा विषय के सन्निकर्ष के बाद विषय के स्वरूपमात्र का ज्ञान होता है। इसी को निर्विकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रत्यक्ष में व्यक्ति तथा जाति दोनों का प्रत्यक्ष होता है परन्तु जाति और व्यक्ति का भेद स्पष्ट नहीं रहता। भेद-ज्ञान बाद में होता है। यह ज्ञान पूर्वज्ञान के कारण होता है, प्रत्यक्ष के कारण नहीं। भेद-ज्ञान को विकल्प कहते हैं, अत: यह जाति-व्यक्ति के भेद-ज्ञान से युक्त प्रत्यक्ष विषय के निर्विकल्प ज्ञान पर आधारित है। सविकल्प प्रत्यक्ष इसी निर्विकल्प प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान का विशेषण है। न्याय दर्शन में निर्विकल्प प्रत्यक्ष को नाम से रहित मानते हैं। जब पूर्वानुभव के स्मरण के कारण निर्विकल्प ज्ञान के विषय को नाम दे दिया जाता है तो वह सविकल्प हो जाता है। इन दोनों प्रत्यक्षों में विषय एक ही है। द्रव्य, गुण, कर्म, जाति का दोनों में प्रत्यक्ष होता है। भेद इतना ही है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष नाम के संबन्ध से रहित है और सविकल्प प्रत्यक्ष नाम-संयुक्त है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष सविकल्प प्रत्यक्ष से पहले होता है। यद्यपि हमें निर्विकल्प प्रत्यक्ष का ज्ञान नहीं होता तथापि निर्विकल्प के उत्पन्न होते ही आदत के कारण नाम का स्मरण होने से सविकल्प प्रत्यक्ष उत्पन्न हो जाता है। अत: शुद्ध निर्विकल्प ज्ञान-गोचर नहीं होता परन्तु वह सविकल्प की पृष्ठ-भूमि में वर्तमान रहता है। जब हमें कोई ऐसा नया विषय दिखाई देता है जिसका नाम पता नहीं है तो उसे हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष कह सकते हैं। नव्य न्याय के अधिष्ठाता गंगेश के अनुसार नाम, जाति आदि के संबन्ध से मुक्त विषय का प्रत्यक्ष निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है। विषय और उसकी जाति आदि का प्रत्यक्ष तो एक साथ ही होता है किन्तु हमें निर्विकल्पावस्था में उनके परस्पर संबन्ध का ज्ञान नहीं रहता। हम राम को देखते हैं और राम के मनुष्यत्व को देखते हैं लेकिन ''राम मनुष्य है'' यह ज्ञान हमें नहीं होता। इस ज्ञान को निर्विकल्प तथा जाति और व्यक्ति के संबन्ध-ज्ञान को सविकल्प कहते हैं। सविकल्प स-संबन्ध प्रत्यक्ष है, निर्विकल्प संबन्ध-रहित प्रत्यक्ष है। प्रभाकर मीमांसा में भी न्याय की तरह बतलाया गया है कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में जाति और व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष एकाकार है, उसमें जाति-व्यक्ति का भेद नहीं रहता। अतएव निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भेद-रहित ज्ञान होता है और सविकल्प प्रत्यक्ष में जाति-व्यक्ति का भेदरूपेण ज्ञान होता है। कुमारिल के

अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष वस्तुमात्र से उत्पन्न होता है। अत: निर्विकल्प प्रत्यक्ष केवल वस्तु का होता है और यह प्रत्यक्ष नवजात बालक के जैसा होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय वैयक्तिक तथा जातीय विशेषताओं का आधार है परन्तु प्रत्यक्ष करने वाला व्यक्ति वैयक्तिक विशेषता को वैयक्तिक तथा जातीय विशेषता को जातीय रूप में नहीं जानता। वह केवल इतना जानता है कि कुछ है। इससे अधिक विशेषताओं को स्पष्ट रूप से जानने के लिए सविकल्प प्रत्यक्ष काम आता है। सांख्य में भी निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष का भेद माना गया है। वस्तु को विशेषण-विशेष्य भेद के बिना एक रूप में देखना निर्विकल्प और उस वस्तु में क्या विशेषता है तथा वह विशेषता किसकी है, यह जानना सविकल्प प्रत्यक्ष है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष इन्द्रियों के व्यापार से होता है परन्तु सविकल्प प्रत्यक्ष में मन का संकल्प-विकल्प काम करता है। बौद्धों के अनुसार वास्तविक प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही होता है। प्रत्यक्ष में हम केवल वस्तु को, जैसी वह अपने आप में है (स्वलक्षण), देखते हैं। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, नाम आदि वस्तु में नहीं हैं, वस्तु इनसे विलक्षण है। निर्विकल्प में इसी वस्तु का जाति आदि के बिना प्रत्यक्ष होता है। जाति, नाम आदि हमारी कल्पना से प्रसूत हैं, वस्तु के अंग नहीं हैं। अतएव उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव प्रत्यक्ष निर्विकल्प ही है। सविकल्प प्रत्यक्ष कल्पना मात्र है। शंकर भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष को मानते हैं। निर्विकल्प प्रत्यक्ष का विषय केवल सत्ता है। इसमें घट, घटत्व आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि यदि हम वस्तु को 'घट' रूप में देखते हैं तो हमारी इन्द्रियां ही काम नहीं करतीं। यह काम मन आदि का है। अतएव सत्ता के अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान है वह सविकल्प प्रत्यक्ष से होता है। रामानुज के अनुसार विशेषण रहित सत्ता का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी हम विषय की विशेषताओं का प्रत्यक्ष करते हैं।

(2) अलौकिक या असाधारण प्रत्यक्ष

सामान्य प्रत्यक्ष, चाहे वह निर्विकल्प हो या सविकल्प, सन्निकर्ष पर आधारित है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। सामान्य प्रत्यक्ष के अलावा भी कुछ ऐसे प्रत्यक्ष होते हैं जिनमें यथार्थ रूप में सन्निकर्ष नहीं होता। उदाहरण के लिए गाय को देख कर हमें सारी गायों का ज्ञान हो जाता है, एक जगह धुएं को देखकर हमें सारे विश्व के भूत, भविष्य और वर्तमान धुएं का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में, किसी एक व्यक्ति में रहने वाली जाति का प्रत्यक्ष होने से उस जाति के सभी व्यक्तियों का भी हमें ज्ञान होता है। यह जाति तो दूसरे सन्निकर्ष (संयुक्त समवाय) से ज्ञात होती है तथा किसी जातिमान् का ज्ञान पहले सन्निकर्ष से होता है। लेकिन उस जाति के सभी व्यक्तियों का ज्ञान किसी सन्निकर्ष से संभव नहीं है, क्योंकि सभी व्यक्ति उपस्थित नहीं हैं। इस प्रत्यक्ष से इन्कार भी नहीं किया जा सकता, अत: नव्यन्याय के अनुसार यह प्रत्यक्ष एक अलौकिक या

असाधारण सन्निकर्ष पर आधारित है जिसे सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति कहते हैं। जो दार्शनिक जाति को मानते ही नहीं उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष होता ही नहीं। इसी तरह एक दूसरा भी प्रत्यक्ष होता है जिसमें हमें किसी इन्द्रिय-विशेष के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के अलावा अन्य इन्द्रिय के विषय का भी बिना उस इन्द्रिय-विशेष के सन्निकर्ष के ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ हम गुलाब के फूल को दूर से देखकर कहते हैं कि "यह फूल सुगंधि वाला है।" हमारी आंख से तो फूल का सन्निकर्ष है परन्तु नाक से फूल के गंध का सन्निकर्ष नहीं है, फिर भी हम फूल के साथ उसके गंध का भी प्रत्यक्ष करते हैं। नव्य-न्याय में इसे दूसरा अलौकिक सन्निकर्ष माना गया है और इसे ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति नाम दिया गया है। प्राचीन नैयायिकों ने यद्यपि इस सन्निकर्ष को नहीं माना है तथापि उनका कहना है कि सुगंधित फूल का देखना एक ही ज्ञान है। सुगंधि तथा फूल इन दोनों प्रत्यक्षों से मिलकर यह नहीं बना है। फूल का प्रत्यक्ष आंख से होता है, सुगंधि का प्रत्यक्ष नाक से होता है। वर्तमान उदाहरण में केवल आंख से प्रत्यक्ष हो रहा है, तथापि सुगंधि का स्मरण होता है और स्मृत सुगंधि एवं दृष्ट फूल इन दोनों का एकाकार अविभाज्य प्रत्यक्ष मन के द्वारा होता है। अत: यह प्रत्यक्ष है लेकिन इसकी गणना मानस प्रत्यक्ष में होनी चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार यह ज्ञान मिश्र है क्योंकि स्मृत सुगंधि तथा दृष्ट फूल दोनों सम्मिलित रूप से इस के विषय बनते हैं। यह शुद्ध प्रत्यक्ष से उत्पन्न नहीं होता। वेदान्त भी ज्ञानलक्षण को प्रत्यक्ष तथा स्मरण इन दो अंशों से युक्त ज्ञान मानता।

(3) योगज प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष के भेदों की चर्चा योगज प्रत्यक्ष की चर्चा के बिना अधूरी है। चार्वाक और मीमांसा को छोड़कर बाकी सभी भारतीय दर्शन इस प्रत्यक्ष को स्वीकार करते हैं। योगज प्रत्यक्ष योगी के ज्ञान में होता है - इसमें अतीत, अनागत तथा वर्तमान विषयों का ज्ञान बिना विषय-इन्द्रिय सन्निकर्ष के होता है। अतएव यह सामान्य प्रत्यक्ष से भिन्न है। इस प्रत्यक्ष को प्राप्त करने के लिए योग के मार्ग का अवलंबन करना पड़ता है। समाधि के अंगों का अभ्यास किये बिना योगज प्रत्यक्ष असंभव है। इसको असामान्य प्रत्यक्ष की श्रेणी में नहीं गिनते, क्योंकि असामान्य प्रत्यक्ष इन्द्रिय आदि में दोष उत्पन्न होने के कारण होता है, परन्तु योगज प्रत्यक्ष समाधिजनित शक्ति के कारण होता है। यहां स्थानाभाव के कारण हम समाधि की चर्चा नहीं करेंगे। विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत योगज प्रत्यक्ष के स्वरूप तथा उसके भेदों की एक रूप-रेखा प्रस्तुत करना ही यहां संभव है।

नव्य-न्याय के अनुसार योगज प्रत्यक्ष भी एक तीसरे अलौकिक सन्निकर्ष के कारण होती है। योगी हाथ में रखे फल की तरह सारे विश्व को जानता है। उसका यह ज्ञान हमारे सामान्य प्रत्यक्ष से विलक्षण है, परन्तु है यह प्रत्यक्ष ही। इस प्रत्यक्ष का कारण

इन्द्रियां नहीं है क्योंकि अतीत और अनागत विषयों के साथ सन्निकर्ष संभव नहीं है। अतएव योगज प्रत्यक्ष एक अलौकिक सन्निकर्ष की देन है। प्राचीन न्याय में योगज प्रत्यक्ष को अलौकिक सन्निकर्ष नहीं माना गया है परन्तु यह कहा गया है कि योग के द्वारा मनुष्य की बुद्धि पूर्णता को प्राप्त हो जाती है। जैसे व्यायाम आदि के द्वारा शरीर के अवयवों का विकास होता है उसी तरह योग के द्वारा बुद्धि का विकास होता है। पूर्ण विकसित बुद्धि सर्वज्ञता का चिह्न है। अतएव योगज प्रत्यक्ष सन्निकर्ष पर आधारित नहीं अपितु मानस प्रत्यक्ष है। मीमांसकों ने योगज प्रत्यक्ष का खंडन करते हुए कहा है कि योगज प्रत्यक्ष इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं होता। यह शुद्ध मानस प्रत्यक्ष भी नहीं है, क्योंकि तब तो योगज प्रत्यक्ष और कल्पना में कोई भेद नहीं रहेगा। यदि प्रत्यक्ष के लिए मन इन्द्रियों पर आधारित न हो तो अंधे को भी रंग का प्रत्यक्ष होना चाहिए। यह भी कहा गया है कि योग में इन्द्रियां विषय के सन्निकर्ष के बिना ही विषय का ज्ञान कर लेती हैं। परन्तु मीमांसा के अनुसार यह भी संभव ही नहीं है। बिना सन्निकर्ष के, कितनी भी पूर्ण इन्द्रिय क्यों न हो, प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। यदि संभव मान भी लें तो योगज प्रत्यक्ष तथा भ्रम में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। अत: मीमांसा के अनुसार सर्वज्ञता तथा उसका साधन योगज प्रत्यक्ष दोनों संभव नहीं हैं। सांख्य तथा योग दर्शनों के अनुसार कार्य-करण में वर्तमान रहता है अत: कोई वस्तु नयी नहीं है। कारण अव्यक्त अवस्था है और कार्य उसी वस्तु की व्यक्तावस्था। अतएव योग के द्वारा जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और व्यक्ति समाधि में स्थित होता है तो वह सारे विश्व का प्रत्यक्ष कर सकता है। कारण यह है कि अतीत वस्तु एकदम से नष्ट नहीं होती तथा अनागत कुछ नया नहीं है।[1] सब कुछ वर्तमान है परन्तु उस वर्तमान को देखने की दृष्टि सबके पास नहीं है। यह दृष्टि योग से मिलती है अत: योगी अतीत तथा अनागत को वर्तमान की तरह ही देखता है। वेदान्त तथा बौद्ध दर्शनों में भी योगज प्रत्यक्ष को माना गया है। परन्तु उनका योग-मार्ग के बारे में विचार तथा योग की प्रक्रिया भिन्न हैं। जैन दर्शन के अनुसार योगज प्रत्यक्ष सीधा आत्मा के द्वारा होता है। इसमें इन्द्रिय तथा मन का कोई स्थान नहीं है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त ज्ञान से युक्त है परन्तु उसकी अनन्तता कर्म के मल के कारण सीमित हो गई है। योग से कर्म के मल का क्षय हो जाने पर आत्मा अपने असली रूप में आ जाती है, अत: योगी सर्वज्ञ हो जाता है। योगज प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है :- पहले प्रकार के योगज प्रत्यक्ष को विकल प्रत्यक्ष कहते हैं जो अधूरा प्रत्यक्ष है और इसके दो भेद होते हैं - (1) अवधि और (2) मन:पर्याय। देश और काल की दूरी होने पर भी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, अतएव योगी एक जगह बैठे दूर-दूर की बातें जान लेता है तथा बतला सकता है कि भूतकाल में क्या हुआ था तथा भविष्य में क्या होगा। इसको अवधि ज्ञान कहते हैं। दूसरे व्यक्ति के मन की बात जान

लेना मन:पर्याय से होता है। दूसरा योगज प्रत्यक्ष सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। इसे केवल-ज्ञान भी कहते हैं। कर्म-मल का पूर्ण क्षय हो जाने पर आत्मा अनन्तज्ञान से युक्त हो जाती है। इस आत्मा का ज्ञान केवल-ज्ञान कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञा, स्मृति और कल्पना

प्रत्यभिज्ञा :- किसी पूर्वानुभूत वस्तु को देख कर पहचानना कि "यह वही है" प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में भूतकाल में अनुभूत वस्तु का स्मरण होता है और वर्तमान काल में उसका प्रत्यक्ष होता है। भूत और वर्तमान दोनों अनुभवों को मिलाकर हमें एक नवीन अनुभव प्राप्त होता है। जो न तो केवल स्मरण से मिल सकता है और न ही केवल प्रत्यक्ष से। यह प्रत्यक्ष तथा स्मरण दोनों का विचित्र सा सम्मिश्रण है। न्याय के अनुसार यह स्मरण अविभाज्य ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का ही एक रूप है, परन्तु यह साधारण प्रत्यक्ष से भिन्न है क्योंकि पूर्वानुभव इस प्रत्यक्ष का विशेषण है। इस प्रत्यभिज्ञा में वर्तमान वस्तु को भूत अनुभव के विशेषण से विशेषित देखते हैं। वस्तु तो एक ही है, जो पहले था वही वर्तमान में है। भेद केवल काल के कारण हैं। पहले का अनुभव भूतकाल में था, अब उसी का वर्तमान में अनुभव हो रहा है। अत: वर्तमान में हमें कुछ नया नहीं दिखाई दे रहा है, केवल उस वस्तु के भूतकालिक अनुभव का स्मरण होता है। इसी स्मरण को जब हम वर्तमान प्रत्यक्ष के साथ अविभाज्य रूप में जोड़ देते हैं तो हमें प्रत्यभिज्ञा मिलती है। इस अनुभव को हम भूत और वर्तमान अनुभवों में विभाजित नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में केवल दो ही अनुभव नहीं हैं। इन अनुभवों के तादात्म्य का भी ज्ञान निहित हैं। अत: एक ही वस्तु के भूत और वर्तमान अनुभवों को एक समझना प्रत्यभिज्ञा है। यह प्रत्यभिज्ञा मूलत: प्रत्यक्ष है। मीमांसा और वेदान्त में भी प्रत्यभिज्ञा का यही स्वरूप माना गया है। बौद्ध दर्शन में प्रत्यभिज्ञा वर्तमान अनुभव तथा भूत अनुभव के स्मरण का सम्मिश्रण मात्र है। अत: प्रत्यभिज्ञा को हम दो अनुभवों में विभाजित कर सकते हैं। इसमें तादात्म्य का ज्ञान भ्रम मात्र है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्यभिज्ञा एक अपूर्व ज्ञान है। यह प्रत्यक्ष और स्मरण का विभाज्य या अविभाज्य सम्मिश्रण नहीं हो सकता क्योंकि तादात्म्य-ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से होता है और न स्मरण से। तादात्म्य ही प्रत्यभिज्ञा का मूल है। अत: तादात्म्य ज्ञान उत्पन्न करने वाली स्वतंत्र प्रत्यभिज्ञा को मानना पड़ेगा।

स्मृति :- स्मृति के बारे में सभी दार्शनिक एक मत से स्वीकार करते हैं कि स्मरण पूर्वानुभव को याद करने से होता है। बौद्धों और अन्य दार्शनिकों में केवल इतना ही भेद है कि बौद्ध लोग आत्मा की एकता को नहीं मानते, अत: आत्मा का तादात्म्य उनके अनुसार स्मृति का कारण नहीं है जबकि दूसरे दार्शनिक इसको स्मृति की एक आवश्यक शर्त मानते हैं। (यहां हम कुछ ऐसी बातें ही स्मरण के बारे में कहेंगे जो सभी

दर्शनों में प्राप्त हैं)। स्मृति के लिए भूतकाल में अनुभव हुआ होना चाहिए। उस अनुभव रूप में हमारे मन में संस्कार उत्पन्न होता है। संस्कार का ज्ञान नहीं होता, यह अनुबद्ध रूप में हमारे मन में पड़ा रहता है और जब कभी कोई इसका उद्बोधक कारण उपस्थित होता है तो वह संस्कार जाग जाता है। उद्बुद्ध संस्कार के कारण जब पूर्वानुभव का ज्ञान होता है तो ज्ञाता यह समझाता है कि "उसको ही भूतकाल में ऐसा अनुभव हुआ था।" जिस व्यक्ति को पूर्वानुभव हो उसी में संस्कार निहित होने चाहिए और उद्बुद्ध संस्कार के कारण उसी व्यक्ति को स्मरण होना चाहिए। अत: स्मरण के लिए आत्मा की एकता आवश्यक है। स्मृति को संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान कहा जाता है क्योंकि स्मृति के लिए वर्तमान में किसी प्रत्यक्ष आदि की आवश्यकता नहीं होती। केवल संस्कार की धारणा स्मृति का मूल कारण है। इसीलिए स्मृति प्रत्यभिज्ञा से भिन्न है; प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्ष होता है और उसके पूर्वानुभव का स्मरण भी होता है परन्तु स्मृति में विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। बौद्धों के दर्शन में एक आत्मा नहीं है। तथाकथित आत्मा विज्ञान की धारा है। एक विज्ञान अपने संस्कारों को दूसरे विज्ञान में निहित कर के' नष्ट हो जाता है। अत: आत्मा की एकता न होने पर भी विज्ञान-धारा की एकता (संतति नित्यता) मानी गयी है, जिससे स्मृति संभव है।

आत्मा से संस्कारों के मिट जाने से स्मृति संभव नहीं होती। वैसी स्थिति को विस्मृति या भूलना कहते हैं। विस्मृति के कई कारण हो सकते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं। 1. काल - बहुत दिनों के बाद संस्कार नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि बहुत पुरानी बातें याद नहीं रहतीं। 2. रोग से भी मन की धारणा-शक्ति क्षीण हो जाती है जिससे स्मृति कम हो जाती है। 3. विपरीत ज्ञान से स्मृति नष्ट हो जाती है। क को ख समझने वाले आदमी को बतला दिया जाए कि वास्तव में क ख नहीं है तो क को ख समझने का उसका संस्कार नष्ट हो जाएगा। अति सुख, अति दु:ख, मादक द्रव्यों का सेवन, क्रोध, तथा चित्त का अन्यत्र लगा होना आदि भी विस्मृति के कारण हैं।

कल्पना :- स्मृति के लिए पूर्वानुभव का होना आवश्यक है। जितना पूर्वानुभव है उतना या उतने से कम की स्मृति होती है परन्तु स्मृति कभी पूर्वानुभव की सीमा का अतिक्रमण नहीं करती। जिसका अनुभव नहीं है उसका स्मरण नहीं हो सकता। साथ ही स्मरण में एक क्रम का भी ज्ञान रहता है। किसी कविता का जब हम स्मरण करते हैं तो हमें कविता की पंक्तियाँ उसी क्रम में याद आती हैं जिस क्रम में हमने उन्हें पढ़ी थीं। कल्पना में यह सब कुछ भी नहीं होता। हम ऐसी वस्तुओं की कल्पना करने में स्वतंत्र हैं जिनको हमने कभी नहीं देखा। अत: इसमें कुछ याद करने की आवश्यकता नहीं है और न तो किसी क्रम की आवश्यकता है। कल्पना भूत के अनुभव के बंधन से परे स्वच्छंद मानसिक क्रिया है। फिर भी कल्पना एक दम मौलिक क्रिया नहीं है। कल्पना का मूल

हमारा अनुभव है। अनुभव में प्राप्त ज्ञान को ही हम विभिन्न क्रमों में सजाकर नई नई कल्पना करते हैं। परन्तु जब कल्पना का विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि उसके अंग अनुभूत हैं, उनका क्रम नया है। योग दर्शन में ऐसा ज्ञान जो शब्द में व्यक्त हो सकता है परन्तु वस्तु से रहित है[1] विकल्प कहलाता है। उदाहरण के लिए वन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि ऐसे शब्द हैं जो वस्तु से रहित हैं फिर भी इन शब्दों से कुछ ज्ञान होता है। इन शब्दों का प्रयोग करने वाला आकाश और कुसुम इन दो पूर्वानुभूत वस्तुओं को एकत्र कर देता है। यह आकाश और कुसुम का संबन्ध केवल काल्पनिक है। परन्तु आकाश और कुसुम अलग अलग सत्य हैं।

दूषित प्रत्यक्ष

(1) भ्रम - भ्रम के अनेक सिद्धान्त भारतीय दर्शन में प्रतिपादित हैं। उनकी चर्चा करने का यहां अवकाश नहीं है। हम केवल भ्रम के सामान्य रूप तथा उसके कारणों की चर्चा ही यहां प्रस्तुत कर सकेंगे।

प्रत्यक्ष के बारे में अब तक जो कुछ कहा गया है वह सत् प्रत्यक्ष से ही संबंधित है। सत् प्रत्यक्ष के अलावा कुछ ऐसे भी प्रत्यक्ष होते हैं जिन्हें हम भ्रान्त प्रत्यक्ष या भ्रम कहते हैं। भ्रम दो प्रकार का होता है। पहले प्रकार के भ्रम में वस्तु जैसी अनुभूत हो रही है उसको हम वैसा ही समझते हैं। पित्त की अधिकता के कारण पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति शंख को पीला देखता है और उसे पीला ही समझता है। इस भ्रम में हमारी बुद्धि का योग नहीं है। इस प्रकार के भ्रम को अनुभूयमानारोप कहते हैं। दूसरे प्रकार के भ्रम में हम प्रत्यक्ष उपस्थित वस्तु पर स्मरण से प्राप्त वस्तु का आरोप करते हैं। रस्सी को देख कर हमें सांप का भ्रम होता है। यहां रस्सी का आंख से सन्निकर्ष होता है परन्तु रस्सी की समानता आदि के कारण हमें सांप का स्मरण हो जाता है और हम स्मरण से प्राप्त सांप को प्रत्यक्ष से प्राप्त रस्सी में आरोपित करके रस्सी को ही सांप के रूप में देखते हैं। इस प्रकार के भ्रम में हमारी बुद्धि सक्रिय रहती है। इसको स्मर्यमाणारोप कहते हैं। इसी प्रकार भ्रम के दो और भेद होते हैं। इन्द्रियज भ्रम में इन्द्रिय से प्राप्त विषयों के बारे में हमें भ्रम होता है, जैसे शंख को पीला समझना या रस्सी को सांप समझना। मानस भ्रम दूसरे प्रकार का भ्रम है जिसमें कोई विषय उपस्थित नहीं रहता, फिर भी हम उसको देखते हैं। जैसे किसी प्रेमी के विरह में व्याकुल व्यक्ति कभी-कभी भ्रमवशात् प्रेमी को अपने सामने खड़ा देखता है। इन्द्रियज भ्रम या तो इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न होता है जैसे-पीला शंख या विषय के विकार से उत्पन्न होता है (जैसे स्पष्ट प्रकाश के अभाव में रस्सी को सांप समझना)। मानस भ्रम के अनेक कारण हो सकते हैं। दो वस्तुओं की सदृशता, काम, शोक, निद्रा, चिन्ता आदि के कारण मानस भ्रम उत्पन्न होता है। भ्रम वह दूषित प्रत्यक्ष है जो (1) विषय में दोष होने के कारण उत्पन्न होता है - जैसे रस्सी में सांप का भ्रम; (2) बाह्य आश्रय में दोष होने के कारण उत्पन्न होता है - जैसे चलती गाड़ी में बैठा

व्यक्ति खड़ी गाड़ी को चलती देखता है; (3) माध्यम में दोष से भी भ्रम उत्पन्न होता है - जैसे अस्पष्ट प्रकाश में खंभे को आदमी समझना। (4) रोग आदि के कारण इन्द्रिय में दोष उत्पन्न होने से भी भ्रम होता है, जैसे पीलिया के रोगी को वस्तुएं पीली दिखाई देती हैं। (5) कुछ भ्रम अन्त:करण के दोष के कारण भी उत्पन्न होते हैं - जैसी प्रेमी प्रेमिका को अपने सामने देखता है।

सभी प्रकार के भ्रमों में कुछ बातें समान रूप से मिलती हैं। भ्रम में दो भिन्न वस्तुओं को एक मान लिया जाता है। पीलापन शंख का गुण नहीं है फिर भी शंख पीला दिखाई देता है। रस्सी और सांप दो भिन्न वस्तुएं हैं पर रस्सी को ही सांप समझ लिया जाता है। सभी भ्रम जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा समझने से होते हैं। भ्रम में दो वस्तुओं में से एक वस्तु सत् होती है और दूसरी असत्। रस्सी सत् है परन्तु सांप असत् है। सत् वस्तु को हम नहीं देखते; उसकी जगह हमें असत् वस्तु ही दिखाई देती है। सत् का निषेध (आवरण) और उसकी जगह असत् का विधान (विक्षेप) इन्द्रियज भ्रम की सबसे बड़ी विशेषता है। असत् वस्तु का स्मरण होता है और स्मृत वस्तु को हम बाह्य जगत् में स्थित समझते हैं।

यह स्मरण इन्द्रिय के सन्निकर्ष में स्थित वस्तु की सदृशता के कारण ही होता है। यदि रस्सी ढेढ़ी-मेढ़ी है तो उसकी सहायता से हमें सांप का ही स्मरण होगा और हम रस्सी को सांप ही समझेंगे, मेज़ नहीं। अतएव शंकराचार्य भ्रम को स्मृतिरूप मानते हैं। इस प्रकार का इन्द्रियज भ्रम बिना किसी आधार के नहीं होता। मानस भ्रम में आधार की आवश्यता नहीं होती। इसमें स्मृत वस्तु को बाह्य जगत में देखा जाता है अतएव यह भ्रम इन्द्रियज भ्रम से भिन्न है। आधुनिक मनोविज्ञान में इसे हैलुसिनेशन कहते हैं।

योगाचार बौद्ध दर्शन के अनुसार बाह्य कुछ भी नहीं है, सब कुछ विज्ञान में ही रहता है। अतएव विज्ञान में स्थित वस्तु को बाह्य जगत् में स्थित समझना ही भ्रम का कारण है। माध्यमिक बौद्ध दर्शन किसी भावात्मक वस्तु की सत्ता नहीं मानता, अत: उसके अनुसार असत् को सत् समझना भ्रम है। विज्ञानवादी भ्रम का सिद्धान्त आत्मख्याति और माध्यमिक सिद्धान्त असत्ख्याति कहलाता है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार भ्रम स्मृत तथा अनुभूयमान विषयों में भेद या विवेक न करने के कारण उत्पन्न होता है अत: उसके सिद्धान्त को विवेकाख्याति कहते हैं। न्याय के अनुसार अनुभूत विषय को अन्यथा (स्मृत विषय के रूप में) समझना भ्रम का मूल है, अत: उसका सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है। अद्वैत वेदान्त का भ्रम-सिद्धान्त अनिर्वचीयख्यातिवाद कहलाता है। अन्यथाख्यति के अनुसार भ्रम का विषय तो इदम् अर्थात् रस्सी है और वह सत् है परन्तु वेदान्त के अनुसार भ्रम का विषय सर्प है और वह न तो सत् है, क्योंकि उसका बाध होता है, और न असत् है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष होता

है। अत: विषय सत् या असत् रूप में नहीं बतलाया जा सकता, इसलिए वह अनिर्वचनीय कहलाता है। रामानुजाचार्य का सिद्धान्त सत्ख्यातिवाद कहलाता है। इसके अनुसार भ्रम में कुछ असत् नहीं है। सीप को देख कर चांदी का ज्ञान होता है, इसका अर्थ यह है कि सीप में चांदी किसी न किसी रूप में वर्तमान है।

(2) स्वप्न :- जब निद्रा के कारण बाह्य इन्द्रियां निश्चेष्ट हो जाती हैं और मन इन्द्रियों के द्वारा आकुलित नहीं होता तो स्वप्न उत्पन्न होता है। पूर्व के अनुभवों का संस्कार मन पर पड़ा रहता है और वे ही संस्कार निद्रा के कारण शिथिल हुए मन में उद्‌बुद्ध होते हैं। इन संस्कारों में अनुभव के जैसा ही क्रम नहीं होता। बिना क्रम के उनका आविर्भाव होने के कारण हम स्वप्न को नई चीज़ समझते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। इन संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने पर मन उनको अपने से बाहर आरोपित करता है और इसी कारण से स्वप्न में विषय की अनुभूति सी मालूम होती है। वास्तव में स्वप्न में जो विषय दिखाई देते हैं वे सत्य नहीं हैं परन्तु न्याय के अनुसार हमारा मन उन विषयों का मानस प्रत्यक्ष करता है। वेदान्त के अनुसार स्वप्न स्मृतिरूप हैं; स्मृत संस्कारों को हम स्वप्न में देखते हैं। स्वप्न के विषय देश और काल के नियमों में नहीं बंधे होते इसीलिए वे असत् हैं। परन्तु जब तक स्वप्न रहता है तब तक स्वप्न में सत्यता का आभास होता है। प्रभाकर मीमांसा के अनुसार यद्यपि स्वप्न पूर्वानुभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होता है तथापि हमें स्मरण की क्रिया का ज्ञान नहीं होता। स्वप्न स्मृति से उत्पन्न होता है परन्तु उसको हम स्मरण न समझ कर अनुभव समझते हैं (स्मृतिप्रमोष)। सभी दार्शनिक स्वप्न को पूर्वानुभव के संस्कारों पर आधारित मानते हैं।

स्वप्न भी एक प्रकार का भ्रम है। इन्द्रियज भ्रम में तो किसी विषय के साथ सन्निकर्ष होता है परन्तु मानस भ्रम और स्वप्न दोनों में यह बात समानरूप से मिलती है कि ये दोनों इन्द्रिय-व्यापार पर आधारित नहीं हैं। भेद केवल इतना ही है कि स्वप्न निद्रावस्था में होता है जबकि मानस भ्रम जाग्रत अवस्था में।

स्वप्न के अनेक कारण हो सकते हैं। वात, पित्त तथा कफ इन तीन धातुओं के दोष से कुछ स्वप्न उत्पन्न होते हैं। किसी तीव्र इच्छा के कारण स्वप्न में इच्छित वस्तु दिखलाई देती है। धर्म और अधर्म के कारण भी कुछ स्वप्न होते हैं। कुछ स्वप्न ऐसे हैं जिनसे भविष्य की सूचना मिलती है। ये स्वप्न अदृष्ट के कारण होते हैं। आधुनिक फ्रायडवादी मनोविश्लेषण शास्त्र की तरह ही भारतीय दर्शन में मन के अवचेतन भाग की कल्पना की गई है जिसे संस्कार कहते हैं। सारे स्वप्न इसी संस्कार की देन हैं। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान की पद्धति विश्लेषणात्मक एवं प्रयोगात्मक है; भारतीय दर्शन की पद्धति अन्तर्दर्शन है।

(3) असामान्य प्रत्यक्ष :- इन्द्रियों में वात, पित्त या कफ के दोष के कारण दोष आ जाते हैं जिससे इन्द्रियां अपने कार्य को ठीक-ठीक नहीं कर पातीं। इसी से उन इन्द्रियों से या तो प्रत्यक्ष ही नहीं होता और यदि प्रत्यक्ष होता है तो न्यून या अधिक होता है, या विपरीत ढंग से होता है। विभिन्न इन्द्रियों के दोष तथा उनके कारणों की विस्तारपूर्वक चर्चा चरक में मिलती है। यहां हमारा उद्देश्य केवल इतना ही बताना है कि भारतीय दर्शन में इन्द्रिय-रोगों की चर्चा है, और उन रोगों का प्रत्यक्ष पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसका विवेचन भी है।

संदर्भ -

इन निबंध में निम्नलिखित पुस्तकों से सहायता ली गई है :-

1. *Indian Psychology, Vol. I - Jadunath Sinha, Calcutta, 1958.*
2. *Indian Philosophy, Vols. I & II - S. Radhakrishnan.*
3. *Buddhist Psychology - Mrs. Rhys Davids.*
4. *Compendium of Philosophy - Aung & Rhys Davids.*
5. *Hindu Psychology - Akhilananda.*
6. *न्याय सिद्धांत मुक्तावली*
7. *सांख्यकारिका - ईश्वरकृष्ण*
8. *सांख्यतत्व कौमुदी - वाचस्पति मिश्र*
9. *योगसूत्र -व्यासभाष्य*
10. *सांख्यप्रवचन भाष्य - विज्ञानभिक्षु*
11. *वेदान्तपरिभाषा - धर्मराजाध्वरीन्द्र*
12. *शास्त्रदीपिका - पार्थसारथि मिश्र*
13. *श्लोकवार्तिक - कुमारिल भट्ट*
14. *न्यायमंजरी - जयन्त - भट्ट*
15. *प्रकरणयंचिका - शालिकनाथ*
16. *प्रशस्तपादभाष्य श्रीधर*
17. *भाट्टचिन्तामणि - गागा भट्ट*
18. *तत्त्व संग्रह - शान्तरक्षित*
19. *न्यायबिन्दु - धर्मकीर्ति*
20. *प्रमाणमीमांसा-हेमचन्द्र*

11

भारत और मनोविश्लेषण का जोखिम

लक्ष्मी कपानी एवं फ्रांसुआ शेने

स्त्रीत्व को व्यापक रूप से प्राथमिकता देने के कारण, जो उसे शक्ति का आधान भी बनाता है, भारत, जैसा कि एक नए ग्रंथ [1] में संकेत किया गया है, ''माँ के अन्तिम गढ़ों में से एक गढ़ सिद्ध होता है।'' अपनी विधिक शासन प्रणाली के बावजूद भी, यदि वास्तव में कोई ''मातृसत्तात्मक'' संस्कृति है तो वह निश्चय ही भारत की है, जिसमें स्नेहिल सम्मोहन का अंश, सभी तरह के जीवन और सब प्रकार की जैविक अंतरंगता, माता-शिशु के प्रेम के भावप्रवण सहजीवन से परिपुष्ट है। ऐसे निरपेक्ष प्रेम का एक चमत्कार, करोड़ों माताओं के द्वारा जो मनोहर सहृदय सुरक्षा प्रदान करती हैं, एक नैसर्गिक प्रशांति के साथ मूर्तिमान हो, भारतीय आत्मा में आजीवन स्थापित रहता है। हिन्दू व्यक्तित्व की विशेषताएं तथा इसकी संस्कृति की मुख्य विषयवस्तु इसी केन्द्र के इर्द-गिर्द संगठित और नियमित है, जिसमें विलक्षण सामंजस्य विद्यमान है। चूँकि उसकी रचना इस ''द्वैध एकता'' के साथ शुरू होती है, इसलिए हिन्दू व्यक्तित्व में विलयन-पृथक्करण के ध्रुव आवश्यक हो जाते हैं।[2] यही सुधीर कक्कड की केन्द्रीय अवधारणा है, जिन्होंने हिन्दू व्यक्तियों के नैदानिक मनोविश्लेषणों तथा सामूहिक कल्पना (लोक संस्कृति तथा मिथकों) के नैदानिक मनोविश्लेषणों तथा सामूहिक कल्पना (लोक संस्कृति तथा मिथकों) के अवदान के परिणामों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकाले हैं और व्यक्ति के विकास में सर्वोच्च आदर्श (मोक्ष) के स्रोत को आरंभिक बाल्यावस्था में विशेषत: ''अच्छी माता'' की वरद् उपस्थिति को पाने की उत्कट अचेतन इच्छा में ढूंढ निकालने का दावा किया है।[3]

अत: मनोविश्लेषण में रुचि रखने वाले भारतीय दृष्टि के दार्शनिक के लिए यह प्रश्न समीचीन है कि क्या मनोविश्लेषणात्मक विधि और भारतीय संस्कृति के बीच सेतु निर्माण संभव तथा उचित है ?

उपरोक्त व्याख्या के औचित्य का प्रतिप्रमाण मनोविश्लेषणात्मक नृविज्ञान के समर्थकों यथा ए. कार्डिनर तथा आर. लिन्टन ने प्रस्तुत किया है। आइए पहले कार्डिनर के अन्वेषण पर विचार करें। अलोर द्वीप (सुन्डा द्वीप) की संस्कृति में बाल्यकालीन अनुभव और व्यवहार के मॉडलों के बीच सम्बंधों का विश्लेषण करते हुए कार्डिनर ने यह पाया कि अलोरी बच्चे, माता द्वारा खेतों में काम किए जाने के कारण परित्यक्त से रहते हैं और स्तनपान से वंचित रहते हैं। ये बच्चे अपनी समस्त कुंठाओं को सारी दुनियां पर प्रक्षेपित करने को उद्यत रहते हैं। संक्षेप में अलोरी बच्चों के लिए माता का संप्रत्यय केवल एक विशिष्ट अर्थ रख सकता है वह है अस्वीकृति। बच्चे को जिस अनुशासन में रखा गया, भोजन और आरंभिक शिक्षा के नियमों और उसके पालन पोषण में समय का कभी भी ख्याल नहीं रखा गया विश्व के प्रति दृष्टिकोण इस सीमा तक रंग जाता है कि वह भविष्य में कभी मातृ देवी (ईसाई मेडोना) की आराधना करेगा यह अकल्पनीय हो जाता है।[4] यह ऐसा है मानों ''प्राथमिक संस्थाएं'' (बच्चे की प्राप्त या अप्राप्त देख रेख, भोजन, दूध छुड़ाना, आधारभूत अनुशासन, विस्तृत परिवार की स्थिति आदि) ''द्वितीयक संस्थाओं (लोक वार्ता, मिथक तथा धर्म और यहां तक कि चिंतन प्रक्रियाएं) पर विस्तार पा जाती हैं। सुधीर कक्कड़ यह सुझाव देते हैं कि भारत में सम्मोहक प्रक्षेपण की सार्वभौमिकता तथा मिथकीय काव्यात्मक उर्वरता प्राथमिक प्रकार की चिंतन प्रक्रियाओं के सांस्कृतिक महत्व के कारण है।[5]

माता-शिशु सहजीवन

दूसरी ओर, हिन्दू मानस में दीर्घकालिक माता-शिशु सह जीवन की अचेतन छाप इतनी प्रगाढ़ है कि हिन्दू धार्मिकता स्वाभाविक रूप से मातृ प्रतिमा की ओर आकृष्ट है, यहां तक कि ईश्वरीय आकांक्षा भारत में महती माता की पूजा के विविध रूपों में अभिव्यक्त है। अत: यह आश्चर्यजनक नहीं है कि विवेकानंद, जिनके ''पुरुषप्रधान व्यक्तिपरक द्वन्द्व'' को लेखक ने बड़ी सूझबूझ के साथ रेखांकित किया है, उपने शिष्य के अनुसार जब वे यूरोप में भ्रमण कर रहे थे तो स्विटजरलैंड में एक छोटे पहाड़ी चैपल में पवित्र कुमारी के बुत के सामने उन्होंने यह कहते हुए पुष्प चढ़ाए कि ''यह भी माता है।'' जैसा कि **ललिता-सहस्रनाम** प्रदर्शित करता है, किसी भी संस्कृति ने दैवी माता के लिए उद्धारक भूमिका को इतना बृहदरूप नहीं दिया है, जिसकी व्यापक एकता वस्तुत: सजीव प्रकृति की तीव्र और सकारात्मक भावना को व्यापक करती है। यह सचमुच स्त्री मध्यस्थों – पत्नियों और माताओं – के गुणों के कारण ही है कि भारत उन आत्मघाती प्रवृत्तियों पर जादू किए रहा जो आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भयभीत किए हैं, और उनके संकटों का इतनी सुदीर्घ अवधि तक प्रतिरोध कर सका। किंतु यह तथ्य कि हिन्दू मनो-सामाजिक अस्मिता गहराई में माता-शिशु संबंध द्वारा संरचित

है, सुधीर कक्कड़ को यह कहने के लिए अधिकृत नहीं करता कि मुक्ति की आकांक्षा "अच्छी माता" के साथ प्रतिगामी विलयन की शैशवकालीन इच्छा के पुनर्भाव के द्वारा पोषित होती है। सर्वप्रथम जैसा कि विलियम जेम्स ने दिखाया है, धार्मिक अनुभव की मनोवैज्ञानिक व्याख्या उसकी तत्त्वमीमासीय विषयवस्तु को दुर्बल नहीं करती। ऐसा इसलिए नहीं है कि मैंने उस प्रक्रिया को ढूंढ लिया है जिसने मुझे इस सत्य तक पहुंचा दिया है कि यह सत्य मिथ्या है।

माता के स्तन से दूधिया स्पंदन और उसकी ऊष्ण तुष्टि की ओर लौटने की अस्पष्ट आकांक्षा के प्रति विश्वासघात करने के बदले मुक्ति की आकांक्षा चेतना की अतिक्रामी एकता की दशा की खोज को व्यक्त करती है, वह एक ऐसा सायुज्य है जो तीव्रता, अवधान तथा उच्च सघनता के द्वारा उपलब्ध होता है।

असन्दिग्ध रूप से "शिशु व्यक्ति के पिता जैसा होता है" जैसा कि वर्डसवर्थ ने लिखा और बाद में फ्रायड ने दुहराया। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि माता की कोख में प्राप्त सुख का सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग, जो देश-काल से परे होता है हमारे अवचेतन में अंकित रहता है। पर इसका यह अर्थ नहीं होता कि (प्रौढ़) मनुष्य होने के पहले बाल्यावस्था, नियति के रूप में एक अनिवार्यता है जिससे कोई भी पूर्णत: छुटकारा नहीं पा सकता। वस्तुत: मुक्ति की खोज अनिवार्य रूप से एक नई माता की कोख में पुन: जन्म न लेने की आकांक्षा को व्यक्त करती है। माता की कोख की स्थिति और मुक्तिके बीच एक मौलिक विषमता है जो पहले में दूसरे के अपचयन में बाधा डालती है।

गर्भाशय की ओर प्रतिगमन

जब हम पुनर्जन्म नहीं चाहते हैं और जब लक्ष्य समग्र अस्तित्व तक पहुंचना हो तो क्या हम मुक्ति की आकांक्षा तथा उसके चेतना के अभ्युपगम का आत्मसात् कर सकते हैं। उग्र समाविष्ट समुद्र में निमग्न होने की प्रतिमा [8] विलयी प्रतिगमनात्मक भ्रम को व्यक्त नहीं करती है। मुक्ति का मार्ग अभेदन और आदिम अभेद की स्थिति की ओर निष्क्रिय भाव से लौटना नहीं है। इसके विपरीत, अविभेदीकरण की चेतन प्रक्रिया द्वारा आरम्भ कर, बाल्यकाल में प्राप्त संगठन तथा विभेदीकरण के महान कार्य को और मानवीयता के क्षेत्र को पूर्णता देता है। क्या यह महत्वपूर्ण नहीं है कि सुधीर कक्कड़ समय को, इस ओर की अचेतन मानसिक प्रक्रियाओं [10] की कालशून्यता को, समय के दूसरी ओर स्थित शाश्वतता, जिसे पूर्ण सहवर्तिता और शाश्वत वर्तमान के रूप में परिभाषित किया जाता है से उलझा रहे हैं।

संसार [11] के विचार में ही पुनरावर्तन निहित है– इसका तात्पर्य है अगणित आवृत्तियों के प्रति समर्पण जिस पर मुक्ति निश्चित रूप से विराम चिह्न लगाती है। यहां पर हमें इस बात के लिए सजग रहना चाहिए कि हम इसे आवृत्ति के लिए बाध्यता

(वीडरहोलुंग स्वांग); जो एक ओर संधारण और अनुभवों की आवृत्ति की प्रवृत्ति के रूप में जीवित पदार्थ की निष्क्रियता के रूप में और दूसरी ओर प्रतिगामी लक्ष्य वाली नियामक प्रक्रिया से उत्पन्न परिवर्तन के प्रति प्रतिरोध के रूप में अभिव्यक्ति होती है; न समझ बैठें।

भारतीय संस्कृति तथा मनोविश्लेषण

हमें ऐसा लगता है कि भारतीय संस्कृति मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन हेतु अत्यन्त उपयुक्त है क्योंकि भारतीय ''मानस'' अधिकांश प्राचीन मूल्यों, मिथकों और अनुष्ठानों के जीवित चिह्नों को संजोने में सफल रहा है। इस तरह की सभी प्रच्छन्न सामग्री स्वयं को दैनिक जीवन में अभिव्यक्त करती है।

परंतु ऐसे अध्ययन कों शुरू करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हमारे सम्मुख विचारों की वह श्रृंखला उपस्थित रहे जो भारतीय ग्रथों[12] में अवचेतन के प्रतिनिधायन को अच्छी तरह समझना संभव कर सके। सर्वप्रथम, यह कहना खास तौर पर जरूरी है कि तुलना सदृशीकरण नहीं है।

हिन्दू ''रोगियों'' की नैदानिक मनोचिकित्सा से जो जानकारी मिलती है वह यह दिखाती है, यदि केवल शब्दावली के स्तर पर ही देखें,[13] कि प्राचीन दार्शनिक या अन्य संस्कृत ग्रंथों से उद्भूत वैदुष्यपूर्ण संस्कृति के अंश एक पारंगत भारतीय व्यक्ति के स्वभाव मे कितना अन्त: प्रविष्ट हैं। इन ग्रन्थों की एक विशेषता है मोक्षोन्मुख मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विशदीकरण जिसके अभाव में कोई भी गंभीर नृवैज्ञानिक अध्ययन संभव ही नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख है कि भारतीय संस्कृति का मनोविश्लेषण करने में लेखक न केवल ''विषमजातीय समष्टि के एक संभ्रांत भाग''[14] दूसरों शब्दों में, ''उच्चजातीय हिन्दू''[15] के पीढ़ियों से संप्रेषित ''आभ्यांतर जगत'' को उपस्थित करता है, अपितु साथ ही साथ वह अपने निजी ''आभ्यांतर जगत''[16] को भी उद्घाटित करता है।

जहां तक भारतवादी पाठक का प्रश्न है, चाहे वह कितना ही उत्कंठित क्यों न हो और लेखक को, जो भारतवादी या पूर्ण मनोविश्लेषक या दार्शनिक से अधिक है, इसका श्रेय देना चाहता हो, वह विश्लेषक पद्धति के प्रति चाहे कितना ही उदार क्यों न हो, जिसकी उर्वरता कुछ असाधारण पृष्ठों में विस्तृत तथ्यों द्वारा, जो दो अध्यायों में प्रस्तुत है, यह भारतवादी पाठक, ''विश्व हिन्दू अवधारणा'' शीर्षक समूचे द्वितीय अध्याय में जल्दबाजी और सामग्री समावेश के कारण हुई त्रुटियों से अस्थिर हुए बिना नहीं रह पाता। भारतीयों की पारंगत ''भारतवादिता'' को दर्शाने के लिए सुधीर क़क्कड़ ने भारतीय दर्शनों की आधारभूत धारणओं : मोक्ष, धर्म, कर्म तथा अन्य का विवेचन तथा योग और मनोविश्लेषण की तुलना की है।

वैदिक उपनिषदों में मुक्ति का वास्तविक स्वरूप

यह कहते हुए कि ''मैं संभ्रांत पुरोहितों तथा भाष्यकारों तक ही सीमित उपयोग वाले अमूर्त और बौद्धिक संप्रत्यों का उपयोग करने वाले हिन्दू दर्शन की बात नहीं कर रहा [17] हूँ ; लेखक मनुष्य के सर्वोच्च लक्ष्य (परम पुरुषार्थ) को परिभाषित करने के लिए बृहदारण्यकोषनिषद (चौथा, 3, 2 , 1) का सहारा लेता है। यह ग्रंथ एक प्रसिद्ध तुलना के आधार पर स्थिति को स्पष्ट करता है।[18] इस उद्धरण की सुधीर कक्कड़ द्वारा की गई व्याख्या [19] मूल संस्कृत से बहुत हट कर है। साथ ही अंतिम भाग में एक अंश भी अतिरिक्त रूप से जुड़ा है जो मूल में है ही नहीं-''प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य के लिए यह स्थिति इच्छा से परे है - निर्मल और निर्भय। जैसे प्रियतमा के बाहुपाश में आकर व्यक्ति बाह्य और आंतरिक जगत से अनजान रहता है, वैसे ही यह व्यक्ति ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपना कर आंतरिक और बाह्य जगत के बारे में कुछ भी नहीं जानता है। उसके लिए यह दुखरहित स्थिति है जिसमे कोई इच्छा नहीं रहती, केवल आत्मा की उपस्थिति रहती है जिसमें तनिक भी कामना नहीं होती है।''[20] वस्तुत: यह मूल उद्धरण उस स्थल का है जहां उपनिषद जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति की दशाओं का वर्णन करता है।[21] इनमें, अंतिम अवस्था में एक परिशुद्ध प्रशांति (संप्रसाद) का राज्य रहता है।[22]

यह सारी शिक्षा याज्ञवल्क्य द्वारा ''मोक्ष की दृष्टि'' (विमोक्ष्य)[23] से दी गयी जिसका स्वाद ''सर्वोच्च सुख'' (परमानन्द) है।[24]

मुक्ति, जिस तरह उपनिषदों में वर्णित है, अनिवार्यत: शुद्ध ज्ञान का विषय है, इसे काव्य [25] या कलात्मक अनुभूति जिसमें हमारे स्वभाव का भाव पक्ष अभिव्यक्त होता है, के अंतर्गत समाविष्ट नहीं किया जा सकता। यह अनिर्वचनीय रहस्यात्मक अनुभूति है क्योंकि विचार और वाणी से परे है। अपने मौलिक मौन और पारदर्शिता में यह अंत:प्रज्ञा है।

तथापि मोक्ष की अकेली ''विलयी व्याख्या वेदान्त [26] के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न संप्रदायों और विचारों के साथ न्याय नहीं कर पाती है। ''मैं ब्रह्म हूं'' (अहम् ब्रह्मास्मि) [27] ''तुम वही हो'' (तत्त्वमसि) [28] जैसे महावाक्यों के अर्थ की सम्यक् परीक्षा करते हुए शंकर मुक्तिको अद्वैत प्राप्ति के रूप में परिभाषित करते हैं। वह इस बात का निरंतर उल्लेख करते हैं कि ''वह, जो परम ब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है।[29] यहाँ तक कि रामानुज, जो उत्कट भक्ति और दैवी अनुग्रह को महत्व देते हैं, को विलयी व्याख्या अत्यंत सरल लगती है क्योंकि मुक्ति में जीव का अस्तित्व बिना समाप्त हुए, एक शाश्वत संयोग की स्थिति में बना रहता है।

दूसरा ध्रुव : सांख्य-योग

विलयन की धारणा को अत्यधिक महत्व देते हुए सुधीर कक्कड़ भारतीय

चिंतन के दूसरे छोर सांख्य योग, जो मुक्ति को वियोजन (कैवल्य)[30] के रूप में परिभाषित करता है न कि संयोग या विलयन के रूप में, की उपेक्षा करने पर मजबूर है। राजयोग में निपुण व्यक्ति अपने लिए पुरुष, स्वायत्त, निष्क्रिय तथा अनुत्पादी पुरुष नियम (पुंस)[31] शुद्ध चेतना की शुद्ध उपस्थिति, को अपना आदर्श मानता है। दूसरी ओर प्रकृति को प्राकृतिक बनाती हुई उद्‌विकासी तथा उत्पादी स्त्रीत्व सत्ता अचेतन है। इसका काम है शुद्ध द्रष्टा[34] पुरुष के सम्मुख जगत का प्रपंच प्रस्तुत करना। प्राचीन सांख्य का अंतिम लक्ष्य है पच्चीस नियमों के निशेष ज्ञान (पंचविंशति तत्त्वज्ञान)[35] द्वारा पुरुष और प्रकृति का वियोजन। पतंजलि का योगसूत्र व्यावहारिक, नैतिक, मनोशारीरिक तथा बौद्धिक उपायों द्वारा इस नियोजन को सक्रिय करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता। इस तरह ''विलयन'' वियोजन से अलग वस्तु है जो आत्मा को उसकी स्वायत्तता में प्रकटतः अधिसेवा में पुनर्स्थापित करता है। सांख्य-योग के अनुसार यह वियोजन जिसमें मुक्ति पूर्णता को प्राप्त करती है। क्या यह अर्थ नहीं व्यक्त करता कि आध्यात्मिक स्वायत्तता में जीव-शक्ति स्वयं पर विजय प्राप्त करती है जिसमें स्व के प्रति निशेष 'स्व' *(Self)* के लिये 'स्व' में पूर्ण रूप में परिवर्तित हो जाता है।

चित्त तथा इड

चूंकि यह मामला समानान्तरता दिखलाने का है जो योग मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण[36] के बीच लेखक ने स्थापित की है, हमें ऐसे पुनर्मेलों, जो पीछे विचारित सिद्धान्तों के आसन्न ज्ञान की पुष्टि करते हैं, से पैदा हुए सतत् मिथ्या वर्णन के प्रति खेद अवश्य व्यक्त करना चाहिए जैसे बिना किसी सतर्कता[37] के चित्त या इड की तुला करने से अधिक क्लेशप्रद कुछ नहीं हो सकता। लेखक[38] द्वारा आरंभिक परिसीमा द्योतित करने के बावजूद चित्त को फ्रायड के इड के रूप मे समझ बैठने का खतरा बना हुआ है। चित्त स्पष्ट या अस्पष्ट, चेतन या अचेतन मानव व्यापारों से बना है। पंतजलि के योग सूत्र की शब्दावली में चित्त, अंतःकरण के समानांतर है और बुद्धि, मानस तथा अहंकार द्वारा निर्मित है। बुद्धि निर्णय और भेद करने वाला प्रकार्य है। अहंकार अहम् की अभिव्यक्ति है और मानस सांवेदिक प्रक्रमों को द्योतित करता है। इस तरह हम देखते हैं कि चित्त फ्रायडीय मानस के इड, ईगो और सुपरईगो के तीनों पक्षों को अपने में समेटे है या गुण के अर्थ में कहें, यह केवल ''कड़ाह''[39] नहीं है जिसमें राजस तथा तामस खदबदाते हैं, इसका उच्च भाग अस्तित्व के साथ अनुरूपता तथा पारदर्शी प्रकाश वाला सत्व भी है। इसी तरह चित्त पूर्व जन्म तथा इस जीवन के संस्कारों तथा वासनाओं का आधान भी है और आगे के जन्मों का निर्धारण करता हुआ फ्रायड के इड की अपेक्षा अधिक विस्तृत क्षेत्र का समावेश करता है।

योगसूत्र के स्तर के अन्तर्गत लेखक ने प्रत्याहार की तकनीक तथा

मनोविश्लेषणात्मक मनोचिकित्सा में प्रयुक्त स्वतंत्र प्रत्याह्वान के बीच एक समानान्तरता का उल्लेख किया है।[40] प्रत्याहार, जिसे उसने बड़ी सहजता से "किसी दिशा में संचयन" के अर्थ में प्रयुक्त किया है, वस्तुत: "भावों के संकुचन" को द्योतित करता है। लेखक के साथ हम यह तो मान सकते हैं कि वस्तुत: जब व्यक्ति अस्थाई तौर पर बाह्य पर्यावरण से अपने को काट लेता है तो मनुष्य में अनेक प्रतिभाएं घटित होती हैं क्योंकि यौगिक तकनीकों के इस चरण में व्यक्ति पूर्णत: ध्यानस्थ नहीं रहता है। किन्तु यहां पर यह भी ज्ञातव्य है कि उक्त दोनों तरह के अभ्यासों का परिणाम पूर्णत: भिन्न होता है। प्रशिक्षु योगी के लिए यह वियोजन ध्यान का प्रतिप्रकोष्ठ है, जब कि विश्लेषित व्यक्ति के लिए इसका तात्पर्य अपनी प्रतिभाओं की सतत श्रृंखला को सहज रूप से आने देना या अपनी मनोग्रंथियों को सतह पर उभरने देना है।

लेखक बड़ी दृढ़ता के साथ राज-योग के बाद के चरण पर बल देता है जो चित्त को "एकाग्र" बनाने के लिए होता है।[41] इस चरण में एक बिंदु पर मन को केन्द्रित (धारणा) किया जाता है (एकाग्रता) तथापि योग की प्रसिद्ध परिभाषा में कहा गया है "चित्त की वृत्तियों का निरोध है"[42] या "योग विचार की संपूर्णतया स्थिर स्थिति है"[43], इसका अंतिम लक्ष्य केवल चित्त का परिष्कार[44] नहीं है बल्कि उसे मौन करना है क्योंकि यह स्थिति प्रकृति के पक्ष में है। यहां पर मनोविश्लेषण के साथ वैषम्य दिखलाना समीचीन होगा। 'इड' प्रवृत्ति निर्देशन है दूसरी ओर वियोजन केवल अचेतन प्रवृत्तियों, जो नए अवतरणों का बीजाणु (बीज) होता है, का निरोधन और उन्हें भस्म करना है। इसी से असंप्रज्ञात समाधि का महत्व प्रकट होता है जिसमें योगी अचेतन को अचेतन के द्वारा प्राप्त करता है। इस अचेतन समाधि जिसका अर्थ है "वस्तुज्ञान रहित", को बीजरहित समाधि (निर्बीज समाधि) भी कहा गया है।

कुंडलिनी योग की सूक्ष्म दैहिकी का विवेचन करते हुए लेखक वेशर्मी से एक भूल करता है यद्यपि वह सांकेतिक है। उन्होंने चित्त को मूलाधार चक्र में अवस्थित बताया है जो कुंडलिनी का अधिष्ठान है और यौनेच्छा को नियंत्रित करता है, जब कि चित्त, बुद्धि अहंकार और मानस की त्रयी के रूप में छठें चक्र-आज्ञा चक्र में स्थित होता है। हम चित्त को लिबिडो के स्तर पर नहीं ला सकते हालांकि वह उसे अपने में समाहित किए हुए है।

विश्लेषण का अर्थ वस्तुत: "गांठों का खोलना है", जो अपने उद्‌भव की ओर बढ़ने के कारण स्थिर था उसे उसकी नम्यता लौटाना ताकि धार्मिक अर्थों के प्रतीकात्मक जाल अधिक पारदर्शी हो जाये। इस संदर्भ में, और क्लाइन की अच्छी और बुरी वस्तु के बीच पहले विभेद की खोज के साथ आरंभ कर सुधीर कक्कड़ उभयमुखता को पुनर्स्थापित करते हैं जिसको आगे बढ़ने के क्रम में "अच्छी माँ" भयानक "बुरी माँ"

(जैसे-काली) के रूप में परिवर्तित होने के लिए नियत है। क्लाइन द्वारा प्रकाश में लाई गई विभ्रम दृष्टि को नियंत्रित करने वाले दोलन के अनुसार भारत में पवित्र ब्रह्माण्ड जीवनीशक्ति निकटता की विशेषता धारण कर लेती है जो इसे कभी कृपालु और सभी हानिकारक बना देती है।

लिंग, पवित्र वृक्ष तथा स्तंभ

किन्तु जिस तरह क्लाइन की कृष्ण की बाल्यावास्थाओं तथा पूतना [46] के मिथक से सम्बन्धित व्याख्या जिस प्रकार युक्ति संगत है (कृष्ण को डियोनिसस के साथ विवादास्पद साम्य के अपवाद को छोड़)[47] ''आरंभिक बाल्यावस्था की[48] पीड़ा दायक घटना के बाद शिवलिंग के रूप में आत्मविश्वास की पुनर्प्रतिष्ठा विशिष्टतया जोखिम भरी प्रतीत होती है। यह व्याख्या तथ्यों का सरलीकरण है क्योंकि यह लिंग की उपस्थिति में भक्त में विद्यमान पवित्रता की भावना और ईश्वरीय श्रृद्धा की उपेक्षा करती है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि यह खड़ा पत्थर मूलत: शिश्न का प्रतीक ही न रहा हो, जैसा कि सतही फ्रायडवादी काफी दिनों तक मानते रहे हैं, किन्तु पवित्र वृक्ष का एक पवित्र स्तंभ के रूप में पूजन, एक प्रकार के आध्यात्मिक आयाम के रूप में विभिन्न संस्कृतियों में अधिकांश: पाया गया है, ''ग्रंथिबंधन'' का उद्‌भव या फिर जैव नाभि जिससे दृश्य जगत का अस्तित्व अदृश्य अस्तित्व से रचा जाता है। यह अभिलम्ब पत्थर जो एक प्राथमिक दैहिक प्रतीकवाद को धारण करता है, गौड़ रूप से यौन प्रतीकवाद से आविष्ट रहा हुआ होगा। एक सामान्य तौर पर प्रयुक्त विधि यदि कृष्ण सम्बन्धी मुद्रा के अनुकूल हो तो वह शिव के बारे में लचर और भ्रामक सिद्ध होती है जो एक ही समय रति तथा वैराग्य दोनों के देवता हैं। यद्यपि लेखक ने ''देवता के वैराग्य और उनके प्रतीक की रत्यात्मकता''[49] के अन्तर्विरोध की चर्चा की है तथापि वह उसका वास्तविक समाधान नहीं प्रस्तुत करता है।[50]

उपचार्य शिशु तथा उसकी माता

उपचार्य शिशु तथा माता के बीच स्थापित सम्बन्धों का एक विलक्षण और विश्वासपूर्ण चित्र प्रस्तावित किया गया है। जैसा कि हमें ज्ञात है बालक पूर्वस्थापित अनुकूलन के प्रक्रमों के अभाव और विशिष्ट पूर्वपरिपक्वता के कारण उत्पन्न सुदीर्घ निर्भरता के फलस्वरूप अलग-थलग हो जाता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृतियां शिशु की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के परस्पर मूलत: भिन्न उपाय और संभव विविध अनुक्रियाओं को प्रस्तुत करती हैं। हिन्दू शैशवकालीन अनुभव और पश्चिम में सेंट आगस्तीन से लेकर फ्रायड तक उकेरी गई बच्चे की छवि के बीच उल्लेखनीय विषमता है। हिन्दू बच्चे की सुखद दैहिक अज्ञानता, जिसकी सुदीर्घ निर्भरता पिता के संसार में प्रवेश के पूर्व तक उसके लाड़ प्यार का अवसर देती

है, यह एक अप्रसन्न और दयनीय प्राणी की सीधी सादी छवि के विरुद्ध है (तुल. फ्रायडीय हिल्फलोजिककाइट) वृद्धि की कसक, एक ही साथ कोसने और क्रोध करने और अपने अन्दर भयप्रद आवेग का भार पूर्णत: धारण किए गए, स्वयं में पर्याप्त होने में असफल, दैहिक जीवन की आवश्यकताओं और कष्टों के प्रति पूर्णत: समर्पित है। संत आगस्तीन की दृष्टि में शिशु अपरिपक्व और इसलिए परित्याग की नियति वाला और सबसे ऊपर वासना और विरोध से संचालित दुर्भाव का शिकार होता है। आगस्तीन की यह दृष्टि निश्चय ही अनोखी ही नहीं है बल्कि निश्चित रूप से शिशु की परंपरागत छवि से संस्कारित हुई रही होगी—इसमें ईसाई अर्थ में "अनुग्रह" युक्त होगा, जैसा कि परम्परया बालक यीशु के विषय में था। परन्तु जहां आगस्तीन कन्फेंशन्स में यह उद्गार व्यक्त करता हैं, "कौन मुझे मेरे बचपन के पापों की याद दिलाएगा"[51] वहीं दूसरी ओर एक प्रौढ़ हिन्दू द्वारा अपने आह्लादपूर्ण आरंभिक बाल्यावस्था की भावपूर्ण स्मृति सदैव अनुभव की जाती है।

बच्चे के चारों ओर अत्यन्त फिक्र या देखभाल का वातावरण[52] बना कर उसे हर कीमत पर खुश रखने का हिन्दू दायित्व, फ्रायड द्वारा स्वीकृत कठोर आवश्यकता के विपरीत है जिसमें शिक्षा का अनिवार्य आधार कुंठा को सहने की सीमा बढ़ाना है : अप्रसन्नता ही एक मात्र शैक्षिक विधि है। इसे फ्रायड बड़ी तल्खी के साथ यह महसूस करता है, उसकी दृष्टि में वर्जना सभ्यता का एक मूल्य बन जाती है, सभ्यता का प्रासाद आवेगों से विरक्ति के नियम पर परिशुद्ध रूप से निर्भर करता है (ट्रीवफ़ेरजिख्ट)।[53]

हिन्दू मृत्युपर्यन्त सहजीवन के लाभ को धारण करेगा। प्रौढ़ हिन्दू को थकान और स्थितिभ्रांति वाली संवेदनाओं की परिक्लांति से उत्पन्न आत्महानि भयभीत नहीं कर सकेगी। यदि "अन्तिम विश्लेषण में न्यूरोसिस आत्मा का वह कष्ट है जिसे अपना अर्थ नहीं मिला है,"[54] युंग के बहुत बढ़िया सूत्र के अनुसार "अच्छी माँ द्वारा आपूरित होने का तथ्य" प्रौढ़ हिन्दू की इस तरह की आध्यात्मिक दरिद्रता से रक्षा करता है। उसके नियति के उतार-चढ़ाव जो भी हों "अर्थ के इस वंचन" से, अर्थों के इन अपरिभाषित अवशेषों से, जिसे पिछली सदी में नीत्शे ने पश्चिमी मानव में उभरते देखा था, जो "शून्यता सभी अतिथियों में से सर्वाधिक अशान्तिकर है" से रुग्ण है, जबकि आरंभिक वर्षों में अनुभूत की गई हृदय की अंतरंगता हिन्दू को पीड़ा से सुरक्षित रखती है।

इस तरह हम देखते हैं कि किसी हद तक बुद्धिगम्यता का मनोविश्लेषणात्मक परीक्षण, जो स्वयं अपनी ओर ही आवृत्त है, एक ऐसी सर्वव्यापी यौनवादिता का सहयोगी हो कर रह जाता है जिसमें लिबिडो को संकुचित दृष्टि और हठ धर्मिता के साथ यौनीकृत किया गया है। ऐसा लगता है कि लेखक मानों, परिपक्व होने पर, पश्चिम में

अपने आरंभ के वर्षों में प्रचलित विधि के साम्राज्यवाद को दूर करने के लिए आशान्वित है। तथापि जब भी उसके मस्तिष्क में किसी व्याख्या को लेकर हठधर्मिता का तनिक भी संदेह होता है तो सुधीर कक्कड़ उसे अलग कर देते हैं।[55] लेखक की व्याख्या, जो अधिकांशत : तांत्रिक ग्रंथों [56] पर आश्रित है, की परिणति ''तांत्रिक अपचयन'' में हुई है।

कितना ही सूक्ष्म और अकाट्य विश्लेषण क्यों न हो जिनसे उन्हें प्रेरणा मिली थी, सुधीर कक्कड़ द्वारा प्रस्तुत बुद्धिगम्यता का परीक्षण जो मनोविश्लेषक एरिक्सन के मनोविज्ञान द्वारा की गई है निश्चित रूप से निरपेक्ष को समझने के लिए अतिशय पूर्वशून्यता से ग्रस्त और अपचयी है। तत्त्वमीमांसीय पहल की ऊर्जा जिसे सम्पूर्ण नैसर्गिकता से अलग कर लिया गया है और मानवीय स्थिति के आधार उससे हटा लिये गये हैं, के पुन: प्राप्त करने में अक्षम है। और यह इस दृष्टि से कि साक्षेप से निरपेक्ष की ओर गतिहीन संक्रमण को तीव्र वैराग्य, मुक्त करने वाली आध्यात्मिक विद्या तथा अपनी और खींचने वाली भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जा सके। निश्चिय ही केवल शैशवकालीन अनुभव का वर्णन मानव नियति के ''अर्थ'' को स्पष्ट नहीं कर सकता, यदि हम उसे मूल्य और जीवन-स्थिति के आकर्षण का संश्लेषण समझें। ऐसा समझना अज्ञानता ही होगी कि कच्चे ''तथ्यों'' के निर्धारण से मनुष्य के अंतिम गंतव्य की व्याख्या की वैधता कभी पाई जा सकेगी। न केवल प्रेक्षक कुछ नियमों के अनुरूप अर्थवान विशेषताओं को चुनता है अपितु वह बाल्यवस्था में विशदीकृत भावात्मक संवर्गों को इसी शर्त पर समझ सकता है कि उनके प्रकार्य को मानव नियति की समग्र व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में विशदीकृत किया जाय। अब हम किस तरह मानवीय नियति को उसके आयाम में पुन: प्राप्त करेंगे यदि उसे ऐसी ऊँचाई पर न ले जायें जहां तक अंतिम रूप से अविभाज्य एकता तथा अर्थ को जान सके ? चूंकि मनुष्य निरंतर स्वयं और संसार के साथ संघर्षरत है, चूंकि यह मनुष्य का व्यवसाय है कि जब वह प्रौढ़ावस्था की दशाओं के साथ अनुकूलन करे तो अपनी बाल्यावस्था से स्वयं को मुक्त करे, मनुष्य अपने अतीत को बिना अनिवार्यत: उसका दास हुए धारण कर सकता है : बाल्यावस्था के स्मृत्यवशेष उसके व्यक्तित्व को एक आकार देते हैं पर बिना उसे अभिभूत और बाधित किए।

फलत: शैशवकालीन अनुभव सब कुछ की व्याख्या नहीं कर पाते और कोई भी नैतिक-आध्यात्मिक चयन की आवश्यकता से भाग नहीं सकता तो अस्तित्व के अर्थ के विषय में निर्णय की वैधता की पुष्टि करती है।

एरिक्सन के परिप्रेक्ष्य में ''हिन्दू अस्मिता के सामुदायिक आयाम[58] पर भी प्रकाश डाला गया है। विशेषत: ''व्यक्ति मानस और संस्कृति का परस्पर पुनर्बलन''[59]

"होमो हीयरार्कीकस"[60] (श्रेणीक्रम जनक मनुष्य) के व्यष्टिपरक विकास को रेखांकित करना संभव बना देता है। यह मान कर कि मानसिक यथार्थ के दो चेहरे हैं – आवेगी और सांस्कृतिक – किसी मानवीय आवेग की कल्पना बिना इसकी परिभाषा के अंतर्गत मानसिकता के विभिन्न सोपानों पर सांस्कृतिक अर्थ के आलेख, अवशेष तथा संदर्भ जिनकी दिशाएं मिथक हैं, की दशाओं को समाविष्ट किए बिना संभव नहीं है, क्योंकि मिथक व्यक्ति की मानसिक रचना और सामाजिक संगठन के आदर्श के सजीव अर्थों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह जिस सीमा तक पूर्व चेतन व्यवस्था के साथ दृढ़ता के साथ जुड़ा होता है और व्यक्तिगत अनुभवों का एकीकृत अंश होता है, मोक्ष, धर्म तथा कर्म के संप्रत्ययों से जुड़े विश्वास, अभिवृतियाँ और मूल्य एक "अधियथार्थ"[61] को प्रस्तुत करते हैं। यदि हम ए. कार्डिनर तथा अन्य अमेरिकी संस्कृतिविदों की उपयुक्त अभिव्यक्ति "प्रक्षेपी यथार्थ व्यवस्था" की शब्दावली में कहें तो यह एक सांस्कृतिक चित्र को परिभाषित करने की दृष्टि से, जो हिन्दू व्यक्तियों के लिए एक सामान्य अभिधायक का काम करे और जिसमें सांस्कृतिक एकता का केन्द्रीय बिन्दु स्थित हो, नि:संदेह प्रासंगिक है। इसी "प्रक्षेपी यथार्थ व्यवस्था के साथ, जो शायद वस्तुपरकता के किसी भी स्तर में घटाई नहीं की जा सकती, पर जो सामाजिक जीवन के अचेतन तर्क को फिर भी निर्धारित करती है, व्यक्तिगत मानस तथा सांस्कृतिक संस्थाएं एक और समान सातत्यक बनाते हैं, जिमसें किसी तरह की इंद्रियानुभविक कारणता नहीं वरन् अत्यंत रहस्यमय रसाकर्षण द्वारा व्यक्तिगत मानस तथा संस्कृति के क्षेत्र समरूप बन जाते हैं और परस्पर विनिमयी हो जाते हैं। तथ्य यही है कि मूल व्यक्तित्व की अवधारणा, उस सीमा तक जहां तक सांस्कृतिक एकता के अंश होने के कारण उत्पन्न सामान्य अभिधायक द्वारा प्रस्तुत समाजीकरण के परिवेश से अलग करने में सफल होती है, का केवल एक संक्रियात्मक मूल्य है।

यद्यपि सांस्कृतिक उपागम मूल्य व्यवस्था को ध्यान में रखता है तथापि वह इसके उद्गम को समझाने में विफल रहता है तथा मूर्त यथार्थ के पूर्णत: साथ-साथ घटित होने में असफल रहता है। सुनिश्चित फ्रायडीय उपागम की तरह यह अपने क्रम में एक हद तक अपचयवादी लगता है, क्योंकि यह अपने अंतिम आधार के रूप में "प्राथमिक संस्थाओं" की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त कुछ समाज केन्द्रित व्याख्याओं को थोड़ा बदलना उपयुक्त है, जो मूल व्यक्तित्व के विचार को नियंत्रित करती हैं। भारतवादी मनोवैज्ञानिक या दार्शनिक, जो हिन्दू संस्कृति के सुसंग्रथित चित्र के साथ न्याय करने का बीड़ा उठाए हो, को संभवत: वस्तुनिष्ठ समाधान के किसी भी प्रयास का प्रतिकार करना चाहिए।

आधुनिक परिवर्तन तथा भारतीय संस्कृति

समकालीन भारत आधुनिक सभ्यता की विघटनकारी तथा क्षयकारी शक्तियां के द्वारा सतत रूप से विक्षुब्ध है। ऐसा नहीं है कि सांस्कृतिक परिवर्तन की घटना भारत को आलोड़नकारी अराजकता में डुबो देगी। परन्तु यह भय अवश्य है कि तकनीकी उद्विकास द्वारा आज लाए गए कुछ रूपांतरण, सांस्कृतिक उत्क्रमण तथा जनसंख्या का मेल, मानस और संस्कृति के पारस्परिक पुनर्बलन के चक्रीय और सुसंगत प्रक्रम को समाप्त कर दें और हिन्दू व्यक्ति और वर्तमान सामाजिक संस्थाओं के संबंध को द्वंद्वात्मक बना दें। यह सब सामाजिक संघटन की मनोगतिकी को गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त कर देगा। सामाजिक परिवर्तन के प्रक्रम द्वारा लादे गये व्यवहार के नए मॉडल हिन्दू समाज की पहले से स्थापित व्यक्तित्व संरचना के अनुकूल होगा यह अनिश्चित नहीं है। यदि यह सच है कि विवेकानंद एक चमत्कारी नेता की भूमिका में "आधुनिकीकरण के मनोवैज्ञानिक असमंजस" द्वारा उत्पन्न अन्तर्विरोध का यदि समाधान नहीं तो उससे बाहर निकलने का एक रास्ता पाने में सफल हुए। समकालीन हिन्दू व्यक्ति इसे अपने व्यापक पारलौकिक आयाम में कैसे उपार्जित करेगा जो परम्परया अपने सभी निजी दायित्वों से छुटकारा पा लेता है। जब कर्म से सामना होता है, परन्तु वर्तमान में अपने विद्यमान व्यवहार के मॉडलों के पुनर्समायोजन की आवश्यकता का सामना करना है तो असुरक्षित महसूस करता है क्योंकि वह सुरक्षा के उस सांवेगिक सहारे से वंचित है जो उसे परंपरागत संस्कृति से प्राप्त थी। परिवर्तन का प्रतिरोध अवचेतन रचनाओं की अनिवार्य आवश्यकताओं में से एक होने के कारण हिन्दू व्यक्तित्व की आवश्यक संरचनात्मक पुनर्व्यस्था के साथ रहने वाली उसे बाधित या सीमित करने वाली प्रतिरोधों की समस्या को प्रखर रुप से उभारती है। निषेधात्मक पुनर्व्याख्याओं को बदलने और वर्तमान मॉडलों के समायोजन की संरचनात्मक अभिक्षमता आज के भारत में हो रहे विभिन्न राजनैतिक उग्र सुधारों की प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रियाओं की व्याख्या कर सकेगी।

संदर्भ -

1. सुधीर कक्कड़, दि इनर वर्ल्ड ए साइको एनेलिटिक स्टडी ऑफ चाइल्डहुड़ एण्ड सोसायटी इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978 (द्वितीय संस्करण, 1982, पृ. 211, पृ. 153)।

2. वही., पृ. 34 ।

3. वही., पृ. 85।

4. ए. कार्डीनर, दि साइकोलाजिकल फ्रंटियर्स ऑफ सोसायटी, कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस. 1945, पृ. 233।
5. कक्कड़, पू.उ., पृ. 104 - 107।
6. वही., पृ. 110।
7. छान्दोग्य उपनिषद्, चौथा, 10, 1 - 2, मुण्डकोपनिषद्, तीसरा. 2, 8।
8. कक्कड़, पू.उ.पृ. 46।
9. फ्रायड के अनुसार अवचेतन अपनी सामग्रियों को मिश्र की कब्र की तरह स्वयं संरक्षित रखता है।
10. कक्कड़, पू.उ.पृ., 45।
11. ल. कपानी इस समय इन विचारों को भविष्य के प्रकाशन हेतु विशद् कर रही हैं।
12. कक्कड़, पू.उ., द्रष्टव्य उदाहरणार्थ पृ. 49।
13. वही., पृ. 4।
14. वही., पृ. 8।
15. वही., पृ. 12 तथा 34।
16. वही., पृ. 15।
17. बृहदारण्यकोपनिषद्, चौथा, 3, 23 - 30, द्वितीय, 4, 14।
18. कक्कड़, पू.उ.पृ., 16।
19. अनुवाद रेनू, प्रोलेग्मेनओ वेदान्त, पेरिस, ऐ प्री मेरी नास्येनाल मेथसो नेयोव नेशनेल मेसनुए., 1931, पृ. 54, अंक।
20. बृहदारण्यकोनिषद्, चौथा, 3,9 - 14।
21. वही., चौथा, 3, 15।
22. वही., चौथा, 3, 32।
23. वही., चौथा, 3, 32।
24. कक्कड, पू.उ., द्रष्टव्य पृ. 16 जहाँ लेखक डब्ल्यू ब्लेक को उदधृत करता है।
25. यह दर्शन जिसने सांख्य योग के साथ आज तक भारतीय चिन्तन पर सर्वाधिक प्रभावित किया है, का श्रोत प्रथम वैदिक उपनिषदों में निहित है जिसके पाँच प्रमुख भाष्यकार हैं : शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व, बल्लभ।
26. बृहदारण्यकोपनिषद, 1, 4, 10।
27. छान्दोग्योपनिषद, IV. 8, 7।
28. मुण्डकोपनिषद, III. 2, 9।
29. साख्य कारिका 68 योग सूत्र. III. 50, तथा 55, IV. 34।
30. सां. का. 11।
31. सां. का. 19 यो.सू. I. 3, I. 34।
32. सा.का. 11।
33. द्रष्टव्य, सां. का. 59, 65 - 66।
34. सा. का. 44 पर गौड़पाद का भाष्य।

35. वही., पृ. 21 क्या यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आरंभ से ही योग की परिणति मनोविश्लेषण से महत्वपूर्ण अर्थ में भिन्न रही है ? योग किसी अवैध को ग्रहण ही नहीं रता। यह मानता है कि कोई व्यक्ति सर्वप्रथम उत्तम रूप से स्वस्थ्य है।

36. कक्कड़, पू.उ. पृ., 23।

37. वही., पृ. 23।

38. वही., पृ. 22 - 23।

39. वही., पृ. 25।

40. वही., पृ. 23 - 24।

41. योग सूत्र, 1, 2।

42. योग भाष्य, 1, 1।

43. कक्कड़, पू.उ., प्र. 25।

44. वही., पृ. 24।

45. वही., पृ. 147 - 148।

46. वही., पृ. 142 - 143।

47. वही., पृ. 156 - 158।

48. वही., पृ. 155।

49. वही., पृ. 160।

50. I.VI. 11।

51. कक्कड़, पू.उ., पृ. 196।

52. "सांस्कृतिक परित्याग" (कुल्टुरफेर्जागुना) की अवधारणा पर द्दष्टव्य, डास उन विहागिन डेर कुल्टूर, अध्याय।

53. सी.जी. जुंग, ला गैरीसों सिकोलाजीक, 1953, पृ.सं. 1976 लिब्रेयर दे ल्यूनीवर्सिते जनीवा, पृ. 281 - 282।

54. कक्कड़, पू. उ. पृ. 149।

55. वही, द्दष्टव्य उदाहरणार्थ पृ. 23 - 24, 16।

56. द्रष्टव्य पृ. 81 एरिक्सन स्कीमा (चाइल्डहुड एण्ड सोसायटी न्यूयार्क 1950) तथा हिन्दू स्कीमा। सन्यास, धर्म की उपलब्धि नहीं है, किन्तु वह मोक्ष की उपलब्धि की ओर ले जाता है। इस स्तर पर कोई कार्य या गुण अपेक्षित नहीं है। वर्णाश्रम धर्म के ढाँचे में सन्यास जीवन का अंतिम चरण है, इस तरह वृद्धावस्था से जुड़ा है। तथापि, हमें यह स्मरणीय है कि वास्तविक जीवन में ब्राह्मणों के कुछ युवा पुत्र सीधे सन्यास को अंगीकार कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, शंकर।

57. कक्कड़, पू. उ., टिप्पणी, 1, पृ. 214।

58. वही., पृ. 133।

59. वही., पृ. 133।

12

परिशिष्ट : एक
भारतीय दर्शनों में मन की अवधारणा के मूलभूत संदर्भ*

"मनु अवबोधने" धातु से औणादिक "असुन्" प्रत्यय द्वारा "मनस्" की निष्पत्ति है। चित्त के समान यह भी अतिप्राचीन वैदिक शब्द है जिसे अन्त:करण के रूप में सर्वसम्मत स्थान मिला।

मनो मनोति: ।   (निरूक्त 4/1/5)

अर्थात् मननार्थक "मन्" धातु से "मनस्" निष्पन्न है।

विभिन्न भारतीय दर्शनों के दार्शनिक श्रोतों में मन की अवधारणा के मूलभूत संदर्भ इस प्रकार हैं।

वेद -

पतङ्गमवतमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चित: ।
समुद्रे अन्त: कवयो विचक्षते मरीचीना पदमिच्छन्ति वेधस: ॥
पतंगो वाचं मनसा विभर्ति तां गन्धर्वो वदद् गर्भे अन्त: ।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो निपान्ति ॥

(ऋग्वेद 10/77/1-2)

अर्थात् परमेश्वर (असुर) की माया से गह्वरस्थित (अवत) पतङ्गरूप आत्मा को विद्वज्जन हृदय एवं मन से साक्षात् करते हैं। समुद्र (ब्रह्माण्ड) के भीतर कविजन उसे कहते है और प्रजापति के प्रकाशमय पद की कामना करते हैं। आत्मरूप पतङ्ग मन

---

*दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा निर्मित अप्रकाशित पांडुलिपि 'भारतीय दर्शन वृहद् कोश' से साभार।

से वाणी को धारण करता है और उसे गुहास्थिति गन्धर्व बोलता है। वही प्रकाशमान स्वर्गीय मनीषा है जिस की रक्षा कविजन अमृतपद में करते हैं।

(क) यहां माया (परिच्छेद), हृदय (चैतन्यकेन्द्र) और मन एक साथ आये हैं। आत्मा के परिच्छेद का साधन मन और प्रत्यक्षाधार हृदय है। मानस प्रत्यक्ष का स्थूल गोलक या भौतिक केन्द्र हृदय है।

(ख) विचक्षण-क्रिया ख्याति के अर्थ में है। क्रान्तदर्शी कवि उस प्रकाश को, जो अन्यकरणबेद्य नहीं है, साक्षिभास्य रूप से हृदय में प्रख्या का विषय बनाते हैं – माया से विविक्त कर के परमार्थरूप में ख्यातिगम्य करते हैं।

(ग) प्रकाशमय पद की कामना मुमुक्षा की ओर संकेत करती है जिससे मन की सीमा स्पष्ट होती है।

(घ) मन द्वारा वाणी के धारण से स्पष्ट होता है कि मन से संकल्पिक तथ्य का वाणी प्रकाशन करती है।

(ङ) मनीषा सम्पूर्ण मनोवृत्ति का नाम है जिस में उक्त चतुष्टय का समावेश होता है। इस के लिए वेदों में मनस्या शव्द का भी प्रयोग देखा जाता है।

इन पाँचों को एक साथ लेने पर पहले मानस साक्षात्कार, फिर विवेक, तदनन्तर विषयाभिलाष और अन्ततः वाणी में अभिव्यक्ति का क्रम है। यह व्यष्टि से समष्टि की ओर को ले जाने वाली मानसी प्रक्रिया है परन्तु पुरुषसूक्तादि में समष्टिमनस् की प्रतिष्ठा है----

चन्द्रमा मनसो जातः। (ऋग्वेद 10/90/13)

अर्थात् विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा का जन्म हुआ। इस प्रकार व्यष्टिमन का उपादान चन्द्रमा मनोमात्र का अधिष्ठाता देवता माना गया है। प्रत्यक्षप्रक्रिया में इन्द्रिय और मन का सम्मिलित उपयोग स्पष्ट प्रतिपादित है -

अन्वेक्षन्त मनसा चक्षुषा च। (अथर्ववेद 2/34/3)

अर्थात् मन एवं चक्षु से अन्वीक्षा की जाती है। आशय है कि मन द्वारा ईक्षित का चक्षु से और चक्षु द्वारा ईक्षित का मन से अन्वीक्षण होता है। इस प्रकार सभी कर्मों का प्रेरक मन भरद्वाज ऋषि कहा गया है (यजुर्वेद 13/55)।

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। (अथर्ववेद 3/8/5)

अर्थात् हम तुम सब के मनों, व्रतों तथा आकृतियों को एक साथ करते हैं। यहाँ व्रत तथा आकृति या अभिप्राय को मनोवृत्ति के रूप से लिया गया है।

अहं गृह्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥

(अथर्ववेद 3/8/6)

अर्थात् लोगो, मैं अपने मन से तुम्हारे मनों को ग्रहण करता हूँ। तुम अपने चित्तों से मेरे चित्त का अनुसरण करो। तुम्हारे हृदयों को मैं अपनी इच्छाओं के अधीन कर रहा हूँ। मेरे चले हुए मार्ग का अनुसरण करते हुए तुम सब आओ।

यहाँ चित्त समस्त व्यावहारिक चेतना समूह रूप अन्त:करण का अर्थ देता है और हृदय इन्द्रियादि का आश्रय है --

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मन: षष्ठानि मे हृदि।

(अथर्ववेद 19/9/5)

अर्थात मेरे हृदय में पाँच इन्द्रिय और छठा मन स्थित है।

ब्राह्मण -

वेदों के सन्दर्भानुगत प्रयोगों की व्याख्या ब्राह्मणों में हुई है। प्रजापति के शरीर का वर्णन करते हुए आया है -

तदेता वा अस्य ता: पञ्च मर्त्यास्तिन्व आसन् लोभ तवङ्मांसमस्थि
मज्जा अथैता अमृता मनो वाक् प्राणश्चक्षु: श्रोत्रम्।

(शतपथ ब्राह्मण 10/1/3/4)

अर्थात् प्रजापति के पाँच अङ्ग मर्त्य हैं - लोम, त्वक्, मांस, अस्थि एवं मज्जा और पाँच अमृत अङ्ग है - मन, वाक्, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र। यहाँ विराट् या समष्टि के मन का उल्लेख है। मन ही शेष का परिचालक है, अतएव कहा गया है -

प्रजापतिर्वै मन:। (वही 4/1/1/22, कौब्रा, 10/1, तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/7/1/2)

अर्थात् मन ही प्रजापति एवं प्रजापति ही मन है इस प्रकार -

मनो वै सर्वम्। (गोब्रा 1/5/15)

अर्थात् मन ही सब कुछ तथा सब कुछ मन है। क्योंकि अन्नमय जगत् का वही नियन्ता एवं धारक है -

मनो वै भरद्वाज ऋषि:। अन्न वाजो यो वै मनो विभर्ति सोन्नं
वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषि:। (शतपथ ब्राह्मण 8/1/1/9)

अर्थात् मन भरद्वाज ऋषि है क्योंकि अन्न को वाज कहा गया है और जो मन को धारण करता है वह अन्न या वाज को धारितपोषित रखता है। मन की इस महिमा का कारण उस की जिजीविषा वृत्ति है जिस के आधिपत्य में सभी कामनाएँ रूप लेती हैं -

काम: संकल्पो चिचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्
सर्व मन एव। (शतपथ ब्राह्मण 14/4/3/9)

अर्थात् सभी वृत्तियाँ मनोरूप हैं - काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा,

धृति, अधृति, ही (लज्जा), धी (चिन्तनवृत्ति) और भय। यह समग्र परिगणन न हो कर उदाहरणमात्र है क्योंकि उस का वेग ही वृत्ति है जिस की संख्या नहीं हो सकती --

न वै वातात् किंचनाशीयोस्ति न मनस: किंचनाशीयोस्ति
तस्मादाह वातो वा मनो वेति। (वही 5/1/4/8)
मनसा वा इदं सर्वमाप्तम्। (शतपथ ब्राह्मण 5/4/3/9)
असंप्रेषितं वा इदं मन:। (ऐतरेय ब्राह्मण 6/2)

अर्थात् वायु तथा मन से आशुगामी कुछ भी न होने से मन को वायु एवं वायु को मन कहा जाता है। मन अपरिमित है। मन से सब व्याप्त है। मन का कोई प्रेरक नहीं है।

(क) मन तथा वाक् का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ---

वाक् च वे मनश्च देवानां मिथुनम्। (ऐतरेय ब्राह्मण 5/23)
तस्यैषा कुल्या यद् वाक्। (जेब्रा 2/1/58/3)
अपरिमिततरमिव हि मन: परिमिततरेव हि वाक्। (शब्रा 1/4/4/7)
अनिरुक्त हि मन:। अनिरुक्तं ह्येतद् यत् तूष्णीम्। (वही 1/4/4/5)
मनो हि पूर्वं वाचो यद्धि मनसाभिगच्छति तद् वाचा वदति।
(ताण्डय ब्राह्मण 11/1/3)
अलग्लमिव ह वे वाग् वदेद् यन्मनो न स्यात् तस्मादाह धृता मनसेति।
(शब्रा 3/2/4/11)

अर्थात् वाक् तथा मन देवों का युगल है। वाक् मन की प्रणाली है। मन अपरिमित एवं वाक् परिमित है क्योंकि अवाक् मन अनिरुक्त रहता है। वाणी से मन पहले है क्योंकि जिस वस्तु को मन से उपलब्ध किया जाता है उसी को वाणी से कहा जाता है। वाणी मन द्वारा धारित कही गयी है क्योंकि यदि मन न हो तो असम्बद्ध उच्चारण होगा। इस प्रकार समस्त व्यवहार वाक् के और वाक् मन के अधीन है।

(ख) मनोयोग ही सभी ज्ञानों और क्रियाओं का मूल है -

न ह्ययुक्तेन मनसा किंचन सम्प्रति शक्नोति कर्तुम्।
(शतपथ ब्राह्मण 6/3/1/14)

अर्थात् एकाग्र मन के बिना वर्तमान काल में भी पुरुष कुछ नहीं कर सकता। व्यवहार में लोग कहते हैं कि मेरा मन अन्यत्र था, अत: देखा या सुना नहीं। फलत: मन ही देखता और मन ही सुनता है।

(ग) प्राण और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है

अर्धभाग् वै मन: प्राणानाम्। (षडविंश ब्राह्मण 1/5)
मनसि वै सर्वे प्राणा: प्रतिष्ठिता:। (शतपथ ब्राह्मण 7/5/2/6)

अर्थात् मन प्राणों का अर्धभागी है क्योंकि उसी में सभी प्राण प्रतिष्ठित हैं। तात्पर्य यह कि मन ही प्राणों तथा उस के अधीन इन्द्रियों का प्रेरक है। प्राण इन्द्रियपर्याय है।

(घ) हृदय, मन और आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है --

कस्मिन्नु मन: प्रतिष्ठितम् ? हृदय इति। (शतपथ ब्राह्मण 14/6/9/25)

मनसि ह्ययमात्मा प्रतिष्ठित: । (वही 6/7/1/21)

अर्थात् मन हृदय में और आत्मा मन में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार हृदयगोलक दोनों का अधिष्ठान माना गया है।

(ङ) विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा और चन्द्रमा से व्यष्टिमनस् की उत्पत्ति और उन के सम्बन्ध का विवरण सुलभ है -

चन्द्रमा मे मनसि स्थित: । (तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/10/8/5)

यत् तन्मन एष स चन्द्रमा: । (शतपथ ब्राह्मण 10/3/3/7)

अर्थात् मेरे मन में चन्द्रमा स्थित है। मन चन्द्रमा ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को विविध परिप्रेक्ष्यों से विवेच्य बनाया गया। उस विवेचनका फलित रूप उपनिषदों में सुलभ है।

उपनिषद् -

केनेषितं पतति प्रेषितं मन: । (केन उपनिषर्द 1/1)

अर्थात् किस के द्वारा प्रेरित हो कर मन गति लेता है, यह प्रश्न मन की खोज में न हो कर मन्ता या मननकर्ता का अनुसन्धान चाहता है -

मन्ता ..... विज्ञानात्मा पुरुष: । (प्रश्न उपनिषद् 4/9)

अर्थात् विज्ञानात्मा पुरुष मन्ता है।

मनश्च मन्तव्यं च। (प्रश्न उपनिषद् 4/8)

अर्थात् मन का विषय मन्तव्य होता है। मन्ता पुरुष मनोभिमानी हो कर मनोमय कहा जाता है -

मनोमय: प्राणशरीरनेता। (मुण्डकोपनिषद् 2/2/8)

अर्थात् मनोमय आत्मा प्राणों (इन्द्रियों) तथा शरीर का नियन्ता है। मन तथा वाक् के सम्बन्ध में कहा गया है -

मनो वाव वाचो भूय: । (यथा वै द्वे आमलके द्वे वा कोले द्वौ)

वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येव वाचं च नाम च मनोनुभवति। स यदा

मनसा मनस्यति ...... अधीते, कर्माणि ..... कुरुते .... इच्छति।

मनो ह्यात्मा। मनो हि लोक: । मनो हि ब्रह्म। (छांदोग्य उपनिषद् 7/3/1)

अर्थात् मन वाणी से बढ़ कर है। जिस प्रकार दो आँवलों या बेरों या दो बहेड़ों का मुट्ठी स्पर्श से अनुभव कर लेती है उसी प्रकार मन वाणी और नाम को अनुभव करता

है। पुरुष जब मन से व्याप्त होता है तभी अध्ययन, कर्म और इच्छा करता है। इसीलिए पुरुष का स्थान ले कर मन को आत्मा, लोक एवं ब्रह्म कहा जाता है।

संकल्पो वाव मनसो भूयान्। यदा वै संकल्पयतेथ मनस्यति, अथ वाचमीरयति। (वही 7/4/1)

अर्थात् संकल्प मन से बढ़ कर है क्योंकि पुरुष जब संकल्प करता है तभी मनोव्यापार या मनस्या करता और शब्द बोलता है। यहाँ संकल्प को मनस्या के समान अन्तःकरणवृत्ति माना गया है। वृत्ति से पृथक् मन की उपलब्धि न होने से उसे बढ़ कर कहा गया है। आगे संकल्प को चित्त के अधीन बता कर कारण दिया गया है कि चेतनारूप चित्तव्यापार के बिना संकल्पन असंभव है और उस के बिना मनस्या नहीं हो सकती। मनस्यारूप मनः प्रवृत्ति और संकल्प मूल मनोवृत्तियां है जिन के अधीन मन का स्वरूप ज्ञेय बनता है। पञ्चब्रह्मविद्या में मन भी एक ब्रह्म है -

मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तैत्तिरीय उपनिषद् 3/4)

अर्थात् मन से ही भूत उत्पत्ति एवं जीवन प्राप्त कर के उसी में लय लेते है, अतः मन ब्रह्म या बृहत् है। स्वप्न की समस्त सृष्टि मानसी रचना होती है। जब संकल्पवृत्ति जन्म लेती है तब मन का जन्म माना जाता है। दूसरे शब्दों में अन्तःकरण की संकल्पवृत्ति ही मन है, अतः अमनस्क पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता। परन्तु इस मुख्य स्थापना के विपरीत मन के बिना ही इन्द्रियादि वृत्तियों को संभव कहा गया है -

बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन, वदन्तो वाचा, पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण (जीवन्ति)। (छांदोग्य उपनिषद् 5/11/)

अर्थात् मनोरहित छोटे बच्चे साँस लेते, बोलते, देखते तथा सुनते हुए जीते हैं। यहाँ मन के परिपक्व न होने का आशय है क्योंकि उस की उत्पत्ति इन्द्रियों से पूर्व मानी गयी है।

वेदों से उपनिषदों तक का चिन्तन समविष्ट से व्यष्टि की ओर को हुआ है। इसी लिए मनःसमष्टि को ब्रह्म कहा गया है। सापेक्ष दृष्टि का मन ही विधाता है क्योंकि उस की वृत्ति ही प्रेरक तथा नियामक है। इसीलिए इन्द्रियों की वश्यता में मन की एकाग्रता अपेक्षित मानी गयी है -

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ (कठोपनिषद् 3/5)

अर्थात् जो विज्ञानी नहीं होता और जिस का मन एकाग्र नहीं रहता उस के इन्द्रिय उसी प्रकार वश में नहीं रहते जिस प्रकार सारथि के दुष्ट अश्व। यह मन विराट् मन की प्रसूति है जिस की प्रक्रिया इस प्रकार है -

हृदयं निरभिद्यत। हृदयान् मन:। मनसश्चन्द्रमा:। (ऐतरेय उपनिषद् 1/1/4)

चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। (वही 1/2/4)

अर्थात् विराट् के हृदय के स्फुटित होने पर उस से मन प्रकट हुआ और मन से चन्द्रमा। व्यष्टिपुरुष के हृदय में चन्द्रमा ने मनोरूप से प्रवेश किया।इस से मन के उत्पन्न होने की वैदिक मान्यता स्पष्ट होती है जिसके अनुसार मन का अधिष्ठान हृदय है और देवता चन्द्र।

गीता -

इन्द्रियाणिं पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे: परतस्तु स:॥ (3/42)

अर्थात् शरीर तथा बाह्य विषयों से पर इन्द्रिय, उनसे पर मन, उससें बुद्धि और बुद्धि से पर आत्मतत्त्व हैं। यहाँ मन को इन्द्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठ बताने से स्पष्ट है कि मन ही उन का परिचालक हैं और मन पर बुद्धि का नियन्त्रण रहता है। एकादशक में मन की श्रेष्ठता बताते हुए कहा गया है -

इन्द्रियाणां मनश्चास्मि। (10/22)

अर्थात् इन्द्रियों में मन ईश्वर है। जीव या आत्मा मन का भी चालक है –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।
मन: षष्ठानीनिन्द्रयाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥ (15/7)

अर्थात् ईश्वरांश जीव मन सहित इन्द्रियों को चालित करता है। मन की नियामकता पर प्रकाश डालते हुए कर्मयोग प्रतिष्ठित किया गया है -

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेर्जुन।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त: स विशिष्यते॥ (3/7)

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों को मन द्वारा वश में कर के कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग सम्पादित होता है।

मन का स्वामित्व इसमें है कि उस के बिना इन्द्रियों की वृत्ति असंभव है परन्तु विषयेन्द्रिय-संयोग में मन का आन्तरिक सहयोग हो जाने के पश्चात् इन्द्रियों द्वारा मन का विषयों की ओर अपहरण होता है और तब मन इन्द्रियालोचित विषय के संकल्पन-विकल्पन का कार्य करने लगता है -

यततो ह्यपि कौन्तये पुरुषस्य विपश्चित:।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:॥ (2/60)
इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुनविमिवाम्भसि॥ (2/67)

अर्थात् पुरुष कितना भी विद्वान् हो और यत्न करता रहे किन्तु मन्थनशील

इन्द्रिय मन का बलात् अपहरण करते हैं। यह मन की वह स्थिति है जब वह विषयगामी इन्द्रियों का अनुसरण करने लगता है और तब वह मन पुरुष की बुद्धि को इस प्रकार उड़ा ले जाता है, जैसे - जल में नाव को वायु।

यहाँ मन की दो वृत्तियां स्पष्ट हैं। 1. वह इन्द्रियों को स्वसंयोग द्वारा विषयाभिमुख चालित करता है और 2. वह इन्द्रियों द्वारा आलोचित विषयों का संकल्प-विकल्प करता हुआ इन्द्रियानुचर बनता है। अतएव कहा गया है -

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ (6/35)

अर्थात् इस में सन्देह नहीं कि चञ्चल होने से मनोविग्रह कठिन है किन्तु अभ्यास एवं वैराग्य से उस वश में किया जाता है। अभ्यास की व्यवस्था इस प्रकार है

यतो यतो निश्चरति मनश्चन्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (6/26)

अर्थात् चल मन जिस जिस ओर जाये उस उस ओर से उसे संयत कर आत्मा में लगाना चाहिए। वैराग्य का वर्णन द्रष्टव्य है -

संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वाण्यशेषत:।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्तत: ॥
शनै: शनैरूपरभेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मन: कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ (6/24-25)

अर्थात् संकल्पजनति सभी एषणाओं को सब ओर से छोड़ कर मन द्वारा इन्द्रियों को संयत कर बुद्धि द्वारा वशीकृत मन से इन्द्रियों को अपने वश में कर के तथा मन को आत्मनिष्ठ बना कर धीरे-धीरे विषयों से उपरत होना चाहिए।

महाभारत -

महाभारत का सांख्यीय सन्दर्भ एकादश इन्द्रियों में मन को लेकर उसे अहंकारप्रसूत बताता है -

एकादश च यान्याहुरिन्द्रियाणि विशेषत:।
अहंकारप्रसूतानि तानि ...... ॥ (आश्वमेधिक 42/12)
उभयत्र मनो ज्ञेयं बुद्धिद्धदिशामी भवेत्॥ (वही 42/16)

अर्थात् ग्यारह इन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न हैं जिन में मन कर्मेन्द्रिय तथा बुद्धीन्द्रिय उभयरूप है अथवा दोनों में निहित रह कर क्रियाकारी होता है। मन का स्वरूप एवं महत्व इस प्रकार है -

भूतानामथ पञ्चानां यथैषामीश्वरं मन:।
नियमे च विसर्गे च भूतास्मा मन एव च॥
अधिष्ठाता मनो नित्यं भूतानां महतां तथा (वही 50/1-2)

अर्थात् पाँचों भूतों का स्वामी मन है, अत: उन के नियमन एवं विसर्ग (तात्त्विक सृष्टि से अनन्तर होने वाले कार्यों) में मन ही अधिष्ठाता है।यह अधिष्ठातृत्व मनोब्रह्मवाद का आधार है क्योंकि उस की आधारभूत इच्छावृत्ति के बिना किसी करण या कारण द्वारा कोई ज्ञान या क्रिया असंभव है।

इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मन: सारथिरेव च।
बुद्धि-संयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथ: ॥ (वही 50/5)

अर्थात् शरीर ब्रह्मरथ है जिस में इन्द्रियाश्व जुते है, मन सारथि और बुद्धि बन्धन है।

नवद्वारं पुरं विद्यात् त्रिगुणं पञ्चधातुकम् ॥
एकादश-परिक्षेपं मनो व्याकरणात्मकम्। (वही 36/1 - 2)

अर्थात् शरीर-नगर में नौ छिद्र हैं। वह तीन गुणों से बद्ध एवं पन्चभूर्तों से धारित हैं। एकादश इन्द्रिय खाइयाँ हैं जिन में मन अपनी विश्लेषणवृत्ति से प्रधान है।

वाईसवें अध्याय के उनतीस पद्यों में कथा द्वारा इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध व्यवस्थित किया गया है। कहा गया है कि इन्द्रिय इन्द्रियान्तर का विषयग्रहण नहीं करता। मन एकाकी किसी बाह्य विषय का ग्राहक नहीं है, परन्तु -

घ्राण जिह्वा च चक्षुश्च त्वक् श्रोत्रं बुद्धिरेव च।
संशयान् नाधिगच्छन्ति मनस्तानधिगच्छति ॥ (वही 22/11)

अर्थात् पांचों बुद्धीन्द्रिय अपने-अपने विषयों के ग्राहक होते हुए भी संशयों का ज्ञान नहीं करते जिन का एकमात्र ज्ञाता मन है। तात्पर्य यह है कि विषयालोचन-मात्र निश्चय नहीं है। बुद्धि द्वारा अवधारित विषय में संशय उदित होते हैं जिन का ग्राहक मन है अथवा मन की वृत्ति संशय है। इस के आगे मन का इन्द्रियों के साथ संवाद चलता है जिस में मन कहता है कि मेरे बिना कोई इन्द्रिय अपना कार्य नहीं कर सकती। इस से स्पष्ट होता है कि मन सभी इन्द्रियों का सहकारी है। इन्द्रियों का उत्तर लम्बा है जिसके अनुसार उन के द्वारा समर्पित विषयों का अनुधावन मन करता रहता है, स्वतन्त्ररूप से वह विषयग्रहण में असमर्थ है -

विषयानेवमस्माभिर्दर्शितानाभिमन्यसे ।
अनागतानतीतांश्च स्वप्ने जागरणे तथा ॥ (वही 22/25)

अर्थात् इन्द्रियों द्वारा अर्पित विषयों को वर्तमान में मन उपलब्ध करता या मनन में लाता है। उन्हीं को अतीत, अनागत, स्वप्न एवं जागरण में आलम्बन बनाता है। तात्पर्य यह है कि अतीत तथा अनागत में मन ही उपलब्धि का साधन है। स्वप्न उसी की सृष्टि है। परन्तु जाग्रत् में इन्द्रियों के साथ जिन का अनुभव हो चुकता है उन्हीं के अनुसार मानसी वृत्ति चलती है। इन्द्रियों से सर्वथा स्वतन्त्र वृत्ति का भागी मन नहीं हो सकता।

वैमनस्यं गतानां च जन्तूनामल्पचेतसाम्।

अस्मदर्थ-कृते तेषां दृश्यते प्राणधारणम्॥ (वही 22/26)

अर्थात् जो जीव विमनस्क या विक्षिप्त हो जाते हैं अथवा जिनमें चित्त की न्यूनता के कारण मन सक्रिय नहीं होता वे सब केवल इन्द्रियों की सेवा हेतु कार्य कर के जीते है। तात्पर्य यह कि मन प्राणधारण का साधन नहीं है।

बहूनपि हि संकल्पवान् मत्वा स्वप्नानुपास्य च। (वही 22/29)

अर्थात् संकल्पात्मक मनन, स्वप्नजन्य विषयोपासन् तथा विषयभोगों की इच्छा मन के कार्य हैं।

प्राणक्षये शान्तिमुपैति नित्यं

दारुक्षयेग्निर्ज्वलितो यथैव॥ (वही 22 / 28)

अर्थात् सभी इन्द्रियों के समान मन की वृत्ति प्राणाधीन है। प्राणों के क्षीण होते ही मन शिथिल हो कर शान्त हो जाता है, जैसे, काष्ठ के समाप्त होने पर अग्नि।

योगवासिष्ठ -

बुद्धिः संकल्पकलिता प्रयाति मनसः पदम्। (योगवासिष्ट 4/42/24)

अर्थात् संकल्पवृत्ति से गुम्फित बुद्धि का नाम मन है। बुद्धि के परिणामरूप मन का सिद्धान्त पातन्जलियोगानुगत देखा जाता है। परन्तु यहाँ मन को तत्त्वरूप में नहीं माना गया है -

मनो हि भावनामात्रं भावना स्पन्दधर्मिणी। (3/95/1)

अर्थात् मन भावनामात्र है और भावना का धर्म स्पन्द या स्फुरण है। इस स्पन्द से पृथक् मन की कोई सत्ता नहीं है।

भावः सदसतोर्मध्ये नृणां चलति यश्चलः।

कलनोमुखतां यातस्तद्रूपं मनसो विदुः॥ (3/95/4)

अर्थात् मनुष्यों में सत् तथा असत् के मध्य विकल्परूप भाव चञ्चलरूप से चला करता है। वही जब गुम्फन प्राप्त कर एकरूपता में लिया जाता है तब मन का स्वरूप बनता है। तात्पर्य यह है कि चञ्चल भावसंघात के अतिरिक्त मन की कोई सत्ता नहीं है।

कल्पनात्मिकया कर्मशक्त्या विरहितं मनः।

न संभवति लोकेस्मिन् गुणहीनो गुणी यथा॥ (3/95/6)

अर्थात् कल्पनारूप कर्मशक्ति (क्रियाशक्ति) को निकाल देने पर मन की कोई लौकिक सत्ता संभव नहीं, जैसे, गुणहीन गुणी की कल्पना नहीं हो सकती। मन चिति का ही कल्पित रूप है -

जड़ाजड़ दृशोर्मध्ये दोलारूपं स्वकल्पनम्।
यच्चितो म्लानरूपिण्यास्तदेतन्मन उच्यते॥
मन इत्युच्यते राम न जड़ं न चिदात्मकम्॥ (3/96/40-41)

अर्थात् म्लान स्वरूप वाली चिति जड़ तथा अजड के मध्य में अपने को कल्पित करती है और वही मन है जो न जड़ है न चित्।

जड़ाजड़ं मनो विद्धि संकल्पात्म बृहद्वपु:।
अजड़ं ब्रह्मरूपत्वाज्जड़ं दृश्यात्मतावशात्॥ (3/91/31)

अर्थात संकल्परूप व्यापक मन ब्रह्म रूप से अजड़ और दृश्यरूपवश जड़ कहा जाता है।

यथा गच्छति शेलूषां रूपाण्यलं तथेव हि।
मनो नामान्यनेकानि धत्ते कर्मान्तरं व्रजन्॥ (3/96/43)

अर्थात् जिस प्रकार नट विविध रूप ग्रहण करता है उसी प्रकार विभिन्न कर्म प्राप्त करके मन विविध नाम धारण करता है —

मन: पश्यन् भवत्यक्षि शृण्वच्छ्वणतां गतम्।
त्वग्भावं स्पर्शनादेति घ्राणतामेति जिघ्रणात्॥
रसनाद् रसनामेति विचित्रास्तत्र वृत्तिषु।
नाटके नटवद् देहे मन एवानुवर्तते॥ (3/110/18-19)

अर्थात् देखने, सुनने, छूने, सूँघने और चखने की वृत्तियों को प्राप्त कर मन ही नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण एवं रसना का रूप धारण करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि इन्द्रियों की पृथक् व्यवहारसत्ता नहीं है किन्तु -

जिते मनसि सर्वैव विजिता इन्द्रियावलि:।
शीर्यते च यथा तन्तौ दग्धे मौक्तिकमालिका॥ (3/110/25)

अर्थात् जिस प्रकार धागे के जल जाने पर माला बिखर जाती है उसी प्रकार मन को जीतने पर इन्द्रियों पर स्वत: विजय हो जाती है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों को भी ग्रथित रखकर मन ही विविध कार्य करता है -

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुष: पर:।
मन: कृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम्॥ (3/89/1)

अर्थात् सारा प्रपञ्च संकल्पनगर अथवा गन्धर्वनगर के समान असत् है जिसे मन द्वारा फैलाया गया है। वही जगत्कर्ता परम पुरुष है। लोक में सब कुछ मन का किया हुआ है, शरीर का किया हुआ कुछ नहीं।

एवं हि मनस: कर्म कर्मबीजं मन: स्मृतम्।
अभिन्नेव तयो: सत्ता यथा कुसुमगन्धयो:॥ (4/11/19)

अर्थात् मन का कर्म संसार है और सांसरिक कर्म का बीज भी मन है, अत: कुसुम गन्धवत् मन एवं कर्म में अभेद हैं - वृत्तिहीन मन की कल्पना नहीं हो सकती।

अङ्कुरस्य यथा पत्रलतापुष्पफलश्रिय: ।
मनसोऽस्य तथा जाग्रत्स्वप्नविभ्रमभूमय: ।। (3/110/46)

अर्थात् जिस प्रकार अङ्कुर के प्रसवपत्र से फल पर्यन्त होते हैं उसी प्रकार जाग्रत, स्वप्न और भ्रम मन की भूमिकाएं हैं।

मध्ये यदेतदर्थस्य प्रतिभानं प्रथां गतम् ।
सतो वाप्यसतो वापि तन्मनो विद्धि नेतरत् ।।
यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ।
अन्यन्न किंचिदप्यस्ति मनो नाम कदाचन ।।
संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पात् तन्न भिद्यते ।
यथा द्रवत्वात् सलिलं तथा स्पन्दो यथानिलात् ।। (3/4/41-43)

अर्थात् सत् या असत् अर्थ का प्रतिभास ही मन है। वह संकल्पन से उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार द्रवत्व से जल और स्पन्द से वायु।

चित्ताहंकारयोर्द्वित्वं वचस्यस्ति न वस्तुत: ।
यच्चित्तं स ह्यहंकारो योऽहंकारो मनो हि तत् ।।

अर्थात् चित्त तथा अहंकार का भेद वाचिक है, वास्तविक नहीं क्योंकि चित्त ही अहंकार और अहंकार ही मन है। यह स्थापना परिणाम एवं विवर्त दोनों दृष्टियों से योग्य है क्योंकि मन अहंकार का परिणाम अथवा विवर्त है।

भागवत -

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मय: ।।
अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तेजसाद् देवता आसन्नेकादश च वेकृतात् ।। (11/24/7-8)
वैकारिकाद् विकुर्वाणान्मनस्ततत्त्वमजायत ।
यत् संकल्पविकपाभ्यां वर्तते कामसंभव: ।
यद् विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामध्वीश्वरम् ।। (3/26/27-28)

अर्थात् अहंकार तीन व्यूहों में विभक्त है - वैकारिक, तेजस एवं तामस। तामस से भूतों की, तैजस से इन्द्रियों की ओर वैकृत से मन तथा एकादश अधिष्ठाता देवताओं की उत्पत्ति हुई। विकारप्राप्त वैकारिक से मनस्तत्त्व हुआ जो काम (प्रद्युम्न) से प्रसूत है और जिस की संकल्प-विकल्प वृत्तियां हैं। इन्द्रियों के अधिपति मन को अनिरुद्ध कहा गया है। औपनिषद सन्दर्भ में देखा गया है कि प्रजापति ने अपने मन से

चन्द्रमा को उत्पन्न किया और चन्द्रमा से व्यष्टिमनस् की उत्पत्ति हुई। यह विवरण प्रकारान्तर से यहाँ भी आया है। (3/26/53-68)।

श्रीमद्भागवत का यह दर्शन शुद्धाद्वैतवेदान्त में विशेष व्याख्या पाता है जिसे यथावसर देखा जायगा।

व्याकरणदर्शन -

सत्तारूप चिन्मय वाग्ब्रह्म मनोभाव (मनोरूपता) ग्रहण करता है यह व्याकरण की स्थापना है। बाह्य शब्द भी उसी का विवर्त है -

अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थित:।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥
स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागत:।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते॥ (वाक्यपदीय 1/112 - 13)

अर्थात् शरीर के भीतर चिन्मय ज्ञाता आत्मा सूक्ष्म या परा वाक् के रूप में स्थित है जो अपने स्वरूप को व्यक्त करने हेतु स्थूल शब्द का विवर्त लेता है। इस प्रक्रिया में वह अपने तेजोमयत्व से पारिपाक लेकर मनोरूप धारण करता है और मन हो, कर प्राण वायु में प्रवेश करता है इत्यादि। स्वोपज्ञ वृत्ति में पाणिनीय शिक्षा का उद्धरण दिया गया है -

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन: कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥

अर्थात् बुद्धि से अर्थों को संयुक्त कर आत्मा मन को विवक्षा से जोड़ता है, मन शरीरवर्ती अग्नि को आघात देता है जिससे वायु प्रेरित हो कर वर्णोत्पत्ति का कारण बनता है। तात्पर्य यह है -

1. मन आत्मा या ज्ञाता की प्रेरणा से कार्य करता है।
2. इच्छा मूल मनोवृत्ति है जो शब्दोच्चारण के सन्दर्भ में विवक्षा नाम पाती है। अन्य इन्द्रियों के साथ दिदृक्षा, शुश्रूषा आदि वृत्तियां होंगी जिन का निमित्त मन है।
3. मन प्राणों का प्रेरक है।
4. मन से पूर्व बुद्धि का कार्य है जो ज्ञेय पदार्थ को समवेत रूप में प्रस्तुत करती है।
5. वस्तुत: बुद्धिविपरिणाम के वृत्त में मन का कार्यक्षेत्र है।

आयुर्वेद दर्शन -

मनो मनोर्थो बुद्धिरात्मा चेति अध्यात्मद्रव्यसंग्रह: शुभाशुभप्रवृत्ति – निवृत्तिहेतुश्च। द्रव्याश्रितं च कर्म यदुच्यते क्रियेति। (चरक संहिता-सूत्रस्थान 8/13)

अर्थात् आन्तरिक द्रव्यों तथा गुणों का संग्रह चार में किया जाता है - मन, मनोर्थ (मनोविषय), मनोबुद्धि और आत्मा। यह संग्रह शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति का कारण है। कर्म अथवा क्रिया द्रव्याश्रित है जो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति के रूप में देखी जाती है।

जिस प्रकार इन्द्रिय के विवेचन में इन्द्रियार्थ और इन्द्रियबुद्धि का समावेश है उसी प्रकार यहाँ भी किया गया है। आत्मा मुख्य है जिसे मन का प्रेरक माना गया है क्योंकि प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का वही कर्ता है।

मनसस्तु चिन्त्यमर्थः। तत्र मनसा मनोवुद्धेश्च त एव समानातिहीन -
मिथ्यायोगाः प्रकृतिविकृतिहेतवो भवन्ति। (वही 8/16)

अर्थात् मन का विषय चिन्त्य अर्थ है। मन तथा मनोबुद्धि के प्रकृतिस्थ रहने का कारण समानविषययोग माना गया है जो पुरुष की प्रकृति के सात्म्य में आता है। अतियोग, हीनयोग एवं मिथ्यायोग से दोनों में विकृतियां आती हैं। विषययोग का मन तथा मनोबुद्धि (मानस बोध) के लिए विशेष महत्त्व है। अन्य ज्ञातव्य इस प्रकार हैं -

(क) लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते॥
वेवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते।
(वही, शारीर 1/18-19)

अर्थात् ज्ञान का भाव (होना) और अभाव (न होना) मन का लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होने पर भी यदि मन अन्यासक्त हो तो ज्ञान नहीं होता किन्तु मनःसन्निकर्ष से होता है। इस प्रकार ज्ञानमात्र का मूल असाधारण कारण मन है।

(ख) अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ॥ (वही 1/19)

अर्थात् मन के दो गुण हैं-अणुत्व तथा एकत्व। चक्रपाणिदत्त ने स्पष्ट किया है कि मन के शरीरव्यापी होने पर एक साथ सभी इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होना चाहिए। वैसा न होने से सिद्ध है कि मन परमाणुरूप है और वह जब जिस इन्द्रिय से संयुक्त होता है तब उसी के विषय का ग्रहण देखा जाता है। यदि अनेक मन हों तो एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होना चाहिए। वैसा न होने से मन का प्रतिपुरुष एकत्व प्रमाणित है। सांख्य का मन अणुरूप नहीं है, यह यहाँ विशेषता है।

(ग) चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ (वही 2/20)

अर्थात् मनोर्थ वह है जो कुछ मन का ज्ञेय है। मुख्य मनोर्थ चिन्तनीय, विचारणीय, ऊहनीय, ध्येय तथा संकल्पनीय है जिनके सम्बन्ध से चिन्ता आदि वृत्तियां उत्पन्न होती हैं।

(घ) इन्द्रियाभिग्रह: कर्म मनस: स्वस्य निग्रह: ।
ऊहो विचारश्च तत: परं बुद्धि: प्रवर्तते ॥ (वही 1/21)

अर्थात् इन्द्रियों को अधिष्ठान, मन द्वारा अपना निग्रह, ऊह और विचार मन के वृत्तिरूप कर्म हैं। इसके अनन्तर अध्यवसायवृत्ति में बुद्धि प्रवृत्त होती है।

(ङ) इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन ग्रह्यते ।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोथवा ॥ (वही 1/22)

अर्थात् पहले मन: संयुक्त इन्द्रिय द्वारा विषय का ऊहात्मक या निर्विकल्पक ग्रहण होता है, तत्पश्चात् मन गुणत: ग्राह्यरूप से और दोषत: त्याज्यरूप से कल्पित करता है जो सविकल्पक ज्ञान हैं।

सारांशत: आयुर्वेद-दर्शन मन, मनोर्थ, मन:कर्म और इन्द्रियमन: सम्बन्ध को ले कर विचार करता है।

बुद्धीन्द्रियाणि..... पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। उभयात्मकं मन: ।

(सुश्रुत संहिता - शारीर 1/6)

अर्थात् मन बुद्धीन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय उभयरूप है क्योंकि सभी इन्द्रियों के साथ मन तद्रूप हो कर कार्य करता है।

सांख्य योगदर्शन -

सांख्य तथा योग दर्शनों में मन की उत्पत्ति अहंकार अथवा अस्मिता के परिणामरूप से मानी गयी है जो परिणामवाद तथा गुणपर्व शीर्षकों पर द्रष्टव्य है। सांख्य में ही मन के स्वरूप एवं कार्य पर विशेष विचार हुआ है जो उक्त आयुर्वेदीय विवेचन की प्राय: संगति में है।

उभयात्मकमत्र मन: संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्। (सांख्य कारिका 27)

अर्थात् मन साधर्म्यवश ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय उभयरूप है और अपनी विशेष संकल्पवृत्ति से संकल्पक है। युक्तिदीपिकाकार के अनुसार पाठान्तर इस प्रकार है -

संकल्पकमत्र मनस्तच्चेन्द्रियमुभयथा समाख्यातम्।
अन्तिस्त्रिकालविषयं तस्मादुभयप्रचारं तत् ॥

अर्थात् मन संकल्पक होने के साथ उभयात्मक इन्द्रिय है क्योंकि इस अन्त:करण की वृत्ति त्रैकालिक है, अत: वह दोनों प्रकार के इन्द्रियों - ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों - में गति लेता है। युक्तिदीपिका में विवेचन इस प्रकार है -

(क) संकल्पोभिलाष इच्छा तृष्णेत्यनर्थान्तरम्। संकल्पयतीति संकल्पकम् एतन्मनसो लक्षणम्।

अर्थात् मन का संकल्प कार्य या वृत्ति है और वही उस का लक्षण है। संकल्प, अभिलाषा, इच्छा एवं तृष्णा पर्यायशब्द है।

(ख) तस्मादस्य प्रत्यक्षतोनुपलभ्यमानस्यास्तित्वमवसीयते।
कस्मात ? व्यस्तसमस्तानामिन्द्रियान्तराणां तदसंभवात्।

अर्थात् संकल्पवृत्ति के आधार पर अप्रत्यक्ष मन के अस्तित्व का अनुमान होता है क्योंकि अन्य इन्द्रिय पृथक्-पृथक् अथवा समुदितरूप से संकल्प नहीं कर सकते।

(ग) निर्विषया प्राणादिवृत्तिः शब्दादिविषयस्तु संकल्पः।

अर्थात् प्राणों में मन का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि उनकी वृत्ति निर्विषय किन्तु मन की संकल्पवृत्ति सविषय होती है। वाचस्पति मिश्र ने उक्त कारिका की तत्त्वकौमुदी में कहा है -

सोयं संकल्पलक्षणो व्यापारो मनसः समानासमानजातीयाभ्यां
व्यवच्छिन्दन् मनो लक्षयति।

अर्थात् संकल्पवृत्ति मन को अन्य सजातीय अन्तःकरणों तथवा विजातीय बाह्य करणों से पृथक् करती है, अतः वही लक्षण है।

इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहंकारोपादानत्वं साधर्म्यम्।

अर्थात् सात्त्विक अहंकार के कार्यरूप होने से दसों इन्द्रियों से मन का साधर्म्य है, अतः मन इन्द्रिय है।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि मन अभौतिक तत्त्व है। इस का परिणाम शरीरव्यापी है। वह न्यायादिवत् परमाणुरूप नहीं है -

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा। (सांख्य सूत्र 5/69)

देहव्यापिज्ञानादिकं तु मध्यमपरिमाणेनैवोपपद्यत इति। (विज्ञानभिक्षु)

अर्थात् करण तथा इन्द्रिय होने से मन का व्यापकत्व मान्य नहीं है। ज्ञान शरीरव्यापी होता है जिसकी सिद्धि मध्यम परिमाण से ही हो जाती है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कुठारादि करण अव्यापक होते हैं उसी प्रकार मन भी इन्द्रिय एवं करण होने से मध्यपरिमाण है।

यहाँ विज्ञानभिक्षु ने "मन" से सम्पूर्ण अन्तःकरण का भी अर्थ लिया है जिस से सिद्ध होता है कि इस शब्द के प्रयोग सभी अन्तःकरणों के अर्थ में मान्य हैं। सांख्यसूत्र (1/71, 2/40) में बुद्धि के लिए "मनस" के प्रयोग हैं।

वैशेषिकदर्शन -

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोभावश्च मनसो लिङ्गम्।

(वैशेषिक सूत्र 3/2/1)

अर्थात् आत्मा, इन्द्रिय एवं विषय के सन्निकर्ष में भी ज्ञान कभी होता है किन्तु कभी नहीं होता। यह मनस् की अनुमिति का हेतु है। यदि मन के बिना भी ज्ञान की

उत्पत्ति होती तो त्रितयसामग्री के होने पर अवश्य होती किन्तु उस सामग्री रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान का अभाव देख कर अनुमान होता है कि त्रितय-सामग्री से भिन्न कोई अप्रत्यक्ष ज्ञानसाधन है और वही मन है। उसकी परमाणुरूपता सिद्ध करते हुए शंकर मिश्र ने उपस्कार में कहा है -

(क) यदि मनो विभु स्यात् तदा सर्वेन्द्रियसन्निकृष्टात् ततः सर्वेन्द्रियकमेकमेव ज्ञानं स्यात्।

अर्थात् मन के महापरिमाण या शरीरव्यापी होने पर सभी इन्द्रियों से सन्निकर्ष सदैव रहने के कारण एक साथ सभी ऐन्द्रिय विषयों का बोध होना चाहिए जो नहीं होता, अतः मन अणुपरिमाण है। वह जब जिस इन्द्रिय से संयुक्त होता हैं तब उसी के विषय का ग्राहक बनता है।

(ख) तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शान् युगपत् प्रत्येमीति कथमनुव्यवसाय इति चेन्न,शीघ्रसंचारि मनोजनितेषु पञ्चसु स्मृत्युपनीत-ज्ञानेषु योगपद्याभिमानात्।

अर्थात् रूपादि विषयों के एक साथ ज्ञान का अनुव्यवसाय इस कारण हो चलता है कि शीघ्र गति लेते हुए मन द्वारा जनित ज्ञान जब त्वरा में स्मृतिविषय होते हैं तब अभिमान हो चलता है कि सभी ज्ञान साथ-साथ हो रहे हैं। वस्तुतः वहां क्षणिक ज्ञानों की क्षणक्रम से स्मृति होती है।

(ग) किं च मनोवैभवे पादे मे मुखं शिरसि मे वेदनेति प्रादेशिकत्वं सुखादीनां न स्यात्।

अर्थात् सुखादि की प्रादेशिकता विभुत्व में नहीं सिद्ध हो सकती कि मेरे पैर में सुख या सिर में वेदना है।

(घ) तथापि सुखादीनामणुदेशापत्तिरिति चेन्न, निमित्तचन्दनाद्यवच्छेदादधिकदेशेपि जननाविरोधात्।

अर्थात् सुखादिप्रत्यय उसी प्रकार शरीर व्याप्त प्रतीत होते हैं जिस प्रकार चन्दन की बूँद एक प्रदेश में होते हुए भी समग्र शरीर को शैत्य प्रदान करती है।

(ङ) तस्माज्ज्ञानायौगपद्यान्य थानुपपत्तया सिध्यति अणु मनः।

अर्थात् उक्त कारणों से सिद्ध है कि मन अणुरूप है क्योंकि ज्ञानों के एक साथ न होने की अन्य प्रकार से व्याख्या नहीं हो सकती।

तस्य द्रव्यत्व-नित्यत्वे वायुना व्याख्याते (वैशेषिक सूत्र 3/2/2)

अर्थात् जिस प्रकार वायु गुणवान् एवं क्रियावान् होने से द्रव्य है उसी प्रकार मन भी गुणक्रियाधर्मी होने से द्रव्य है और परमाणुरूप होने से नित्य है।

इन्द्रियत्वं च ज्ञानकरणमनः संयोगाश्रयत्वम्। (उपस्कार)

अर्थात् मन इन्द्रिय है क्योंकि ज्ञानकरण मनः संयोग का वह आश्रय है जो इन्द्रिय लक्षण है।

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्। (वैशेषिक सूत्र 3/2/3)

अर्थात् सभी प्रयत्न तथा सभी ज्ञान एक साथ नहीं होते, अत: मन प्रतिशरीर एक ही होता है।

तदभावादणु मन: (वैशेषिक सूत्र 7/1/23)

अर्थात् सभी मूर्तद्रव्यों से संयोगी न होने से भी मन का अणुत्व प्रमाणित है क्योंकि व्यापक द्रव्य सभी मूर्तो से एक साथ संयोगी देखे जाते है, जैसे, आकाश। इस विषय में अन्य ज्ञातव्य इस प्रकार हैं -

(क) .... अणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। (वैशेषिक सूत्र 5/2/13)

अर्थात् अणुओं तथा मन की प्रथम क्रिया अदृष्ट द्वारा करायी जाती है। सृष्टि के प्रारम्भ में नोदन तथा आघात आदि असंभव रहते हैं, अत: प्रथम कर्म की व्याख्या अदृष्ट के आधार पर ही हो सकती है क्योंकि क्रिया के लिए प्रेरक आघातादि की अपेक्षा होती है।

(ख) हस्तकर्मणा मनस:कर्म व्याख्यातम्। (वैशेषिक सूत्र 5/2/4)

अर्थात् जिस प्रकार मुसल आदि उठाने में प्रयत्नशील आत्मा के संयोग से हाथ में क्रिया होती है उसी प्रकार आत्मसंयोगरूप असमवायिकारण की अपेक्षा से मन कर्मशील होता है।

(ग) आत्मेन्द्रियमनोर्थ-सन्निकर्षात् सुखदु:खे। (वैशेषिक सूत्र 5/15)

अर्थात् चतुष्टयसन्निकर्ष (+) से सुख अथवा दु:ख की उत्पत्ति होती है जिस में आत्मा से मन:संयोग प्रथम है।

(घ) तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दु:खाभाव: संयोग:। (वैशेषिक सूत्र 5/2/16)

अर्थात् जब मन कर्म का आरम्भ नहीं करता तब आत्ममात्रनिष्ठ या स्वरूपस्थ हो जाता है। उस दशा में शरीर में कोई दु:ख (+) नहीं होता। वही अवस्था चित्तवृत्तिनिरोधरूप सम्यक् योग है।

(ङ) अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगा: कार्यान्तरसंयोगाश्चेति अदृष्टकारितानि। (वही 5/2/17)

अर्थात् नीचे ऊपर गति, भोजन-पान-संयोग तथा अन्य कार्यों से संयोग अदृष्ट द्वारा कराये जाते हैं।

सूत्रों के अनुसार ऊपर जो विवेचन किया गया उस का संकलन प्रशस्त पाद ने इस प्रकार किया हैं -

1. मनस्त्वयोगान्मन:। (प्रशास्तपाद भाष्य, पृ. 216)

अर्थात् मनस्त्वजातिविशिष्ट द्रव्य को मन कहते हैं। मनस्त्व जाति की सिद्धि अनुमान से होती है।

2. सत्यपि आत्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूत्वोत्पत्ति दर्शनात् करणान्तरमनुमीयते। (वही)

अर्थात् चतुष्टयसन्निकर्ष में मन को छोड़ कर शेष त्रितय का संयोग होने पर भी ज्ञान एवं सुखादि की उत्पत्ति न होने से अनुमान होता है कि उन की उत्पत्ति में तीन के अतिरिक्त कोई अन्य करण है। यही करण मन है जिस के प्रति शरीर नाना होने से मनस्तत्व जाति सिद्ध होती है।

3. श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनाद् बाह्यन्द्रियैरगृहीतसुखादि - ग्राह्यान्तरभावाच्चान्त: करणम्। (वही, पृ. 217- 18)

अर्थात् मन अन्त:करण या आन्तरिक ज्ञानसाधन है क्योंकि श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों के निर्व्यापार होने पर भी स्मृति की उत्पत्ति होती है और जिन सुखादि आत्मगुणों का ग्रहण बाह्य इन्द्रियों से नहीं होता उन विषयान्तरों का ग्रहण मन से होता है।

4. तस्य गुणा: संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वा-परत्व-संस्कारा:। (वही, पृ. 22।)

अर्थात् संख्यादि आठ गुण मन में होते हैं जो सभी सामान्यगुण है। सूत्रों से इन गुणों की सिद्धि होती है -

5. प्रयत्नज्ञानायौगपद्यवचनात् प्रतिशरीरमेकत्वं सिद्धम्। (वही)

अर्थात् सूत्रकार ने कहा है कि प्रयत्न तथा ज्ञान एक साथ नहीं होते। इससे प्रतिशरीर मन की एकत्वसंख्या प्रमाणित है। जीवों की अनन्तता के कारण मन की संख्या अनन्त है।

6. पृथक्त्वमप्यत एव। (वही)

अर्थात् उक्त उपपत्ति से मन का पृथक्त्व भी प्रमाणित है।

7. तदभाववचनादणुपरिमाणम्। (वही, पृ. 223)

अर्थात् सूत्रकार ने व्यापकत्व का अभाव स्पष्ट कहा है, अत: मन अणुपरिमाण है।

8. अपसर्पणोपसर्पण-वचनात् संयोगविभागौ। (वही)

अर्थात् मन को उपर्सपणादि क्रियाओं वाला बताया गया है जिस से संयोग तथा विभाग गुण प्रमाणित हैं।

9. मूर्तत्वात् परत्वापरत्वे संस्कारश्च। (वही, 225)

अर्थात् मूर्त होने से परत्व, अपरत्व एवं संस्कार गुण मन में सिद्ध हैं।

10. अस्पर्शवत्त्वाद् द्रव्यानारम्भकत्वम्। (वही)

अर्थात् स्पर्शहीन होने से मन द्रव्यारम्भक नहीं होता–उस से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं होती।

11. साधारणविग्रहवत्त्व-प्रसंगादज्ञत्वम्। (वही)

अर्थात् मन चेतना होता तो शरीर सभी का साधारणभोगायतन होता—सभी जीव एक शरीर से चेतन मन द्वारा अपना उपभोग प्राप्त करते। वैसा न होने से मन की अज्ञता या अचेतनता अनुमित होती है।

12. करणभावात् परार्थम, गुणवत्त्वाद् द्रव्यम्, प्रयत्नादृष्टपरि-
ग्रहवशादाशुसंचारि चेति। (वही, पृ. 226)

अर्थात् करण होने से मन परार्थ है—अपने लिए कोई करण उद्यम नहीं करता किन्तु कर्ता के लिए उस की क्रिया होती हैं। गुणवान् होने के कारण मन का द्रव्यत्व सिद्ध है। प्रयत्न तथा अदृष्ट के अनुग्रह से वह त्वरित गति लेता है।

न्यायदर्शन -

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्। (न्याय सूत्र 1/1/16)

अर्थात् एक साथ सभी इन्द्रिय ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का ज्ञापक है। यदि पन्चेतर अन्तरिन्द्रिय न होता जो अपने संयोग-वियोग द्वारा ज्ञान के भावाभाव का सम्पादक है तो आम्रफलादि के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श का एक साथ प्रत्यक्ष होता।

ज्ञानोयौगपद्यादेकं मन:। (न्याय सूत्र 3/2/56)

अर्थात् प्रतिशरीर एक मन होता है जो जिस इन्द्रिय से संयुक्त रहता है उसी के विषय का ग्रहण कराता है। यदि अनेक मन एक शरीर में होते तो एक साथ अनेक इन्द्रियार्थसंयुक्त मनों द्वारा अनेक ज्ञान होते।

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धे:। अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसंचारत्।

(न्याय सूत्र 3/2/57 - 58)

अर्थात् जहाँ एक साथ अनेक क्रियाओं का प्रतिभास होता है वहाँ वैसा भ्रम तीव्र वेगशील मन के आशु संचार के कारण है, जैसे, अलातचक्र की अग्निशिखा निरन्तर न होते हुए भी भासित होती है। वात्स्यायन ने अन्य उदाहरण दे कर समझाया है –

वर्ण-पद-वाक्य-बुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम्। (भाष्य)

अर्थात् वर्ण, पद, वाक्य और उन के अर्थों की बुद्धियों के रहते हुए भी क्रम का ग्रहण त्वरावश नहीं हो पाता। उसी प्रकार अनेक ज्ञानों की क्षणश: उत्पत्ति इतनी शीघ्रता में होती है कि उन का योगपद्य भासित हो चलता है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु। (न्याय सूत्र 3/2/59)

अर्थात् ज्ञान के एक साथ न होने से यह भी सिद्ध है कि मन अणु है। यदि वह व्यापक होता तो सदैव सभी इन्द्रियों से संयुक्त रहने से सभी ऐन्द्रिय प्रतीतियों का योगपद्य पाया जाता।

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ (न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि 85)

अर्थात् अन्य इन्द्रियों के ज्ञान में सहकारी होने के अतिरिक्त आत्मा के सुखादि गुणों के ग्रहण का असाधारण कारण मन है जो ज्ञानों के एक साथ न होने के कारण अणुपरिमाण है।

मीमांसादर्शन (कुमारिल) -

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वार्थेन संगतिः।

मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा ॥ (श्लोक वार्तिक-प्रत्यक्ष 60)

अर्थात् मीमांसदर्शन के अनुसार ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण है किन्तु इस के अतिरिक्त पांच विकल्प स्वीकृत हैं - इन्द्रिय, इन्द्रियार्थसंयोग, इन्द्रियमनःसंयोग, आत्ममनःसंयोग अथवा चतुष्टयसंयोग। इन में से तीन में मनःसंयोग को प्रमाणघटक माना गया है। मनःसंयोग का अतिरिक्त स्थान है -

मनसस्त्विन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षा धीः सुखादिषु।

मनसा सम्प्रयुक्तो हि तान्यात्मा प्रतिपद्यते ॥ (वही 83)

अर्थात् मन इन्द्रिय है, अतः सुखादि का प्रत्यक्ष बोध होता है जिन्हें मनःसंयुक्त आत्मा उपलब्ध करता है। इस प्रकार मन अन्तरिन्द्रियरूप अन्तःकरण है जो सामान्यतः सभी प्रत्यक्षों का और विशेषतः सुखादि के आन्तरिक बोध का असाधारण है। यहाँ पुरुष ज्ञाता एवं कर्ता है क्योंकि कर्तृत्व माने बिना मन की व्याख्या नहीं हो सकती -

पुमानकर्ता येषां तु तेषामपि गुणः क्रिया।

कथमादौ भवेत् तत्र कर्म तावन्न विद्यते ॥

मिथ्याज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोपि वा।

मनो वृत्तिर्हि सर्वेषां न चोत्पन्नं तदा मनः।

(श्लोक वार्त्तिक, सम्बन्धाक्षेप 87-88)

अर्थात् सांख्यानुसार पुरुष यदि अकर्ता है तो सृष्टि के आदि में गुणों द्वारा क्रिया की क्या व्याख्या हो सकती है ? शुभाशुभ कर्मो, मिथ्याज्ञानरूप अविद्या और रागद्वेषादि क्लेशों का आदिकाल में अभाव होने से सृष्टि ही नहीं हो सकती क्योंकि कर्म एवं रागादि को सांख्यानुसार मन में आश्रित माना गया है किन्तु उस समय मन उत्पन्न ही नहीं था क्रिया रूप परिणाम स्यन्द ले कर प्रकृति महत् नाम से, महत् अहंकार रूप से और अहंकार मनोरूप से विकार लेते हैं। इस व्यवस्था को मानने पर आदिकाल में प्रकृति के निर्विकार होने से मन की सत्ता नहीं हो सकती।

इस प्रकार इस दर्शन में मन अहंकारिक अथवा भौतिक न हो कर नित्य द्रव्यरूप अनादि अन्तःकरण है। उस की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है -

मन:सद्भावे च सुखादिज्ञानमेव प्रमाणम्, अपरोक्षावभासज्ञानस्येन्द्रिया-धीनतया रूपादिज्ञानेषु व्याप्तिदर्शनात् सुखादिविषयमपरोक्षज्ञान -मिन्द्रियमनुमापयति। तत्र चक्षुरादीनामसंभवात् तेभ्योन्यदवतिष्ठते।

(शास्त्रदीपिका, पृ. 51 - 52)

अर्थात् मन की सत्ता में सुखादिज्ञान ही प्रमाण है क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान इन्द्रियाधीन होता है और सुखादिज्ञान अपरोक्ष है। रूपादिज्ञान के आधार पर व्याप्ति बनती है – सभी अपरोक्षज्ञान इन्द्रियाधीन हैं, जैसे, रूपज्ञान। अत: अनुमानवाक्य बनता है कि सुखादिज्ञान इन्द्रियजन्य है क्योंकि अपरोक्षज्ञान है। सुखादिग्राहक इन्द्रिय चक्षुरादि नहीं हो सकता, अत: षष्ठ इन्द्रिय मन सिद्ध होता है। प्राभाकरों ने अन्य रीति से अनुमानप्रक्रिया अपना कर मन की सिद्धि की है –

नित्यद्रव्यगत-विशेषगुणत्वात् सुखादीनां द्रव्यान्तर-संयोगजन्यत्वम्, पार्थिवपरमाणुगत-रूपादीनाम् अग्निसंयोगजत्वदर्शनात्। यच्च द्रव्यान्तरं तन्मन:। (वही, पृ. 52)

अर्थात् प्रभाकरमीमांसक व्याप्ति का अनुसन्धान अन्य प्रकार से करते हैं– सभी नित्यद्रव्यों के विशेषगुण अन्य द्रव्य के संयोग से जन्य होते है, जैसे, पार्थिव परमाणु के रूपादि अग्निद्रव्य के संयोग से जन्य हैं। सुखादि आत्मरूप नित्य द्रव्य के विशेष गुण हैं, अत: उन्हें भी अन्य द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होना चाहिए। जिस द्रव्यान्तर के संयोग से आत्मा के विशेषगुण जनित होते हैं वही मन है। यह कौमारिलों को अमान्य है -

तन्न युक्तम्। शरीरं हि भोगायनतम्। किं तस्य भोगायतनत्वमन्यत् तत्संयोगापेक्षसुखाद्युत्पत्ते: अशितपीताद्याधारत्वाच्च न बहि: शरीरात् सिद्धेर्न द्रव्यान्तरानुमानम्। (वही)

अर्थात् उक्त क्लिष्ट कल्पना व्यर्थ है क्योंकि शरीर भोगायतन है और भोगायतन स्वयंयोगसापेक्ष सुखादि की उत्पत्ति से कहा जाता है, भोजनपान का आधार होने से शरीर के भीतर ही सुखादि जन्म लेते हैं। ऐसी स्थिति में शरीरसंयोग से ही आत्मगत सुखादि की उपपत्ति हो जाती है। उससे द्रव्यान्तररूप मन की सिद्धि असंभव है। इस के अतिरिक्त व्याप्ति भी नहीं बन सकती –

किं च पार्थिव-गुणानामेव द्रव्यान्तरसंयोगापेक्षा दृष्टा, न द्रव्यमात्र गुणानाम्। तेज:संयोग एव च कारणतया दृष्टो न द्रव्यमात्रसंयोग:। तस्माद् नैवं मन: सिद्धिरिति सुखाद्यपरोक्षज्ञानमेव मनसो लिङ्गम्।

(वही, पृ. 52 - 53)

अर्थात् पार्थिव गुण ही द्रव्यान्तर के संयोग की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि वे पाकज

हैं। वह द्रव्यान्तर तेजोमात्र है, अन्य किसी द्रव्य के संयोग से पार्थिव परमाणुओं में रूपादि की उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा पार्थिव द्रव्य नहीं है और जिस द्रव्यान्तर के संयोग से सुखादि उत्पन्न होते हैं वह तेजोभिन्न हैं। अत: व्याप्ति के अनुपपन्न होने से प्रभाकरमत मन को नहीं सिद्ध कर पाता। अन्तत: यही मान्य है कि आत्मगुणों का अपरोक्ष ज्ञान मन का ज्ञापक है।

गागाभट्ट ने उक्त तथ्यों का संक्षिप्त आकलन करते हुए कहा है –

तच्चान्तरिन्दियं स्वातन्त्र्येणात्म-तद्योग्यगुणतद्गतजातिमात्रग्राहकं बाह्यविषयेषु तस्य स्वातन्त्र्याभावात्। (भाट्ट चिन्तामणि, पृ. 16)

अर्थात् मन अन्तरिन्द्रिय अथवा अन्त:करण है। बाह्य विषयों में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षसापेक्ष होने से वह परतन्त्र है किन्तु स्वतन्त्र रूप से आत्मा, आत्मगुण और तद्गत जाति का ग्राहक होता है।

कुतो न स्वातन्त्र्यमिति चेन्न, तस्यागुपरिमाणस्य देहाद् बहिर्भावा-भावेन सन्निकर्षासंभवात्। .... येपि तस्य विभुत्वमाहुस्तेषामपि देहावच्छिन्नस्येन्द्रियत्वाद् अस्वातन्त्र्याक्षति:। (वही)

अर्थात् बाह्य विषयों में मन के स्वतन्त्र न होने का कारण यह है कि अणुपरिमाण होने से देह के बाहर नहीं हो सकता, फलत: विषयसन्निकर्ष असंभव है। जो दर्शन मन को व्यापक मानते हैं उन के अनुसार भी देहावच्छिन्न मन ही इन्द्रिय है जो बहिर्गामी न होने से बाह्यविषयों में इन्द्रियान्तरपराधीन हैं।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्च मनसोणुत्वे प्रमाणम्। (वही)

अर्थात् एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने से मन के अणुत्व का अनुमान होता है। इस प्रकार यह दर्शन अधिकांश न्यायवैशेषिक का अनुसरण करता है।

भाट्ट मीमांसकों का एक वर्ग मन को विभुपरिमाण स्वीकार करता है। नारायण आचार्य उसी वर्ग में आते हैं। उन्होंने कहा है -

सुखाद्यापरोक्ष्य-साधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यमन्तरिन्द्रियं विभुपरिमाणम -स्पन्दं च मन:। (मान मेयोदय, पृ. 214)

अर्थात् सुखादि के अपरोक्षज्ञान के साधनरूप में अनुमित या अन्यथानुपपत्ति से कल्पित मन अन्तरिन्द्रिय है जो व्यापक एवं क्रियाशून्य है।

अणुपरिमाणं चञ्चलं च मन इति केचिदूचिरे, तदसंगतम्। मनो विभु स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद् अनारभ्यारम्भक-द्रव्यत्वाद् वा ज्ञानासमवायि - कारणसंयोगाधारत्वाद् वा आत्मवत् इत्यादिभिरनुमानैर्महत्त्वसिद्धे:। सिद्धे विभुत्वे चाकाशादिवदस्यन्दात्मकत्वमपि न पृथक् साध्यम्। (वही)

अर्थात् कुछ कुमारिलमीमांसक मन को परमाणुरूप एवं चन्चल बताते हैं जो असंगत है क्योंकि विभुत्वसाधक अनुमान है - स्पर्शायोग्य द्रव्य या अनारभ्य गुण के आरम्भक द्रव्य अथवा ज्ञान के असमवायिकारणरूप संयोगाधार द्रव्य होने से मन आत्मवत् विभु है। विभु होने से वह आकाशादिवत् स्पन्दरहित है।

> तस्य च विभुत्वं...तथापि शरीरावच्छिन्नस्येव तस्येन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेश एव कार्याणि करोति। रूपादिज्ञानेष्वपि लिङ्गादिसहायम्।
>
> (वही, पृ. 10 - 11)

अर्थात् विभु होते हुए भी मन का इन्द्रियत्व शरीरावच्छिन्न होने से शरीर में ही उस की कार्यकारिता है। रूपादि-प्रत्यक्ष में चक्षुरादिपरतन्त्र तथा अनुमान में लिङ्ग आदि के अधीन वह कार्य करता है।

गागाभट्ट आदि कौमारिलों की धारा विभुत्व को अमान्य करती है, अत: उन की ओर से उठाए हुए प्रश्नों का उत्तर देते हुए नारायण ने कहा है -

(क) यत् तावदुक्तं मनसोनुपहितस्य नेन्द्रियत्वमिति तदङ्गीकुर्म:। सकलशरीरोपाधित्वस्वीकारात्। (वही, पृ. 215)

अर्थात् प्रतिपक्ष का यह कहना कि अनुपहित मन इन्द्रिय नहीं हो सकता, मान्य है क्योंकि सकल शरीर की उपाधि से उपहित मन ही इन्द्रियत्व प्राप्त करता है।

(ख) न चैवं सति पादादिगताया वेदनाया: सार्वत्रिकत्वप्रसङ्ग:, मनसो बहिरिन्द्रियानुसारेणैव कार्यकरत्वस्वीकारात्। अतस्त्वगि-न्द्रियैक देशगतस्य स्पर्शस्य न सकलशरीरव्यापित्वप्रतीति:।

(वही, पृ. 215 - 16)

अर्थात् शरीरव्यापी इन्द्रियत्व मानने पर पैर आदि की पीड़ा का समग्र शरीर में अनुभव होने की अनुपपत्ति उठाना व्यर्थ है क्योंकि मन की बहिरिन्द्रियसपेक्षता उभयपक्षसंमत है, अत: त्वगिन्द्रिय के भाग के स्पर्श का शरीरव्यापी अनुभव नहीं होता।

(ग) अपि चाणुत्वे सकलशरीरगतस्य चन्दनादि-जनितस्य सुखस्य यौग-पद्यप्रतीत्यनुदयप्रसङ्गात्। (वही, पृ. 216)

अर्थात् मन को अणुरूप मानने में सकलशरीरगत चन्दनादि-स्पर्श-सुख की प्रतीति न होने की अनुपपत्ति आती है। यहाँ एक अन्य अनुपपत्ति उठायी जाती है कि जब आत्मा एवं मन विभु हैं तब उन के संयोग की व्याख्या असंभव है। उत्तर में कहा गया है -

(घ) विभूनामपि दिगाकाशादीनां प्राचीनाकाश: प्रतीचीनाकाश इति परस्परसम्बन्धस्य अध्यात्मतयाध्यवसीयमानत्वात्।
(वही, पृ. 219)

अर्थात् दिग् तथा आकाश आदि विभु द्रव्यों का भी परस्पर सम्बन्ध आन्तरिक या मानस रूप से अवधारित होता है, अत: पूर्वाकाश, पश्चिमाकाश जैसे प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार मन और आत्मा का शरीरावच्छेद से औपाधिक सम्बन्ध हो सकता है।

मीमांसादर्शन (प्रभाकर) –

सर्वशरीरेषु मनस्त्वक् चाविशिष्टमिन्द्रियद्वयम्। मनश्चान्त: शरीरं परमाणुपरिमाणम्। तत् खलु द्रव्यभूतं संयोगगुणभागितयेष्यते।

(प्रकरण पंचिका, पृ. 332)

अर्थात् सभी जीवित शरीरों में त्वक् एवं मन अविशिष्ट इन्द्रिय हैं– मन के साथ त्वक्संयोग ज्ञानमात्र का कारण है। शरीर के भीतर रहने वाला मन इन्द्रिय परमाणुपरिमाण है। संयोग गुण का आश्रय होने से वह द्रव्यरूप है। विभुत्ववादियो को उत्तर देते हुए शालिकनाथ मिश्र ने आगे कहा है।

न हि परममहतोरपरिस्पन्दयोरनवयवयोश्च संयोगोपपत्ति:।
त्रिविध एव हि संयोग:-अन्यतरकर्मज उभयकर्मज: संयोगजश्चेति।
तस्मात् परमाणुपरिमाणं मन:। (वही)

अर्थात् नि:स्पन्द एवं निरवयव विभु द्रव्यों (आत्मा तथा मन) में संयोग असंभव है क्योंकि तीन प्रकार का ही संयोग होता है-1. अन्यतरकर्मज, जैसे, वृक्षवानर संयोग वानर की क्रिया से जनित है, 2. उभयकर्मज, जैसे, दो मल्लों या भेड़ों का संयोग और 3. संयोगजसंयोग, जैसे, हस्तपुस्तक-संयोग से शरीरपुस्तकसंयोग। तीनों के क्रियाजन्य होने से निष्क्रिय विभुजों में संयोग असंभव है। अत: मन परमाणुपरिमाण है।

तत्व सदकारणत्वान्नित्यम्। आशुतरसंचारि च तत्, आशुतरेन्द्रि - याधिष्ठानदर्शनात्र्। न हि तदनधिष्ठितमिन्द्रियं स्वविषयमवसाय- यितुमलम्, अन्यत्र व्यासक्तचित्तस्य विषयान्तराप्रतीते:। (वही)

अर्थात् मन अकारण होने से नित्य है। वह तत्क्षण इन्द्रिय को अधिष्ठित करता है, अत: आशुगामी है क्योंकि मनोयोग के बिना इन्द्रिय द्वारा विषयग्रहण नहीं कराया जा सकता। देखा जाता है कि अन्य विषय में चित्त संलग्न हो तो अन्य विषय की प्रतीति नहीं होती।

तस्य मनसोनादिर्धर्माधर्मापेक्ष: क्षेत्रज्ञेन सह संयोग:।
देहान्तरसंयोगश्च तस्माददृष्टापेक्षादात्ममन: सन्निकर्षादुत्पन्नस्य कर्मण प्रसादेन। (वही)

अर्थात् आत्मा के साथ मन का अनादिसंयोग धर्माधर्मकृत है। पूनर्जन्म में देहान्तर से मन का संयोग भी अदृष्टकृत है।

अद्वैतवेदान्त -

सूक्ष्मशरीर एवं मनोमयकोश का घटक मन अन्त:करणों में अन्यतम है –

मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभि: । (विवेक चुडामणि 95)

अर्थात् संकल्प-विकल्प आदि वृत्तियों के आधार पर अन्त:करण को मन नाम से जाना जाता है।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतु: ।
तस्मिन् विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेस्मिन् सकलं विजृम्भते ।।

(विवेक चुडामणि 171)

अर्थात् मन से पृथक् अविद्या नहीं है। भवबन्ध का कारणभूत मन ही अविद्या है। मनोनाश में अविद्याजनित संसृति का नाश है और मन के उद्रेक से सभी क्लेश उद्रेक लेते हैं।

स्वप्नेर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत् सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ।।

(वही 172)

अर्थात् व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सृष्टियां मन की उपज है। जिस प्रकार अर्थशून्य स्वप्न में मन अपनी शक्ति से भोक्ता, भोग्य तथा भोग की प्रातिभासिक सृष्टि कर लेता है उसी प्रकार वह जगत् में व्यावहारिक विश्व बनाता है। दोनों में तात्त्विक अन्तर नहीं है।

शांकरवेदान्त में मन अनादि एवं नित्य नहीं है क्योंकि उस की उत्पत्ति सम्मिलित सूक्ष्म भूतों से होती है। सांख्य का मन आहंकारिक है किन्तु अद्वैतवेदान्त का भौतिक। इसके विपरीत न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा में मन को अनादिनित्य स्वीकार किया जाता है। व्यावहारिक जगत् की मानसिकता का आशय है कि पुरुष अविद्यावश भोग्यादि की जो कल्पना करता है वह उसके मन की प्रसूति है। अपने तात्त्विक स्वरूप से पुरुष कुछ नहीं करता। मन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए विद्यारण्य स्वामी ने कहा है -

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्म-गोलके स्थितम् ।
तच्चान्त:करणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद् विनेन्द्रियै: ।। (पञ्चदशी 2/12)

अर्थात् दस बाह्य इन्द्रियों का अधिपति मन हृदयकमलरूप गोलक में रहता है। बाह्य विषयों में इन्द्रियों के बिना अस्वतन्त्र रहने से वह अन्त:करण की संज्ञा प्राप्त करता है। टीकाकार ने इसे "अन्तरिन्द्रिय" कहा है। संकल्पनवृत्ति पर विचार करते हुए इन्द्रियाधिपतित्व की स्थापना की गयी है –

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद् गुणदोषविचारकम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तै: ।। (वही 2/13)

अर्थात् जब इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होते हैं तब मन गुण-दोष का विचार करता है। त्रिगुण द्वारा वह विकार प्राप्त करता है -

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः।
कामक्रोधो लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः।
आलस्य-भ्रान्ति-तन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः॥ (वही 2/14) अर्थात् वैराग्य, क्षमा, उदारता आदि सात्विक; काम, क्रोध, लोभ, यत्न आदि राजस और आलस्य, भ्रम तन्द्रा आदि तामस मनोविकार है। ये विकार भी वृत्तिरूप से हैं जिनका मूल संकल्पवृत्ति को माना गया है।

विशिष्टाद्वैतवेदान्त -

इस दर्शन में मन की भौतिकता स्वीकृत कर आहंकारिकता पुनः प्रतिष्ठित की गयी है। व्यूह रचना की पाञ्चरात्र आगमों में स्थापना है। प्रद्युम्नअहंकार से अनिरुद्ध मन की उत्पत्ति यहाँ मान्य है। सांख्य के विरुद्ध अहंकार को इन्द्रियों की पूर्वावस्था कहा गया है। (न्यासि, पृ. 67)। यहाँ अन्य इन्द्रियों के समान मन के भी प्राकृत तथा अप्राकृत भेद किये गये हैं – शुद्ध सात्विक अप्राकृत और अशुद्ध या मिश्र सात्विक प्राकृत (वही, पृ. 70)। मुनि तथा ईश्वादि का मन अप्राकृत कहा गया है (वही, पृ. 81)। छह ज्ञानेन्द्रियों में मन को प्रथम मानते हुए सांख्यमत का प्रत्याख्यान किया गया है -

मनः पूर्वकत्वात् सर्वप्रवृत्तीनां मनः कर्मेन्द्रियमिति सांख्यादयः। ....
अतः षडपि ज्ञानेन्द्रियाणि। (वही, पृ. 70)

अर्थात् सांख्यादि का मत है कि सभी प्रवृत्तियों में मन पहले कार्यकारी होता है, अतः वह कर्मेन्द्रियरूप भी है परन्तु यह अयुक्त है क्योंकि ज्ञान द्वारा ही वह कर्म का कारण है। इस दर्शन में मन आहंकारिक है (वही, पृ. 67)।

अशुद्धसत्त्वे सति पञ्चविध-साधारणेन्द्रियत्वं स्मृतिकरणेन्द्रियत्वमित्यादि प्राकृतमनोलक्षणम्। (वही, पृ. 71)

अर्थात् प्राकृत मन अशुद्धसात्विक होते हुए पञ्चज्ञानेन्द्रिय साधारण इन्द्रिय है और असाधारण रूप से स्मृतिकरण इन्द्रिय है। स्मृति के अतिरिक्त अनुमानादि में भी उसी का इन्द्रियत्व स्वीकृत है।

तच्च हृत्प्रदेशमात्राधिष्ठानम्। (वही)

अर्थात् मन का स्थान हृदयप्रदेश है। रामानुज ने श्रीभाष्य (1/2/18) में इस ओर संकेत किया है। अन्य तथ्य इस प्रकार हैं -

(क) मन एकमेवान्तःकरणम्। संकल्पाध्यवसायादयस्तद्व्यापारभेदा-
देव जायन्त इति नान्तःकरण-वैविध्यम्। (न्याय सिद्धाञ्जन, पृ. 72) अर्थात् केवल मन ही अन्तःकरण है जिस के संकल्प तथा अध्यवसाय आदि वृत्तिभेद है, अतः अन्तःकरणों की विविधता अमान्य है। इस पर भाष्यकार ने स्पष्ट प्रकाश डाला है -

अध्यवसायाभिमान- चिन्ता-वृत्तिभेदान् मन एव बुद्ध्हंकारचित्तशब्दे-

व्र्यपदिश्यते। (श्रीभाष्य-ब्रह्म सूत्र 2/4/5)

अर्थात् अध्यवसाय, अभिमान तथा चिन्ता वृत्तियों के भेद से एकमात्र मन ही बुद्धि, अहंकार एवं चित्त शब्दों द्वारा व्यवहार प्राप्त करता है।

(ख) कामादिवृत्तिभेदे तत्कार्यभेदेपि न कामादिकं मनसस्तत्वान्तरम्। (वही, 2/4/11)

अर्थात् बृहदारण्यक (1/5/3) के अनुसार कामादि वृत्तियों और उन कार्यों की विविधता के रहते हुए भी वे सब तत्वान्तर न हो कर मनोरूप है।

(ग) अन्य इन्द्रियों के समान मन भी अणुरूप है। (श्रीभाष्य 2/4/6, नय द्युमाणि, पृ. 258)।

(घ) मनसोप्युपरति: सुषुप्ति: .... स्वप्ने च तदनुपरति:।

(नय द्युमाणि, पृ. 254)

बाह्येन्द्रियाणां प्रवृत्त्युपरति: स्वप्नावस्था। मनसस्तु पूर्वाभ्यासात् प्रवृत्तिरस्त्येव (वही, पृ. 243)

अर्थात् स्वप्न में बाह्य इन्द्रियों के निष्क्रिय होने पर भी मन अभ्यासवश सक्रिय रहता है किन्तु सुषुप्ति में वह भी शान्त हो जाता है।

(ङ) अप्राकृत मन शुद्ध सात्विक माना गया है -

प्रतिदेहं विविक्तानि मन: प्रभूतिकान्यपि।

इन्द्रियाणीश्वरेच्छाद्यै: प्रवर्तन्ते तु योगिन:॥ (न्याय सिद्धाञ्जन, पृ. 548) अर्थात् मन आदि सभी इन्द्रिय प्रतिशरीर पृथक एवं नाना है किन्तु योगियों के इन्द्रिय ईश्वरेच्छा, योगबल तथा अदृष्ट के अधीन स्वतंत्रतया प्रवृत्त होते हैं।

द्वैतवेदान्त -

माध्वदर्शन में मन तथा बुद्धि अन्त:करण हैं। इसके पांच स्वरूप भेद निर्धारित करते हुए मध्वाचार्य ने एक उद्धरण प्रस्तुत किया है -

मन: पञ्चधा व्यपदिश्यते .... मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चेलनेति।

तेभ्यो वा एतेभ्य: पञ्च दासा: प्रजायन्ते मनसो वाव। मनो

बुद्धेर्बुद्धिरहंकारादहंकारश्चित्ताच्चित्तं चेतनाया एव चेतनैवमितीति। (ब्रह्म सूत्र-माध्वभाष्य 2/4/13)

अर्थात् मन पांच प्रकार से व्यवहारभागी बनता है – मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त एवं चेतना। इन्हीं पांचों से अथवा मन से पांच इन्द्रियरूप दास उत्पन्न होते हैं। मूलत: चेतना ही सर्वरूप है। उस से चित्त, चित्त से अहंकार, अहंकार से बुद्धि और बुद्धि से मन की निष्पत्ति है।

इस प्रकार मूल मन चैतन्यवृत्ति से चेतना, चिन्ता वृत्ति से चित्त, अभिमानवृत्ति से अहंकार, अध्यवसायवृत्ति से बुद्धि और संकल्पवृत्ति से मन कहा जाता है। मन ही सम्पूर्ण अन्त:करण है। मन तथा इन्द्रियों को यहाँ अणुपरिमाण माना गया है (वही 2/4/8)। तात्पर्य यह कि मूल मनोरूप अन्त:करण वृत्तिरूप से इन्द्रिय का कार्य करता है। मन द्वारा अधिष्ठित इन्द्रिय से प्रत्यक्ष प्रमा होती है। (दप्र, भाग 1; पृ. 33)। यहाँ मन के द्वितीय रूप को बुद्धि से जनित माना गया है क्योंकि बुद्धि द्वारा निश्चित विषय में मन संकल्प करता है, यह सिद्धान्त है।

शुद्धाद्वैतवेदान्त -

सर्वे प्राणा अणुपरिमाणा: गतिमत्त्वेन नित्यत्वे अणुत्वमेव।

(अणुभाष्य-ब्रह्मसूत्र 2/4/7)

एतेन शरीरपरिमाणत्वं संकोचविकासशालि-परिमाणत्वं व्यापकत्वं च निवारतम्। तेन चक्षुर्मनोवाचां दूरगमनम्। (प्रकाश)

मनसो द्वारभेदेनैवैकादश वृत्तय: स्वरूपत एव।

(अणुभाष्य -ब्रह्मसूत्र 2/4/12)

मनसि इन्द्रिय द्वारा साक्षाच्च वृत्तिस्वीकार:। ....

कामादयस्तु आवान्तरवृत्तित्वेनैकादशस्वेव प्रविशन्ति। योगसूत्रं तु निरोध्यत्वेन ता वक्ति। (प्रकाश)

अर्थात् उपनिषदों में एकादश इन्द्रियों को प्राण कहा गया है जिनमें मन भी सम्मिलित है। मन का स्वरूप इस प्रकार है -

1. मन अन्य इन्द्रियों के समान अणु परिमाण है। कुछ दर्शन उसे शरीरपरिमाण, कुछ संकोच विकासशील और अन्य व्यापक मानते हैं जो अयुक्त हैं।
2. अणुरूप होने से मन नित्य एवं गतिशील है।
3. मन की एकादश वृत्तियां हैं जिनमें – दस इन्द्रियों की और एक अपनी संकल्पवृत्ति।
4. इन्द्रियों द्वारा सापेक्ष वृत्ति और स्वतंत्र रूप से साक्षात् मनोवृत्ति की व्यवस्था है।
5. बृहदारण्यक उपनिषद् का एक यथावसर सन्दर्भ आ चुका है जिस में कामादि वृत्तियों का उल्लेख है। वे सब ग्यारह वृत्तियों की अवान्तर-वृत्तियां हैं।
6. योगसूत्र में परिगणित प्रमाणादि वृत्तियां वृत्ति-निरोध से सम्बद्ध हैं, अत: इस आधार पर सम्पूर्ण मन की व्याख्या करना असंगत है।

सभी इन्द्रिय तेजस अहंकार की प्रसूति है, अत: मन भी आहंकारित तत्त्व है। पुरुषोत्तम गोस्वामी ने कहा है –

अथ मन: । तच्चोभयात्मकमुभयकार्यकर्तृत्वात् । (प्रस्थान रत्नाकर, पृ. 217) अर्थात् मन कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय उभयात्मक है क्योंकि यथावसर दोनों प्रकार के कार्य करता है। इस के तीन प्रकार से लक्षण किये गये हैं –

1. तस्य च संकल्पविकल्पात्मकं स्वरूपलक्षणम् । कामजनकत्वं कार्यलक्षणम् । एतदाध्यात्मिकं लक्ष्णद्वयम् । (वही)

   अर्थात् आध्यास्मिक लक्षण दो हैं - मन का संकल्प-विकल्प स्वरूप लक्षण और काम-जनक (इच्छादिवृत्तिजनक) होना कार्यलक्षण। इस प्रकार मन द्वारा ऐन्द्रिय विषयों की सम्यक् कल्पना एवं विविध कल्पना की जाती है और स्वतंत्र रूप से वह काम जनक है।

2. आधिदैविक तु अनिरूद्धाविर्भावस्थानम् । (वही)

   अर्थात् मन से अनिरूद्ध का आविर्भाव होता है यह आधिदैविक लक्षण है।

3. भौतिकं तु योगिभि: शनै:संराध्यत्वम् । (वही)

   अर्थात् मन के भौतिक स्वरूप का योगी क्रमश: आराधन करते हैं। वहाँ वह उपास्य रूप से ग्राह्य बनता है।

   सभी वैष्णव दर्शनों में जीव अणुरूप है, अत: उसके कारणभूत मन को भी अणुपरिमाण माना गया है। इस विषय में वैमत्यों का दिग्दर्शन कराया गया है -

(क) तच्च्सकलशरीरव्यापि-मनोरथाभिमानिक-सुदर्शनाद् व्यापक-
मिति मीमांसका: । (वही, पृ. 218)

अर्थात् कुछ मीमांसक मन को व्यापक मानते हैं उनका तर्क है कि मनोरथ द्वारा आभिमानिक सुख सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त पाया जाता है, अत: इसे व्यापक मानना चाहिए। परन्तु -

सामर्थ्यादिवाभिमानिकादि-सुखोपपत्ते: श्रुत्यैवाणुत्वादिकं सिद्धयति ।

(वही, पृ. 219)

अर्थात् श्रुति से अणुत्व प्रमाणित है, अत: यही स्वीकार्य है कि अभिमानिक सुख की शरीरव्यापिता मन की शक्ति से सम्पन्न माननी चाहिए।

(ख) अन्ये तु करणत्वात् क्रियावत्त्वादुत्क्रमणादिश्रुतेर्मनो गच्छतीति व्यवहाराच्चाणुत्त – परिमाणमाहु: । (वही)

अर्थात् अणुपरिमाण मानने वालों के चार तर्क हैं –

1. मन सुखादि की उपलब्धि का करण है। सभी करण- कुठारादि - व्यापक न हो कर परिमित होते हैं।

2. मन क्रियाशील है क्रियावान पदार्थ व्यापक नहीं देखा जाता श्रुति में मन का शरीर से निकलना कहा गया है जो व्यापक मानने पर संगत नहीं होता।

3. व्यवहार में मन के जाने की बात की जाती है। इन उपपत्तियों से मन का अणुत्व सिद्ध किया जाता है।

(ग) तत्रापि नित्यमित्यर्धवैनाशिका: । अनित्यमिति सांख्याद्या: । (वही, पृ. 218)
अर्थात् अर्धवैनाशिक – न्यायवैशेषिक, मीमांसक तथा वैभाषिक बौद्ध– मन को नित्य मानते हैं। सांख्ययोग आदि के अनुसार वह अनित्य है क्योंकि उत्पन्न होता है।

(घ) सिद्धान्ते तु चन्द्रदेवताकत्वान्नानाकिरणशालि । एतस्माज्जायते तन्मनोसृजतेति श्रुत्या जन्यम् । तथा प्राण इत्यधिकरणं जीवाति देशेनाणुत्वादेर्व्य-स्थापनादर्णुपरिमाणम् । (वही, पृ. 218-19)
अर्थात् अनेक श्रुतियों तथा ब्रह्मसूत्र के अनुसार मन अणुपरिमाण है। शरीर व्यापी अभिमानिक सुखादि की व्याख्या उस के नाना किरणशाली होने से हो जाती है – मन का देवता चंद्रमा है, अत: वह विविध किरणों से सम्पन्न रह कर समग्र शरीर को सुखादि से प्रकाशित करता है। श्रुति में मन का जन्म मान्य है, अतएव वह नित्य न होकर अनित्य है।

शाक्तदर्शन -

अद्वैतपरक शाक्तदर्शन में चित्त क्रियाभेद से तीन रूप लेता है – मन, अहंकार और बुद्धि। प्रकृति ही यहां चित्त है। यहाँ मनोनिरूपण अनेक प्रकार से किया गया है-

(क) मन की दो स्थितियां हैं – प्रत्यावृत्त तथा अप्रत्यावृत्त। अप्रत्यावृत्त मन वह है जो बाह्य विषयों से मोड़कर आत्मा में नहीं लगाया जाता। इसी से व्यावहारिक प्रत्यय बनते हैं। किन्तु –

प्रत्यावृत्तं मन: शुद्धं निजरूपावभासकम् ॥
(त्रिपुरारहस्य-ज्ञानखण्ड 16/33)

अर्थात् प्रत्यावृत्त मन शुद्ध होने से आत्मा के स्वरूप का आभास देता है और अप्रत्यावृत्त मन विषयोन्मुख रहता है –

मनोगोचरता बाह्ये द्वि प्रकारेण संस्थिता ॥
आद्यान्येभ्य: परावृत्ति: परा तत्परता भवेत् (वही 16-35-36)

अर्थात् बाह्य पदार्थ जब मनोगोचर होता है तब मन की दो अवस्थाएँ बनती हैं - अन्यपरावृत्ति एवं तत्परता। अन्य विषयों से व्यावृत्ति को परावृत्ति कहा गया है और अपेक्षित विषय में मन की वृत्ति की तत्परता है। परावृत्तिमात्र से वस्तुभास नहीं होता हैं –

न किंचिद् भासयेद् वस्तु तटस्थावसरेषु तत्।
तस्मात् तत्परताप्यत्र व्यापारो मनस: पर: (वही 16/39)

अर्थात् चेतना की उदासीन अवस्था में मन परावृत्त तो रहता है किन्तु तत्परता के बिना किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होती। अत: मन की दोनों वृत्तियाँ हैं - परावृत्ति या अन्य विषय व्यावृत्ति एवं तत्परता।

(ख) चित की स्वयंप्रकाश अपरोक्षानुभूति के लिए मन की तत्परता वांछित नहीं है किन्तु अन्यव्यावृत्ति से ही उस का भास हो चलता है। बाह्य विषय के अवभास हेतु दोनों अपेक्षित हैं -

अन्येभ्यस्तु परावृत्तिराभिमुख्यं च तस्य वे।
अपेक्ष्यते दर्पणस्य प्रतिबिम्ब-दिदृक्षुणा ॥ (वही 16/40)

अर्थात् दर्पण में प्रतिबिम्ब देखने के लिए अन्य ओर से परावृत्ति तथा दर्पण की ओर तत्परतारूप आभिमुख्य अपेक्षित है। इसी प्रकार घटदर्शन में घटेतरव्यावृत्त एवं घटतत्पर या घटाभिमुख मन की अपेक्षा है।

गगनं दर्पणे द्रष्टं यदा समभिवांध्रित।
तदान्येभ्य: परावृत्तिमात्रेण हि कृतार्थता ॥ (वही, 16/41)

अर्थात् जब दर्पण में आकाश देखना है तब परावृत्तिमात्र से प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि व्यापक पदार्थ के लिए तत्परता की आवश्यकता नहीं होती -

एवं चिति: सर्वगता सर्वाश्रयतया स्थिता।
सर्वकाले समापूर्णा मनसि व्योमवद् द्विज ॥
तस्मादन्यपरावृत्तिमात्रं मनस इष्यते। (वही 16/44-45)

अर्थात् सर्वाधार एवं सर्वव्यापी चिति आकाशवत् मन में सदैव व्याप्त है, अत: मन की परावृत्ति से ही उस का भास हो जाता है।

अन्येभ्यस्तु परावृत्तिरेव शुद्धिर्हि मानसी ॥
एतदेव परं तत्त्वज्ञाने साधनमुच्यते। (वही 16/48-49)

अर्थात् परावृत्ति मन की शुद्धि का नाम है और उसे तत्वज्ञान का साधन माना गया है।

मनोदर्पण में वस्तु प्रतिबिम्बन ही इस दर्शन का प्रत्यक्ष ज्ञान है। चित्प्रत्यक्ष में मनोबिम्बित चिति की एकमात्र उपस्थिति रहती है जो चितीतर से व्यावृत्ति द्वारा संभव है।

(ग) मनसस्तु द्विधावस्था प्रकाशामर्शभेदत: ॥ (वही 16/64) अर्थात् मन की प्रकाश तथा विमर्श दो अवस्थाएँ हैं।

बहिरर्थेषु विश्रान्तिर्या प्रकाश: स उच्यते।
यस्तद्विचार: स्वस्मिन् वै स विमर्श उदाहृत: ॥ (वही 16/65) अर्थात् बाह्य अर्थों के प्रति विश्रान्ति अवस्था प्रकाश और उन विषयों में विचार विमर्श है –

प्रकाशो निर्विकल्प: स्याद् वस्तुनामविभेदत:।
विमर्श: शब्द-संभेदाद् विभेदात् सविकल्पक: ॥ (वही 16/66)

अर्थात् प्रकाशावस्थ मन में वस्तुओं का अभेद रहता है – गुण, क्रिया एवं द्रव्य का विशेषणविशेष्यभाव स्फुरित नहीं होता– अत: वह निर्विकल्पक मनोदशा है जो

अद्धयात्मक भास देती है। इस के विपरीत विमर्श अवस्था के मन में शब्द का सम्बन्ध होने से भेद स्फुरण लेता है, अतएव वह सविकल्पक स्थिति है तात्पर्य यह है –

अयमेवंविध इति शब्दसंभेदवर्जित:।

वस्तुदर्शनरूपोसौ प्रकाशो निर्विकल्पक: ॥ (वही 16/67)

अर्थात् ''यह ऐसा'' में जो इदन्ता के साथ इत्थन्ता का समावेश रहता है, उसमें शब्दोल्लेख अनिवार्य है किन्तु निर्विकल्पक प्रकाश में उस का अभाव होने से वस्तु मात्र का स्वरूप दर्शन होता है।

अयमेवंविध इति वस्तुदर्शानमूलक:।

शब्संभिन्नरूपोसौ विचारात्मावभासन: ॥ (वही 16/68)

अर्थात् वस्तुदर्शन के पश्चात् उक्त इदन्तादि के अवभास में जो शब्द सम्बद्ध विचार रूप उदय लेता है वह विमर्श है। विमर्श में ही अनुभव तथा स्मृति आदि के विभाग बनते हैं –

आन्तरोभिनवोन्यो वा विमर्श इति कीर्तित: (वही 16/69)

अर्थात् मन का आन्तरिक स्वरूप विमर्श है जो कहीं अभिनव होता है और कहीं अभिनवभिन्न। इस प्रकाश विमर्श द्विधा विभक्त है -

तत्र योभिनवाभास: स प्रोक्तोनुभवात्मक: ॥

अन्यस्मृत्यनुसन्धानात्मक: संस्कारसंभव:।

एवं मनो द्वि प्रकार-शक्तियुक्तं सदा स्थितम् ॥ (वही 16/69-70)

अर्थात् विमर्शात्मक मन दो प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न रहा करता है – अभिनव बोधरूप अनुभव तथा अनुभूत विषय की स्मृति या अनुसन्धान।

मन की अवस्थाएँ

प्रकाश = निर्विकल्पक

विमर्श = सविकल्पक

अनुभव

स्मृति

(घ) निद्रा प्रकाशरूपासौ सुषुप्तिश्चिरसंस्थिता।

जागरामर्शबहुला चेत्यमूढ़दशोच्येते ॥ (वही 16/71)

अर्थात् निद्रा प्रकाशरूप सुषुप्ति का नाम है। यह मनोवृत्ति सदैव स्थित है। विमर्श प्रचुर जाग्रत अमूढ़दशा कही गयी है। सुषुप्ति की जाग्रत में भी व्याप्ति रहती है -

''नास्ति'' सामान्यपदवी सुषुप्तिस्तप्रकाशनम्। (वही 16/74)

अर्थात् वस्तुबोधवर्जित ''नास्ति'' सामान्य दशा या सुषुप्तिरूप प्रकाश है जो सदा रहता है और उसी पर विमर्श प्रतिष्ठा लेता है।

वस्तुदर्शनकालेपि जाग्रत्येवंविधं मन: ।
किन्तूत्तरक्षणोद्भूत-विकल्पौवैस्तिरोहितम् ॥
सुषुप्तावव्यक्तशक्ति-प्रकाश-निविड़त्वत:
मनो विलीनमित्येवं विविञ्चन्ति विवेचका: । (वही 16/74-76)

अर्थात् जाग्रत की प्रकाशावस्था में मन जब निर्विकल्पक वस्तुदर्शन करता है तब उत्तर क्षण में स्फुरित होने वाले विकल्पों से तिरोहित हो जाता है– सविकल्पक विमर्श से निर्विकल्पक प्रकाश तिरोहित हो जाता है – सविकल्पक विमर्श से निर्विकल्पक प्रकाश की सघनता के कारण मन को लीन कहा जाता है – वहाँ विमर्श की संभावना नहीं होती। सुषुप्त निर्विकल्पक प्रकाश की तीन स्थितियां हैं –

निर्विकल्पसमाधिश्च सुषुप्तिर्वस्तुदर्शनम् ।
त्रयमेतच्चैकविधं प्रकाशनिविड़त्वत: ॥ (वंही 16/78)
समाधौ केवलचिति: सुप्तावव्यक्तमेव च ।
दर्शने भिन्नभासो हि भास्यमेवं त्रिधा स्थितम् ॥ (वही 16/80)

अर्थात् निर्विकल्प समाधि, सुषुप्ति एवं निर्विकल्पक वस्तुबोध प्रकाशनिबिड़त्व के आधार पर तुल्य है– समाधि में चिन्मात्र, सुषुप्ति में अव्यक्तरूप साम्यावस्था त्रैगुण्य और वस्तुदर्शन में भिन्न प्रत्यय रूप विकल्पों के लय की निविड़ता रहती है।

(ङ) चिति ही चैत्यसंपृक्त हो कर चित्त कही जाती है, अत: उस का रूपान्तरभूत मन भी चिति से अद्वैत है –

एक रूपो यथादर्श: प्रतिबिम्बादनेकधा ।
पश्य स्वप्नविकल्पादौ मन एकं हि केवलम् ॥
द्रष्टं-दर्शन-द्रृश्यात्म-वैचित्र्येण विभाति हि ।
एवं शुद्धैव सा संविद् विचित्राकारभासिनी ॥ (वही 18/60-61)

अर्थात् जिस प्रकार एकरूप दर्पण प्रतिबिम्बों की विविधता से वैविध्य लेता है उसी प्रकार स्वप्न तथा विकल्प की स्थितियों में एकमात्र मन द्रष्टा, द्रृश्य एवं दर्शन रूपों की विचित्रता के साथ भासित होता है। एक ही शुद्ध चिति विविधाकार भास देती है।

प्रत्यभिज्ञाशैवदर्शन -

काश्मीर प्रत्यभिज्ञादर्शन शाक्तदर्शन के समान अद्वैतवादी होने से मन को प्रकृति रूप अन्त:करण का भेद मानता है (परमार्थसार 19)।

तस्य क्रिया तमोमपमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी। (षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह 15)
महदादि-पृथिव्यन्तानां तत्त्वानां मूलकारणं प्रकृति: ।
एषा च ...... मन: संकल्पसाधनम्। (पर प्रवेशिका, पृ. 9/10)
संकल्पादिकारणं मन: । (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 2/1/11)

अर्थात् महत् से पृथ्वी पर्यन्त तेईस तत्वों का मूल कारण प्रकृति है जिस की तमोगुणी मूर्ति को मन कहा गया है जो संकल्प-विकल्प का साधन अन्त:करण है। इस का मुख्य कार्य भेदात्मक परामर्श या विमर्श है –

येप्यसामयिकेदन्ता-परामर्शभुव: प्रभो: ।

ते विमिश्रा विभिन्नाश्च तथा चित्रावभासिन: ।। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 4/1/9)

अर्थात् परमेश्वर की परामर्श रूप भूमिकाएँ अपारमार्थिक इदन्ता का परामर्श लाती हैं और वे कभी जब विशेष रूप लेती हैं तब गुण-क्रिया आदि का मिश्रण, भेद एवं चित्राभास देती हैं।

तदद्वयालम्बना एता मनोनुव्यवसायि सत्।

करोति मातृव्यापारमयी: कर्मादिकल्पना: ।। (वहीं 2/2/3)

अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक आलम्बनों वाली कर्मादि की कल्पनाएँ अनुव्यवसायशाली मन करता है किन्तु वह करणमात्र है जिस से प्रमाता व्यापारशील कर्ता भासित होता है। माया-प्रमाता संकृचित शिवरूप है जो मन: साधन से कल्पनारत होता है –

जाति-द्रव्यावभासानां बहिरप्येकरूपताम्।

व्यक्त्येकदेशभेदं चाप्यालम्बन्ते विकल्पना: ।। (वही 2/2/5)

अर्थात् मन द्वारा की हुई विकल्पनाएँ कभी जाति-द्रव्य के अवभासों को पृथक कर के पुन: एकरूपता देती हैं और कभी एक ही व्यक्ति में अवयवभेद का आलम्बन लेती हैं।

इस प्रकार संकल्प-विकल्पात्मा मन विविध कल्पनाओं में प्रमाता का साधन है। चिति के ही दोनों संकुचित रूप हैं - प्रमाता और मन।

विशिष्टाद्वैत शैवदर्शन -

श्रीकण्ठ ने एकादश इन्द्रियों में मन को ले कर कहा है –

बुद्ध्यादीनां न पृथगिन्द्रियात्वं किन्तु ते मनोवृत्तिभेदा: ।

(ब्रह्म सूत्र- श्रीकण्ठभाष्य 2/4/5)

अर्थात् बुद्धि, अहंकार तथा चित्त मन के ही व्यापार विशेष हैं। अन्य इन्द्रियों के समान मन भी अणुपरिमाण है –

विभुत्वे हि तेषां न गति: संभवति। (वही 2/4/6)

अर्थात् विभु होने पर उन की गति असंभव है - गतिशील होने से मन परमाणु परिमाण है।

कामादिभिर्मन एकमेव। (वही 2/4/11)

अर्थात् कामादि वृत्तियों में मन प्रतिशरीर एक ही रहता है। शेष विशिष्टाद्वैत वेदान्त के समान अनुसन्धेय है। मन आहंकारिक सृष्टि है।

द्वैतशैवदर्शन -

द्वैतशैवदर्शन में भी पूर्ववत् मन आहंकारिक है -

तेजसतस्तत्र मन: । (तत्वप्रकाश 55)

अर्थात् तेजस अथवा राजस अहंकार से मन उत्पन्न होता है । इसे तात्पर्यदीपिका में कहा गया है –

तेजसाख्यादहंकाराद् राजसाच्चलस्वभावं मन उत्पद्यते ।

अर्थात् तेजस नामक राजस अहंकार से चंचल मन उत्पन्न होता है । आशय यह है कि मन सभी इन्द्रियों का चालक होने से गतिशील है, अत: वह राजस है क्योंकि चलत्व एवं वेग रजोगुण का स्वभाव है ।

मनश्च नित्यमिति तार्किकमीमांसका आहू: तदेतदागमविरुद्धत्वादनुपपन्नम्।

अर्थात् न्याय तथा मीमांसा से मन को नित्य माना गया है जो आगमविरुद्ध होने से अयुक्त है । कारिका की वृत्ति में मृगेन्द्रागम का उद्धरण दिया गया है –

श्रोत्रत्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा च मनसा सह ।

प्रकाशान्वयत: सत्त्वास्तेजसश्च स सात्त्विक: ।।

अर्थात् मन सहित सभी बुद्धिन्द्रिय प्रकाश रूप होने से सत्त्वरूप हैं और तेजस सात्विक अहंकार है । सांख्य की परम्परा में राजस अहंकार तेजस कहा जाता है । यहाँ भी कारिकाकार ने वही क्रम अपनाया है परन्तु तेजस से मन की उत्पत्ति सांख्यविरुद्ध है, अत: वृत्तिकार ने अन्यथा व्याख्या कर के संगति में लाने का प्रयास किया है । मृगेन्द्रागम भी सांख्य के विपरीत सात्विक अहंकार को तेजस बता कर उससे मन की उत्पत्ति की व्यवस्था देता है ।

इच्छा रूपं हि मनो व्यापारस्तस्य भवति संकल्प: (वही 56) अर्थात् मन इच्छा रूप है – इच्छा मन का स्वरूप है और उस की वृत्ति संकल्प कही जाती है । तात्पर्यटीका एवं वृत्ति में वैमत्यपूर्वक व्याख्या की गयी है –

व्यापारो वृत्तिस्तस्य मनस: संकल्प: अनिर्धारितविशेषरूप: संशयरूप इति यावत् । अनेन लक्षणमुक्तं सद्भावश्च, संशयरूपया संशयत्मिकया वृत्या वृत्तिमतोनुमानादिति । (तात्पर्यटीका)

अर्थात् मन की वृत्ति या व्यापार संकल्प है । संकल्प संशयरूप होता है जिस में निर्धारक विशेष धर्म नहीं मिलता है । यही मन का लक्षण है और यही संशयात्मिका वृत्ति मन की सत्ता में प्रमाण है क्योंकि वृत्तिरूप कार्य से वृत्ति विशिष्ट कारण का अनुमान होता है ।

संकल्पोवधानमेकाग्रता । तेन व्यापारेणेच्छारूपं मन: सिध्यतीत्यर्थ: । (वृत्ति) अर्थात् संकल्प अवधान या एकाग्रता को कहते हैं जिससे इच्छारूप मन सिद्ध होता है । तात्पर्य यह कि मन की एकाग्रता के बिना विषयबोध असंभव रहता है, अत: मन की मूलवृत्ति यही है ।

दाक्षिणात्यशैवदर्शन -

अनन्तरोक्त द्वैतपरक शैवदर्शन के अभिमत की समग्र व्याख्या दाक्षिणात्य (द्वैतपरक) शैवदर्शन में सुलभ है -

तत्र तेजस: सात्त्विक-संज्ञ: ..... तत्र तैजसाहंकाराद् मन:

चक्षुरादीनि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि चोत्पद्यन्ते। (शैव परिभाषा, पृ. 115)

अर्थात् सात्विक अहंकार तेजस कहा गया है जिससे मन तथा ज्ञानेन्द्रिय उत्पन्न है। ऊपर ''संकल्प'' के अर्थ का वैमत्य देखा गया है, यहां उसे समाहित किया गया है -

संकल्पविकल्पकारणं तत्त्वं मन:। चक्षुरादिनालोचिते ''अथं ब्राह्मण:''

इत्यादिनिश्चय: संकल्प:, सम्यग् विशेषणविशेष्यभावेनार्थकल्पनारूप त्वात्। तादृशेर्थे ''अयं ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा'' इत्यादिसंशयो विकल्प:, विविध कल्पनारूप - त्वात् (वही, पृ. 115-16)

अर्थात् संकल्प-विकल्प का कारणभूत तत्त्व मन है। चक्षुरादि द्वारा आलोचित विषय में ''यह ब्राह्मण है'' ऐसा निश्चय संकल्प कहा गया हैं क्योंकि इस में विशेषणविशेष्यभाव द्वारा ब्राह्मणत्वविशिष्ट ब्राह्मण द्रव्य की सम्यक् कल्पना की गयी है। इन्द्रियालोचित विषय में संशय को विकल्प कहते हैं क्योंकि उसमें विविध कल्पना पायी जाती है कि यह ब्राह्मण है या क्षत्रिय।

यहाँ प्रश्न है कि क्या किसी अन्य अन्त:करण से संकल्प-विकल्प का कार्य नहीं हो सकता ? पृथक् मन की कल्पना के स्थान पर अहंकार या बुद्धि का ही व्यापार क्यों नहीं माना जाता ? शैव परिभाषाकार ने पौष्करागम के अनुसार इसका विवेचन किया है –

अयं च नाहंकारिको नापि बौद्ध:, बुद्ध्यहंकारयो: निश्चयाहंप्रत्यययोर्हेतुत्वेन क्लृप्तत्वात्। न चायम् ऐन्द्रियक:, चक्षुरादिदृष्टे, स्यार्थस्य मनसैव बुद्ध्युपारोहणात्। अन्यथा घटे दृष्टे पटस्यापि निश्चय: स्यात्। न च बुभुत्सैव तन्नियामिकेति वाच्यम, बुभुत्साया।

इच्छारूपत्वेन मनोजन्यत्वात्। (वही, पृ. 116)

अर्थात् संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार अहंकार या बुद्धि का नहीं हो सकता क्योंकि दोनों क्रमश: अहंप्रत्यय एवं निश्चय के कारण हैं। मनोव्यापार को ऐन्द्रिय भी नहीं कह सकते क्योंकि इन्द्रियालोचन के अनन्तर उस विषय को मन ही बुद्धिगम्य बनाता है। यदि इन्द्रिय और बुद्धि का मध्यस्थ मन न हो तो घटदर्शन में पटनिश्चय की आपत्ति आती हैं। यदि बोधेच्छा को नियामक मान कर कहा जाय कि घट की बोधेच्छा ही नियमित करती है जिस से पटनिश्चय का निवारण हो जाता है तो इच्छा भी एक मनोवृत्ति है जिस की कल्पना मन के बिना नहीं हो सकती।

इदं च मनो महत्। (वही)

अर्थात् मन महापरिमाण या विभु है।

ननु क्रमेणार्थप्रकाशनादण्वेव, महत्त्वे सर्वदा सर्वपदार्थप्रकाशप्रसङ्ग इति चेन्मैवम्। मनसो महत्त्वेपि कर्मवशात् सामग्रयपेक्षणात् तमसाभिभवादपि ज्ञानस्य क्रमिकत्वोपपत्तेः। (वही)

अर्थात् न्याय-मीमांसादि दर्शन मन को क्रमशः होने वाले ज्ञान के आधार पर अणु-परिमाण मानते हुए तर्क रखते हैं कि महापरिमाण होने पर सर्वदा सभी पदार्थों का प्रकाशन क्यों नहीं होता ? यह कथन निःसार है क्योंकि ज्ञान की क्रमिकता में मन का अणुत्व कारण न हो कर तीन कारण हैं – 1. पुरुष का कर्म या अदृष्ट अथवा अन्तःकरण की क्रिया पहला कारण है जिस के बिना ज्ञान का आरम्भ नहीं हो सकता, 2. क्रिया या क्रम को सामग्री की अपेक्षा रहती है जिस के बिना कोई कारण व्यापार नहीं कर सकता और 3. तमोगुण से अभिभूत होने से ज्ञान में क्रमिकता आती है। तात्पर्य यह कि ज्ञान मनोधर्म न हो कर आत्मगुण है जो तमोभिभूत हो कर अप्रकाश हो जाता है किन्तु अन्तराल में जब तमोगुण अभिभूत रहता है तब ज्ञान प्रकाशित होता है। इस प्रकार सत्त्व तथा तमोगुण की क्रमिकता ज्ञान की क्रमिकता बन कर भासित होती है।

किं च मनसोगुणत्वे अणोरेव पदार्थस्यावभासनं स्यात्, यस्य कारणस्य यावति व्याप्तिस्तावत्येवार्थभासनस्य प्रदीपसूर्यादौ दृष्टत्वात्। न च महताल्पस्य ग्रहणमयुक्तमिति वाच्यम्, विरोधाभावात्। (वही)

अर्थात् प्रतिपक्ष की आपत्ति है कि मन को महत् मानने पर अल्प का ग्रहण कैसे होगा ? इस का उत्तर यही है कि महत् से अल्प के ग्रहण में कोई विरोध नहीं, सूर्य महत् हो कर भी अल्प का प्रकाशक है। इस के विपरीत मन के अणुत्व में अल्प पदार्थ का ही भास हो पायेगा क्योंकि जो कारण जितने को व्याप्त करता है उसके कारण से उतने ही अर्थ का भास हो जा पाता है। जैसे, प्रदीप, अल्पव्यापी होने से अल्पप्रकाशक और सूर्य अधिक प्रकाशक होता है।

तस्मान्मनो महदिति स्थितम्! तच्च प्रत्यात्मनियतम्। (वही)

अर्थात् उक्त तर्कों से मन का विभुत्व सिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के लिए एक मन नियत रहता है।

शैव दर्शनों में विशिष्टाद्वैत को छोड़कर तभी मन को महापरिमाण मानते हैं। शाक्तदर्शन भी मन का विभुत्व स्वीकार करता है।

जैनदर्शन -

यह दर्शन द्रव्यमनस् और भावमनस् की व्यवस्था देता है। द्रव्यमन और भाव-मन स्वरूपतः भिन्न हैं -

तत्र भावमनो ज्ञानम्, तस्य जीवगुणत्वादात्मनि अन्तर्भावः।

द्रव्यमनश्च रूपादियोगात् पुद्गलद्रव्यविकारः। (तत्त्वार्थ वार्त्तिक 5/3/2)

अर्थात् भावमन ज्ञानरूप होने से जीवगुण है। गुण तथा गुणी का अभेद होने से उस का आत्मा में अन्तर्भाव है। रूपादिसम्बन्ध के कारण द्रव्यमन पुद्गलरूप द्रव्य का विकार है।

भावमन ज्ञानसाधन न हो कर ज्ञानस्वरूप आत्मगुण है, अत: अन्त:करण के रूप में उस की प्रतिष्ठा प्रकारान्तर से पायी जाती है –

> अनिन्द्रियं मन: अन्त: करणमित्यनर्थान्तरम्। ...... गुणदोष - विचार-स्मरणादि-व्यापारे इन्द्रियानपेक्षत्वात् चक्षुरादिवद् बहिरनुपलब्धेश्चान्तर्गतं करणमन्त:करणम्। (सर्वार्थसिद्धि 1/14)

अर्थात् मन को अनिन्द्रिय कहा गया है और वही अन्त:करण है। गुणदोष-विचार एवं स्मृति आदि व्यापारों में इन्द्रियों की अपेक्षा न करने तथा चक्षुरादिवत् बाह्य उपलब्धि के अभाव से मन अन्तर्गत करण है, अत: अन्त:करण नाम से जाना जाता है।

> अन्तरङ्गं तत्करणमिन्द्रियानपेक्षत्वात्। नास्येन्द्रियेषु अपेक्षास्तीति इन्द्रियानपेक्षम्। न ह्यस्य गुणदोषविचारस्वविषयप्रवृत्तौ इन्द्रियापे-क्षास्ति, ततोन्तरङ्गं तत् करणमिति वेदितव्यम्।
>
> (तत्त्वार्थ वार्त्तिक 1/14/3)

अर्थात् गुणदोषविवेक मन का अपना विषय है जिस के लिए उस की प्रवृत्ति में इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती। फलत: वह अन्तङ्ग करण या आत्मा का ज्ञान साधन है। तात्पर्यत: -

1. इस दर्शन में मन अनिन्द्रिय है।
2. मन का विषय ऐन्द्रिय नहीं होता कि उसे किसी स्थिति में इन्द्रियाधीन कहा जाय। अपने विषयों का दर्शन और ज्ञान प्राप्त करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र हैं।
3. रूपादिप्रत्यक्ष में मन का व्यापार यहाँ अमान्य है।

बौद्धदर्शन -

अनात्मवादी होने से बौद्धदर्शन में करणव्यवस्था नहीं है। आत्मा को ज्ञाता के रूप में प्रतिष्ठित कर उसे ''इन्द्र'' कहा जाता है। विज्ञान के साधन को ''इन्द्रिय'' मानने की यहाँ प्रथा नहीं है प्रत्युत इन्द्रिय ही इन्द्र या अधिपति है जिस का विशेष ज्ञान या कर्म में आधिपत्य स्वीकृत है। अतएव बाईस इन्द्रियों की व्यवस्था है जो पृथक्-पृथक् आधिपत्यों के अनुसार प्रतिष्ठित हैं जिन में मन अन्यतम है। अभिधम्मत्थसंग्रह (7/19) के परिगणन में पाँच प्रसिद्ध ज्ञानेन्द्रियों और मन के मध्य स्त्रीन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय तथा जीवितेन्द्रिय का समावेश होने से अनुमान होता है कि पूर्ववर्ती आठ इन्द्रियों के व्यापारों पर मन इन्द्रिय का आधिपत्य है किन्तु अर्थविनिश्चयसूत्र (7) के परिगणन में मन का छठा स्थान ही रखा गया है। इसे निबन्धन टीका में कहा गया है –

चक्षुरादीनां कायपर्यन्तानां स्वस्य स्वस्यार्थोपलब्धौ आधिपत्यम्,
मनसः पुनः सर्वार्थोपलब्धौ ।

अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों की उपलब्धि में आधिपत्य है परन्तु मन का आधिपत्य उन सभी धर्मों की उपलब्धि में रहता है ।

पाँचों इन्द्रियों के विषय रूपस्कन्ध में आते हैं जिनके ज्ञान में मन का भी आधिपत्य रहता है, अतः वसुमित्र ने कहा है –

रूपाणि चक्षुर्विज्ञानं मनोविज्ञानमिति द्वे विज्ञाने प्रजानीतः ।
गन्धान् घ्राणविज्ञानं मनोविज्ञानमिति ..... ।
स्प्रष्टव्यैकदेशान् कायविज्ञानं मनोविज्ञानमिति..... ।
शब्दान् श्रोतविज्ञानं मनोविज्ञानमिति द्वे विज्ञाने प्रजानीतः ।

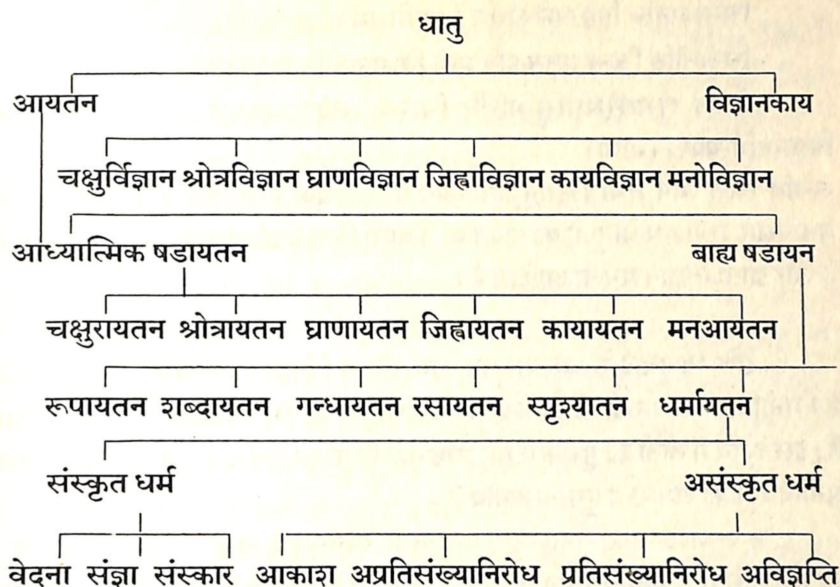
(पञ्चवस्तुकशास्त्र, पृ. 3)

अर्थात् चक्षुर्विज्ञानादि के विषयों को मनोविज्ञान भी जानता है । इस प्रकार छह विज्ञानकाय बनते हैं जिन में विज्ञान-काय सभी विषयों का ज्ञाता है और उस की अपनी स्वतन्त्र स्थिति भी है –

मनोविज्ञानं कतमत् ? मन इन्द्रियं प्रतीत्य धर्मप्रतिविज्ञप्तिः । (वही)

अर्थात् मन इन्द्रिय से जो धर्म की विज्ञप्ति का प्रतीत्यसमुत्पाद होता है उसे मनोविज्ञान कहते हैं । पाँच स्कन्धरूप संस्कृत तथा तीन असंस्कृत भेद से आठ धर्म होते हैं जिन में रूपस्कन्ध के अन्तर्गत जिन रूपादिकों का समावेश है उन के लिए पाँच इन्द्रियों में से एक और मन का आधिपत्य ऊपर देखा गया । शेष में एकमात्र मन का आधिपत्य है ।

यहां विवेच्य है कि अठारह धातुओं में बारह आयतन तथा छह विज्ञानकाय सम्मिलित हैं । आयतनों में छह आध्यात्मिक एवं छह बाह्य है (अर्थविनिश्चयसूत्र 3-4) । उन्हें सामने रख कर मनस्तत्तव पर विचार अपेक्षित है –



आठ धातुओं में पाँच संस्कृत धर्म स्कन्धपञ्चक हैं जिसमें विज्ञान स्कन्ध के पांच विज्ञानकाय धातुओं में आते हैं और वे ही ज्ञाता रूप से प्रतिष्ठित हैं। शेष चार में से रूपस्कन्ध बाह्य षडायतन हैं जो इन्द्रियपञ्चक के साथ मनोविज्ञान के भी विषय हैं। धर्मों में तीन स्कन्ध –वेदना, संज्ञा तथा संस्कार और चार असंस्कृत धर्म- आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध, प्रतिसंख्यानिरोध तथा अविज्ञप्ति– मिलाकर सात का धर्मायतन मन आयतन का विषय है। वस्तुत: मनोविज्ञान सभी बाह्य षडायतनों का विज्ञाता है। रूपस्कन्ध में अन्य इन्द्रिय भी आधिपत्य भागी हैं किन्तु शेष सम्पूर्ण धर्मायतन मनोविज्ञान का विषय है।

वैदिक दर्शन इन्द्रियपन्चक के साथ मनोयोग को अर्थज्ञप्ति का कारण मानते हैं जो बौद्ध क्षणभङ्गवाद में असंभव है। जहाँ चक्षुरादि विज्ञानों के साथ मनोविज्ञान का उल्लेख है वहाँ इतना ही अभिप्राय है कि बाह्यायपतनपञ्चक के दो-दो ज्ञाता हैं – चक्षुर्विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि किन्तु धर्मायतन में केवल मनोविज्ञान का आधिपत्य है। इस दर्शन में मन और मनोविज्ञान का अंतर ज्ञातव्य है – मन इन्द्रिय और धर्मायतन से मनोविज्ञान का प्रतीत्यसमुत्पाद होता है। इस प्रकार विज्ञानस्कन्ध का समुत्पाद द्वादशायतन के प्रत्ययाधीन है। मूलत: चित्त, विज्ञान तथा मन को एकार्थक शब्द माना गया है।

चित्तं मनोथ विज्ञानमेकार्थम्। (अभिधर्म कोश 2/34)

चिनोतीति चित्तं मनुत इति मनो विजानातीति विज्ञानम्।

चित्तं शुभाशुभैर्घातुभिरिति चित्तम्, तदेवाश्रयभूतं, मन: आश्रितभूतं विज्ञारनमित्यपरे। (भाष्य)

अर्थात् चित्त, मन तथा विज्ञान शब्द यद्यपि एकार्थक हैं तथापि कुछ आचार्यों के मतानुसार शुभाशुभ धातुओं का चयन करने वाला चित्त है जो आश्रय रूप में मननशील है और ज्ञाता विज्ञान मन के आश्रित है।

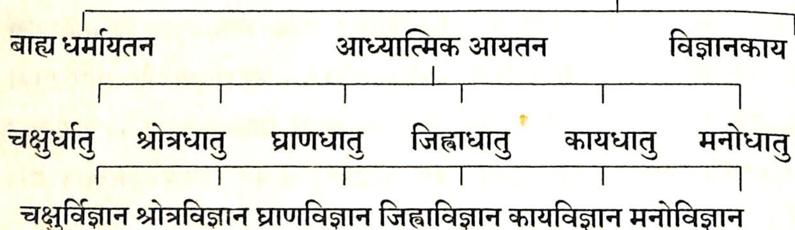
(2)

क्षणभङ्गवाद के अनुसार मन, धर्म और मनोविज्ञान का क्रमिक उत्पाद होता है। मनोविज्ञान प्रथम दो से प्रतीत्यसमुत्पन्न धातु है जो छह विज्ञानकायों में अन्यतम है। इस दर्शन में तीनों को पृथक करके स्पष्ट नहीं किया जा सकता। अष्टादश धातुओं में मनोविज्ञान की व्यवस्था पुनराकलनीय है –

रूप-शब्द-गन्ध्र-रस-स्प्रष्टव्यधातवो यथासंख्यं चक्षु: श्रोत्रघ्राण-जिह्वा-कायविज्ञानैरुभूता मनोविज्ञानेन विज्ञायन्ते। एवमेते प्रत्येकं द्वाभ्यां विज्ञानाभ्यां विज्ञेया भवन्ति। शेषास्त्रयोदश धातव: पञ्चानां विज्ञानकायानामविषयत्वादेकेन मनोविज्ञानेन विज्ञेया:। (अभिधर्म कोश-भाष्य 1/48)

अर्थात रूपादि धातुपञ्चक उभय विज्ञानकायों से विज्ञेय हैं और शेष तेरह धातुओं का विज्ञाता एकमात्र मनोविज्ञानकाय है क्योंकि वे पाँच विज्ञानकायों के विषय नहीं हैं।

विज्ञानकाय	विज्ञेय धातु
चक्षुर्विज्ञान+मनोविज्ञान	रूप
श्रोत्रविज्ञान + मनोविज्ञान	शब्द
घ्राणविज्ञान + मनोविज्ञान	गन्ध्र
जिह्वाविज्ञान + मनोविज्ञान	रस
कायविज्ञान + मनोविज्ञान	स्प्रष्टव्य
केवल मनोविज्ञान	त्रयोदश धातु



सारांशत: सभी इन्द्रिय धातुओं के साथ स्वयं मन और सभी ऐन्द्रिय विज्ञानों के साथ स्वयं मनोविज्ञान का भी विज्ञाता मनोविज्ञान है। इनके अतिरिक्त धर्मायतनसप्तक को लेकर बीस विषय केवल मनोविज्ञान के हैं। शेष रूपादिपन्चक में वह अन्य इन्द्रिय विज्ञानों के साथ भागी बनता है।

मन के स्वरूप निर्धारण में सौत्रान्तिक मत इस प्रकार है -

विज्ञान प्रतिविज्ञप्तिर्मन आयतनं च तत्।
धातव: सप्त च मता: षड् विज्ञानान्यथो मन:॥ (वही 1/16)

अर्थात् प्रतिविषय उपलब्धिरूप विज्ञप्ति को विज्ञानस्कन्ध कहा गया है जिसमें छह विज्ञानकाय समाविष्ट है। आयतन-व्यवस्था में उसी को मनआयतन माना गया है। धातुव्यवस्था में मन को मिलाकर सप्तक को धातु कहते हैं। छह आयतनों में भी मन की गणना है, ऐसी स्थिति में मनोधातु की अतिरिक्त स्थिति क्या है ?

षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धि तन्मन: (वही 1/19)

यद् यत्समनन्तनिरूद्धं तन्मनोधातुरित्युच्यते, तद् यथा स एव पुत्रोन्यस्य पिता भवति तदैव फलमन्यस्य बीजमिति (भाष्य)

अर्थात् छह विज्ञानों में जो जिसके अनन्तर निरुद्ध विज्ञान होता है वह मन कहा जाता है, जैसे, कोई पुत्र अन्य की अपेक्षा पिता अथवा फल अन्य की अपेक्षा बीज होता है। सर्वास्तिवाद की इस धारा में अतीत या निरुद्ध विज्ञान मन है जो विनष्ट हो कर अन्य विज्ञान का कारण बनता है।

(3)

वैभाषिक सर्वास्तिवाद निरोधपरक व्याख्या न देते हुए मन को किंचित् प्रकारान्तर से परिभाषित करता है –

षणमन्योन्यतन्त्रत्वात् कारणं यद्धि तन्मन:। (अभिधर्म दीप 1/7)

अर्थात् छहों विज्ञानकाय परस्पराधीन रहते हैं – वर्तमान अध्वा में जो कार्य होता है वही अतीत अध्वा में जाकर कारणता प्राप्त करता है जिससे प्रतीत्य-समुत्पन्न अन्य विज्ञान स्थान लेता है। उनमें जो कारणभूत विज्ञान होता है उसे मन कहते हैं। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान भी अनन्तरभावी मनोविज्ञान का कारण हो कर मनोधातु कहा जाता है।= इस विषय में प्रमाणान्तर भी द्रष्टव्य है –

मनोधातु पन यथासंभवतो चक्खुविञ्ञाणधातु आदीनं पुरेचरानुचरा
विय दट्ठव्वा। (विसुद्धिमग्ग 15/42)

अर्थात् चक्षुर्विज्ञानादि धातुओं के पूर्वचर एवं पश्चाच्चर के रूप में मनोधातु को देखना चाहिए। तात्पर्य यह कि पूर्वचर मनोविज्ञान इसलिए मनोधातु है कि उस के अतीत अध्वा में जाने पर चक्षुर्विज्ञानादि की उत्पत्ति होती है।

पश्चाचर मन मनोविज्ञान की अपेक्षा मनोधातु है क्योंकि उस के अतीताध्वगामी होने पर मनोविज्ञान जन्म लेता है इसे प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार जानना चाहिए। परवर्ती मनोधातु के विषय में कहा गया है -

तत्थ कतमो मनोधातु ? चक्खुविञ्ञाणधातुया उप्पज्जित्वा

निरुद्धसमनन्तरा उप्पज्जति चित्तं मनो मानसं हृदयं पण्डरं मनो मनायतनं मनिन्द्रियं विञ्ञाणि विज्याणक्खन्धो तज्जो मनोधातु। (विभङ्ग, पृ. 88)

अर्थात् चक्षुर्विज्ञानादि धातु के उत्पन्न एवं निरुद्ध होने के समनन्तर चित्त, मन, मानस हृदय, पाण्डर, मनआयतन, इन्द्रिय, विज्ञान और विज्ञानस्कन्ध उत्पन्न होता है जिसके अतीत होने पर मनोधातु की उत्पत्ति है। तात्पर्य यह कि अतीत अध्वा में कारणावस्था प्राप्त कर मन ही मनोधातु संज्ञा का भागी बनता है।

(4)

आचार्य असङ्ग ने मनोभूमि शीर्षक से इस पर विस्तृत विचार किया है जो योगाचारमत के अनुसार है -

मनोभूमि: कतमा ? सापि पञ्चभिराकारैर्द्रष्टव्या -

स्वभावत आश्रययत आलम्बनत: सहायत: कर्मतश्च।

(योगाचारभूमि 2, पृ. 11)

अर्थात् पांच आकारों से मनोभूमि का विचार करना चाहिए - स्वभाव, आश्रय, आलम्बन, सहाय और कर्म। इन दृष्टियों से समग्र मनोभूमि पर प्रकाश डाला गया है —

(क) स्वभाव: कतम: ? यच्चित्तं मनो विज्ञानम्। (वही)

अर्थात् चित्त, मन तथा विज्ञान मनोभूमि का स्वभाव है।

1. चित्तं कतमत् ? यत् सर्वबीजगतमाश्रयभावोपगतमाश्रयभावनिष्ट-
मुपादातृविपाकसंगृहीतमालयविज्ञानम्। (वही)

अर्थात् सभी संस्कार बीजों का आश्रयभूत तथा उपादानों के उपादाता के विपाक से संगृहीत संकलनात्मक चित्त है जो प्रवृत्तिविज्ञानों का आश्रयभाव लेकर आत्मवाद दृष्टि लेता है।

2. मन: कतमत् ? यत् षण्णामपि विज्ञानकायानामनन्तरनिरुद्धं क्लिष्टं च मनो यन्नित्यमविद्यात्मदृष्ट्यस्मिमानतृष्णालक्षणैश्चतुर्भि: क्लेश: सम्प्रयुक्तम्। (वही)

अर्थात् छह विज्ञानकायों के समनन्तर निरुद्ध एवं क्लिष्ट धातु को मन कहते हैं जो अविद्या, आत्मदृष्टि, अस्मिमान एवं तृष्णा नाम वाले चार क्लेशों से संयुक्त रहता है।

3. विज्ञानं कतमत् ? यदालम्बन-विज्ञप्तौ प्रत्युपस्थितम् (वही)

अर्थात् आलम्बन की विज्ञप्ति में तत्पर मनोभूमि विज्ञान है। मन की तीन भूमियां अपृथग्भूत होते हुएभी विज्ञानसन्तानरूप आलयविज्ञान चित्तं, अतीत अध्वा में प्रत्युत्पन्न

विज्ञान का कारण होने पर मन और विषय की विज्ञप्ति हेतु प्रत्युत्पन्न अध्वा में जाने वाला विज्ञान है।

(ख) आश्रय: कतम: ? समनन्तराश्रयो मन: । बीजाश्रय: पूर्ववदेव सर्वबीजकमालयविज्ञानम् । (वही)

अर्थात् मनोविज्ञान का अनन्तरातीत आश्रय मन और बीजाश्रय विज्ञान है जिसमें सभी वासनाबीज सन्तानक्रम में जन्म लेते चलते हैं।

(ग) आलम्बनं कतमत् ? सर्वधर्म आलम्बनम् । केवलं तु वेदनास्कन्ध: संज्ञास्कन्ध: संस्कारस्कन्ध:, असंस्कृतं चानिदिर्शनमप्रतिघं च रूपं षडायतनं सर्वबीजानि च (वही)

अर्थात् सभी धर्म (आठों पन्चकस्कन्धरूप संस्कृत धर्म एवं तीन असंस्कृत) मन के आलम्बन है स्वयं मन विज्ञानस्कन्ध है और रूप स्कन्ध में चक्षुर्विज्ञानादि के साथ मन सहभागी है। केवल मन के आलम्बन तीन स्कन्ध – वेदना, संज्ञा तथा संस्कार – और तीन असंस्कृत धर्म – आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं प्रतिसंख्यानिरोध हैं। इनके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष, अप्रतिघरूप, षडायतन और सभी वासनाबीज मन के आलम्बन होते हैं।

सहाया: कतये ? तद् यथा .... चैतसा धर्मा: सहायाइत्युच्यन्ते एकालम्बना अनेकाकारा: सहभुव एकैकवृत्तय: स्वबीजनियता:

सम्प्रयुक्ता: साकारा: सालम्बना: साश्रया: (वही)

अर्थात् सभी चैतसिक धर्म एक साथ मन के सहाय हैं जो एक आलम्बन से उत्पन्न हो कर अनेक आकार लेते हैं, साथ-साथ जन्म लेकर अलग-अलग कार्य करते हैं जो अपने संस्कारबीजों में नियत, चित्तसम्प्रयुक्त, साकार, सालम्बन तथा साश्रय रूपों से मन के साथ रहते हैं।

(ङ) कर्म कतमत् ? स्वपरविषयालम्बनाविज्ञप्ति: प्रथम कर्मे । पुन: स्व-सामान्य-लक्षणविज्ञप्ति: । पुनरतीतानागत-प्रत्युत्पन्नकालविज्ञप्ति: । पुन: क्षणप्रबन्धविज्ञप्ति: । पुन: प्रवर्तनानुवर्तना शुद्धानां धर्माणां कर्मणां च । पुनरिष्टानिष्ट - फलपरिग्रहस्तदयेषां च विज्ञानकायानां तद्धेतु निष्यन्दसमुत्थापना । (वही, पृ. 2)

अर्थात् मनोधातु के अनेक कर्म हैं – 1. स्वविषय तथा पर विषय (मनो मात्रविषय तथा अन्य इन्द्रियों के विषय) के आलम्बन की विज्ञप्ति 2. स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण की विज्ञप्ति, 3. अतीत, अनागत, एवं प्रत्युत्पन्न अध्वरूपकाल की विज्ञप्ति, 4. क्षणधारारूप सन्तान की विज्ञप्ति, 5. शुभाशुभ धर्मों (पदार्थों) एवं कर्मों के प्रति प्रवत्ति करना तथा अनुवर्तन करना, 6. इष्ट तथा अनिष्ट कर्मफलों का परिग्रह और 7. मनोविज्ञानकाय से भिन्न विज्ञानकायों – चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान एवं कायविज्ञान के विज्ञानहेतुभूत निष्यन्दवासना का उत्थापन। इनके अतिरिक्त -

अपि खलु सर्वेण सर्वं तदन्येभ्यो विज्ञानकायेभ्यो वैशेषिकं कर्मावलम्बनं विकल्पयति, आलम्बनमुपनिध्याति, माद्यति, उन्माद्यति, स्वपिति, प्रतिबुध्यते, मूर्छामापद्यते, मूर्छाया व्युत्तिष्ठति, कायवाक्कर्म प्रवर्तयति, वैराग्यं करोति, वैराग्यात् परिहीयते, कुशलमूलानि समुच्छिनत्ति, कुशलमूलानि प्रतिसन्दधाति, च्यवते, उत्पद्यते चेति। (वही)

अर्थात् अन्य विज्ञानकायों के लिए विशिष्ट कर्म के आलम्बन की विकल्पना, आलम्बन का ध्यान, मद, उन्माद, स्वप्न जागरण, मूर्छा, मूर्छामुक्ति, कायिक वाचिक कर्म की प्रेरणा, वैराग्य, वैराग्यहानि, कुशलमूल (अद्वेष तथा अलोभ) का उच्छेद, उन का प्रतिसंन्धान, च्युति और उत्पत्ति मन के कर्म हैं।

असङ्ग ने मन की विविधता तथा अनेकरूपता पर प्रकारान्तर से प्रकाश डालते हुए कहा है –

1. एकविधं मनो विज्ञानार्थेन । (वही, पृ. 65)

अर्थात् विज्ञानरूप प्रयोजन की दृष्टि से मन एक ही प्रकार का है।

2. द्विविधं प्रज्ञप्तिपतितमप्रज्ञप्तिपतितं च (वही)

अर्थात् विज्ञप्तिशील तथा अविज्ञप्तिशाली रूपों से मन दो प्रकार का है क्योंकि विज्ञप्तिदशा से भिन्न अविज्ञप्तिदशा भी मन का ही स्वरूप है जो क्षण-सन्तान में उपस्थित होता है।

तत्र व्युत्पन्ना व्यवहाराणां प्रथमं दहराणा पश्चिमम्। (वही)

अर्थात् व्यवहारकुशलों में प्रज्ञप्तिपतित तथा बालकों में अप्रज्ञप्तिपतित मन रहता है।

अपरः पर्यायों लौकिकं लोकोत्तरं च (वही)

अर्थात् अन्य प्रकार से भी मन की दो विधाएँ हैं – लौकिक तथा लोकोत्तर।

3. त्रिविधं चित्तं मनो विज्ञानं च (वही)

अर्थात् चित्त, मन एवं विज्ञान नामों से त्रैविध्य बनता है।

4. चतुर्विधं कुशलमकुशलं निवृताव्याकृतमनिवृताव्याकृतं च (वही)

अर्थात् कुशल, अकुशल, निवृताव्याकृत तथा अनिवृताव्याकृत भेदों से मन चार प्रकार का है।

5. पञ्चविधं पञ्चावस्थाभेदात्, हेत्ववस्थं फलावस्थं सुखावस्थं दुःखावस्थमदुःखासुखावस्थं च (वही)

अर्थात् कारण, फल, सुख, दुःख तथा अदुःखासुख अवस्थाभेद से मन के चार प्रकार हैं।

6. षड्विधं षड् विज्ञानकायाः (वही)

अर्थात् छह विज्ञानकायों में मन छह प्रकार प्राप्त करता है।

7. सप्तविधं सप्तविज्ञानस्थितिषु। (वही)

अर्थात् सात विज्ञानस्थितियों को लेकर मन सात प्रकार का है - संस्कृतत्रय, असंस्कृतत्रय तथा अविज्ञप्ति की सात विज्ञान स्थितियां हैं।

इसी प्रकार से अन्य भेद बताये गये हैं उक्त विवरण में आलय-विज्ञान ही मन है जो विविध रूपों से विवेच्य बनता है। मन ही इस दर्शन में आत्मा है –

आत्मधर्मापचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोसौ परिणामः स च त्रिधा॥
विपाको मननाख्यश्च विज्ञप्तिर्विषयस्य च।
तत्रालयाख्यं विज्ञानं विपाकः सर्वबीजकम्।
(विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-त्रिंशिका 1-2)

अर्थात् अनेक प्रकार से आत्मभाव का औपचारिक व्यवहार चलता है किन्तु अनात्मरूप विज्ञान के परिणाम से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। यह विज्ञान परिणाम तीन प्रकार का है – विपाक, मन एवं विज्ञप्ति। सभी क्लेशादि वासना - बीजो का आलयभूत विपाक विज्ञान आलयविज्ञान कहा गया है।

तस्य व्यावृत्तिरर्हत्त्वे तदाश्रित्य प्रवर्तते।
तदालम्बं मनो नाम विज्ञानं मननात्मकम् (वही 3)

अर्थात् आलयविज्ञान की निवृत्ति अर्हत्त्वप्राप्ति में होती है। संसारदशा में उसके आश्रय से वासनोओं का आलम्बन बना कर प्रवृत्त होने वाला मनन रूप विज्ञान मन नाम से जाना जाता है।

असङ्‌ग ने एक ही मन की तीनों अवस्थाएं बताई हैं किन्तु वसुबन्धु ने आलयविज्ञान, मन तथा विज्ञप्ति के भेद स्पष्ट कर दिये हैं।

(5)

नागार्जुन ने षडायतन का परिगणन करके चक्षु के विषय में कहा है -

स्वमात्मानं दर्शनं हि तत् तमेव न पश्यति।
न पश्यति यदात्मानं कथं द्रक्ष्यति तत् परान्॥ (मध्यमक शास्त्र 3/2)

अर्थात् जब चक्षुरिन्द्रिय अपने को नहीं देखता तब वह दूसरे को कैसे देख सकता है ? उन्होंने सभी इन्द्रियों एवं मन पर भी यह तथ्य लागू किया है। अतः जो मन अपनी विज्ञप्ति नहीं रखता वह अन्य की विज्ञप्ति कैसे कर सकता है ? यह तथ्य पारमार्थिक दृष्टि से उपस्थित किया गया है। सांवृत सत्य के रूप में मन की सत्ता से यह मत सहमत है। वैशेषिक मत का प्रत्याख्यान करते हुए भावविवेक ने कहा है –

साध्यताः मनः तथापि नासंस्कृतम्, ज्ञानजनकहेतुत्वाद् रूपादिवत् ...... परमाणवोपि नासंस्कृता आरम्भकहेतुत्वात् तन्त्वादिवत्। (करतलरत्न, पृ, 53)

अर्थात् सांवृत्त सत्य के रूप में मन को परमाणुरूप सिद्ध करने में कोई आपत्ति नहीं है

किन्तु वह असंस्कृत एवं नितय नहीं हो सकता क्योंकि वह रूपादिवत् ज्ञान का जनक है और जो जनक होता है वह संस्कृत ही हो सकता है। तन्तु आदि के समान आरम्भिक होने से परमाणु भी असंस्कृत धर्म नहीं है।

इस प्रकार मन को क्षणिक एवं संस्कृत धर्म के रूप में संवृत्तिसत् माना गया है, परमार्थसत् नहीं। संवृतिसत् की कोई भी व्याख्या करने में शून्यवादी को आपत्ति नहीं है। नागार्जुन ने इसी दृष्टि से कहा है -

तत्र यच्चेतनेत्युक्तं कर्म तन्मानसं स्मृतम्।
चेतयित्वा च यत्तूक्तं तत् तु कायिकवाचिकम्॥ (मध्यमक शास्त्र 17/3)

अर्थात् भगवान बुद्ध ने जिसे चेतना कहा है वह मन की क्रिया और जिसे चेतनापूर्वक कर्म कहा है वह कायिक तथा वाचिक क्रिया है। परन्तु यह परमार्थ-सत् नहीं है –

आत्मनोस्तित्व-नास्तित्वे न कथंचिच्च सिध्यत:।
तं विनास्तित्वनास्तित्वे क्लेशानां सिध्यत: कथम्? (वही 23/3)

अर्थात् किसी तर्क द्वारा आत्मा का न अस्तित्व सिद्ध होता है और न नास्तित्व। आत्मा के बिना क्लेशों का अस्तित्वनास्तित्व कैसे सिद्ध हो सकता है। तात्पर्य यह कि प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों का स्वभाव असिद्ध है क्योंकि नैरात्म्य में नि: स्वभावता ही पलित होती है।

सर्वधर्मा अनात्मान इत्यतो भाषितं जिनै:।
धातुषट्कं च तै: सर्वं निर्णीतं तच्च नार्थत:॥ (रत्नावली 2/2)

अर्थात् बौद्ध अनुशासन है कि सभी धर्म जो मनोविषय कहे गये हैं, अनात्मा हैं और षडायतन भी अनात्मा है, अत: उन की परमार्थ सत्ता नहीं हो सकती।

शून्यवादी आचार्य सांवृत्त सत्य को नि:स्वभाव बताकर उस की व्याख्या नहीं करते हैं, अत: मन का स्वरूपनिरूपण भी नहीं करते। यही निरालंम्बनवाद है जिसे अन्य बौद्धों ने भी अमान्य किया है।

विशेष

सभी दर्शन मन के विषय में विचार करते हैं। शून्यवाद को छोड़कर अन्य चिन्तनधाराएँ मन को ज्ञान का मध्यबिन्दु मानती हैं। बौद्ध उसे क्षण सन्तानरूप मानकर आत्मा का स्थान देते हैं तो जैनों के अनुसार वह जीव का परिणाम है। वैदिक दर्शनों में नित्यत्व तथा अनित्यत्व, परिमाण, उत्पादक कारण और वृत्ति आदि को लेकर वैमत्य देखा जाता है। अन्त:करण के रूप में मन प्राय: निर्विवाद रहा है। संकल्प-विकल्प वृत्तियां प्राय: सर्वमान्य हैं किन्तु बौद्ध उसे ही आत्मा मानते हैं जो ज्ञाता का स्थान लेता है।

दर्शन	स्वरूप	परिमाण	नित्य/अनित्य
आयुर्वेद	आहंकारिक	शरीर परिमाण	अनित्य
सांख्ययोग	आहंकारिक	शरीरपरिमाण	अनित्य
न्यायवैशेषिक	अनादिद्रव्य	अणुपरिमांण	नित्य
मीमांसा	अनादिद्रव्य	अणु व्यापक	नित्य
अद्वैतवेदान्त	भौतिक	शरीरपरिमाण	अनित्य
विशिष्टाद्वैत	आहंकारिक	अणुपरिमाण	अनित्य
द्वैतवेदान्त	बुद्धिजन्य	अणुपरिमाण	अनित्य
शुद्धाद्वैत	आहंकारिक	अणुपरिमाण	अनित्य
प्रत्यभिज्ञा तथा शाक्त	प्राकृत	शरीरपरिमाण	अनित्य
द्वैतशैव	आहंकारिक	व्यापक	नित्य
जैन	जीवपरिणाम	संकोचविकासी	अनित्य
बौद्ध	क्षणिक	प्रतीत्य समुत्पन्न	अनित्य

13

परिशिष्ट : दो
भारत में आधुनिक मनोविज्ञान*

पारम्परिक मनोविज्ञान दर्शनों में सम्मिलित था और केवल तार्किक विश्लेषण से अपनी समस्याओं के उत्तर खोजता था। आधुनिक मनोविज्ञान दूसरे विज्ञानों की तरह प्रत्यक्ष अवलोकन और प्रयोग के आधार पर अन्वेषण करता है। इस आधुनिक मनोविज्ञान की उमर सौ साल से ज्यादा नहीं है। भारत वर्ष में इसका प्रादुर्भाव करीब पचास वर्ष पहले हुआ।

डॉ. बोस व श्री सेनगुप्ता इन्होंने 1915 में कलकत्ता विश्वविद्यालय की पहली मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला खोली। इसके बाद ढाका, मैसूर, लखनऊ, पटना, इलाहाबाद, जबलपुर, बंगलौर, पूना आदि जगहों पर भी मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाएं खोली गयीं। विगत दसक में कई प्रान्तों में शैक्षणिक व व्यावसायिक मार्ग दर्शन के लिए कार्यालय खोले गये। रक्षा मन्त्रालय ने मनोविज्ञान अन्वेषण शाखा खोली और हाल ही में राष्ट्रीय शिक्षा समिति ने मनोमिती शाखा खोली है।

मनोमिती

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने सबसे ज्यादा काम मनोमिति में किया। मनोमिती याने मन का मापन। इस शब्द प्रयोग से कई लोग आश्चर्य करते हैं ''क्या मन किसी मापदण्ड से नापा जा सकता है ? क्या मन यह कोई कागज़ या कपड़ा है ?''

यह आश्चर्य निर्मूल है। विद्यालयों में परीक्षा लेने वाले शिक्षक विद्यार्थियों के ज्ञान का मापन ही करते हैं। इसी परीक्षा पद्धति को, सांख्यिकी, अनेक व्यक्तियों का सर्वेक्षण इत्यादि उपायों से अधिक कार्यक्षम करना, यही मनोमिति है।

**नी.र.व. पाण्डे द्वारा निर्मित यह परिशिष्ट - आलेख 60 के दशक तक के भारत में आधुनिक मनोविज्ञान का सर्वेक्षण है।*

मनोमिति में बुद्धि का मापन करने का शास्त्र सबसे प्रगल्भ है। 1925 में हरबर्ट राइस ने बिने नामक मनोवैज्ञानिक के बुद्धि परीक्षा के आधार पर एक हिन्दुस्तानी परीक्षा बनाई। यह परीक्षा 1388 छात्रों को दी गयी। इसकी विश्वसनीयता 0.86 है। सम्पूर्ण विश्वसनीयता का माप 1 रहता है। अर्थात् राइस की परीक्षा की विश्वसनीयता काफी ऊँची है।

इस परीक्षा के आधार पर राइस ने भिन्न भिन्न जातियों की तुलना की। उसमें ब्राह्मणों के माध्य (*average*) अंक 107 और दूसरों के 100 निकले। हरिजनों के अंक अन्य जातियों से कम नहीं पाये गये।

डॉ. सोहन लाल ने भी विभिन्न जातियों के तौलनिक बुद्धिस्तर के विषय में अन्वेषण किया है। उन्होंने एक हिन्दुस्तानी बुद्धि परीक्षा का 1410 बालकों पर प्रयोग किया। उसमें ब्राह्मणों के और शूद्रों के अंकों में कुछ अंतर पाया गया। परन्तु अन्य जातियों में और ब्राह्मणों में फ़र्क नहीं आया। ब्राह्मण और शूद्रों का फ़र्क भी नगण्य सा है।

बम्बई के प्रसिद्ध मनोवेत्ता कामत ने टर्मन और मेरिल के बुद्धि परीक्षा के आधार पर मराठी और कन्नड़ भाषाओं में एक नयी परीक्षा बनाई। 739 कन्नड़ और 335 मराठी छात्रों को यह परीक्षा दी गयी। शिक्षकों ने अपने छात्रों के बुद्धि के बारे में जो अनुमान किये उनसे इस परीक्षा के आधार पर किये हुए अनुमान 0 .5 तक मिलते हैं। (पूरा मेल 1 कहलाता है) जो लोग लिखना पढ़ना नहीं जानते उनके बुद्धि का मापन लिखित कसौटियों से नहीं हो सकता। इसलिये उनके लिए मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक परीक्षाओं का प्रयोग करते हैं। डॉ. भाटिया ने ऐसी एक बुद्धि परीक्षा प्रणीत की है। इस परीक्षा के अंकों का स्कूल के परीक्षा के अंकों से 0.7 के करीब मेल है।

रक्षा मन्त्रालय के मनोविज्ञान शाखा ने पचासों मानसिक मनोमितियां बनाई हैं। यह सारी गुप्त रक्खी गयी हैं। परन्तु इनके आधार पर किये कुछ अन्वेषण प्रकाशित हुए हैं। हाल ही में चार बुद्धि परीक्षाओं में 14 साल से लेकर 44 साल तक के 20000 व्यक्तियों के अंकों की जांच डॉ. नी. र. व. पाण्डे व श्री. पी. एस. चौधरी इनके नाम पर प्रकाशित हुई है। इससे यह सिद्धान्त प्रस्थापित किया गया है कि 23 साल के उमर के बाद बुद्धि का विकास नहीं होता। बल्कि अन्य ज्ञानेन्द्रियों की तरह बुद्धि पर उमर का बुरा परिणाम होता है।

Thematic Apperception Test में किसी व्यक्ति को कुछ चित्र दिखाकर उस चित्र के विषय में एक छोटी सी कहानी लिखने का आदेश दिया जाता है। इन कहानियों को पढ़कर मनोवैज्ञानिक उस व्यक्ति के बारे में कुछ निष्कर्ष निकालता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि पहले देखे हुए चित्रों से अभी दिखने वाले चित्र के परिणाम में कुछ फरक पड़ता है या नहीं ? इसकी जांच करने के लिए रक्षामन्त्रालय के

मनोविज्ञान शाखा ने एक प्रयोग किया। इसका फलित यह निकला कि पिछले चित्रों का परिणाम नगण्य रहता है।

सेनाधिकारी बनने के लिए इच्छुक उम्मीदवारों में नेतृत्वादि गुण कहां तक हैं, इसकी परख करने के लिए एक परीक्षा ली जाती है। इस परीक्षा में उम्मीदवार को दूसरे उम्मीदवारों की सहायता से कुछ काम करने का आदेश दिया जाता है। वह किस तरह दूसरों की सहायता करता है और उनको सहायता देने के लिए प्रेरित करता है, इससे उसके नेतृत्वादि गुणों की परख की जाती है।

इस पद्धति पर यह प्रश्न उठता है कि अगर अलग अलग परीक्षक इस परीक्षा का प्रयोग करें तो उनकी राय एक ही होगी या नहीं ?' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए रक्षा मन्त्रालय ने एक प्रयोग किया। उससे पता लगा कि इस परीक्षा में अलग अलग परीक्षकों के मत में 0.68 से 0.93 तक मेल होता है। सेनाधिकारी बनने के इच्छुक उम्मीदवारों में सैनिक गुण कहाँ तक हैं, इसकी परीक्षा करने के लिए *Selection Board* नियुक्त किये गये हैं। इस परीक्षा में नेतृत्व, सहकार्य, धैर्य, अनुशीलन आदि गुणों की जाँच होती है। इन सारे गुणों के मूलभूत मनस्तत्व कौन से हैं, इनकी चिकित्सा करने के लिए रक्षा मन्त्रालय के मनोवैज्ञानिकों ने अवयव विश्लेषण (*Factorial Analysis*) का गणितीय रीति से अन्वेषण किया। उसका फलित निकला कि बुद्धि, व्यक्तिगत सम्बन्ध और निश्चय ये तीन सैनिक गुणों के मूलभूत आधार हैं। इन आधारों में बुद्धि का महत्व कितना है इस पर रक्षा मन्त्रालय ने खास अन्वेषण किया है। उसका फलित निकला कि बुद्धि परीक्षाओं में जो उम्मीदवार अच्छे सिद्ध होते हैं उनमें से अधिकांश बाद में अच्छे सेनाधिकारी भी सिद्ध होते हैं।

शिक्षा मनोविज्ञान

मनोमिति शिक्षा मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध रखती है। इस क्षेत्र में भी कुछ काम हुआ है। श्री सेन ने अलीपुर रेफर्मेटरी के कुछ उन्मार्गगामी बालकों का अध्ययन किया। सर्वश्री मुकर्जी, बनर्जी, मुजुमदार, जलोटा आदि ने वर्तमान परीक्षा पद्धति की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की। डॉ. झेन्दरकर ने, शिक्षा के परिणाम कहां तक हो सकते हैं, इसका अन्वेषण किया। प्रायोगिक मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव होने के पहले समझा जाता था कि गणित पढ़ने से केवल गणित ही नहीं आता बल्कि बुद्धि तेज होकर गणित के व्यतिरिक्त और भी क्षेत्रों में पहले से अधिक कार्यक्षमता होती है। प्रायोगिक मनोविज्ञान ने यह धारणा गलत सिद्ध की है। इसलिए कौन सी शिक्षा का क्या परिणाम होता है इसकी खोज करना आवश्यक है। यही काम डॉ. झेन्दरकर ने किया है।

प्रो. गोपाल स्वामी ने दर्पण में देखकर लिखने की क्रिया सीखने में कौन से मानसिक तत्व अनुस्यूत हैं, इसकी जांच की। प्रो. मैती व प्रो. शास्त्री इन्होंने स्मरण शक्ति के बारे में अन्वेषणा की।

सामाजिक मनोविज्ञान

शिक्षा मनोविज्ञान से समाज मनोविज्ञान अधिक व्यापक है। इसमें भी कुछ थोड़ा काम हुआ है। भारत में हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, ब्राह्मणेत्तर, औत्तर, दाक्षिणात्य आदि समूहों में जो तनातनी है उसकी मनोवैज्ञानिक जाँच प्रो. गार्डिनर मर्फी के नेतृत्व में की गयी। विभिन्न प्रान्तों से इस विषय में मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रतिवेदन और निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

मनोविश्लेषण

'आधुनिक मनोविज्ञान' इस शब्द प्रयोग से कई लोग फ्रॉयड का मनोविश्लेषण, इतना ही अर्थ समझते हैं। परन्तु मनोविश्लेषण यह कोई प्रमाण सिद्ध शास्त्र नहीं है। उसमें सत्यापनक्षम (*Verifiable*) सिद्धान्तों की अपेक्षा कल्पनाजाल ही अधिक है। इसलिये मैंने उसका निर्देश सबसे अन्त में किया है।

इस क्षेत्र में भी भारत में कुछ काम हुआ। जी. बोस ने विरोधी इच्छा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव में दो परस्पर विरोधी इच्छाएं रहती हैं। सक्रिय इच्छा अक्रिय इच्छा का दमन करती है। फ्रॉयड ने (*ambivalence*) द्वन्द्वभावना की संकल्पना प्रणीत की है। बोस के अनुसार, विरोधी इच्छाओं का एक समय कार्यान्वित होकर उनमें से एक का अजागृत हो जाना यही *ambivalence* का स्वरूप है।

निष्कर्ष

अभी तक भारतीय मनोविज्ञान का जो सर्वेक्षण किया उससे स्पष्ट होता है कि यह सारा अन्वेषण एकदम खंडशः है। किसी भी क्षेत्र में यहां कोई नई व प्रबल परम्परा का निर्माण नहीं हुआ। विज्ञान की सभी शाखाओं में आधुनिक भारत की यही अवस्था है। परन्तु गणित या भौतिकी में एकाध अन्वेषण ऐसा दिखलाई पड़ता है जो वैश्विक दर्जे का माना गया है। मनोविज्ञान में भारत को इतना भी भाग प्राप्त नहीं हुआ। खैर, भविष्य पर दृष्टि लगाकर हमें निश्चय से काम करना चाहिये।

भारत में अच्छे बड़े ग्रन्थालय न होने के कारण भारतीय मनोवैज्ञानिकों का बहुत सा अन्वेषण मुझे पढ़ने को नहीं मिला। अर्थात् अनेकों का नामोल्लेख रह गया होगा। वस्तुतः सभी अन्वेषणों को मैं मूलरूप में नहीं पढ़ पाया हूँ। इससे भी विवेचन में दोष हो सकता है। उसे संबन्धित विद्वान् क्षमा बुद्धि से देखें।

नीचे सूची रूप में भारतीय मनोविज्ञान का थोड़ा परिचय कराता हूँ। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक के नाम के आगे उसका कार्य क्षेत्र दिया गया है।

अमीन, डी.एल.- बुनाई कौशल्य।

अगरवाल-डी.आर. वोर्न के आकार तक्त से बुद्धिमापन।

कालो प्रसाद - थकावट

कुप्पू स्वामी - प्राणी मनोविज्ञान, क्षुधा व पलायन

अस्थाना, एच.एस.- रौशाक कसौटी
अस्लाम, एम.डी.- प्रतिक्रिया काल व स्वभाव ।,
उदय शङ्कर - हिन्दी बुद्धि परीक्षा ।
कमला कान्त - थकावट
कामत - मराठी व कन्नड़ में टर्मन व मेरिल के अनुसार बुद्धि परीक्षा ।
गोपाल स्वामी, एम.व्ही - रोना और सीखना तथा हास्य, बालार्ड की कसौटी पर भिन्न जातियों की बुद्धि की तुलना ।
गोविन्द स्वामी, एम.व्ही. - मनोविद्युत्क्रिया और बुद्धि

घोष, एस.पी. - यान्त्रिक कौशल्य की कसौटियां ।
घोष, पी.- स्टेनक्विस्ट कसौटी ।
घोष, बी.- केली की रचना शक्ति की कसौटी ।
घोष, जी. वी.- केली की रचना कसौटी और घन रचना ।
घोष, आर.- व्हर्नियर का काल मापक और प्रतिक्रिया ।
चोथिया, एफ.एस.- शालेय-योग्यता-परीक्षा ।
चौधरी, उमा - बङ्गाल में नगर और ग्रामीण लोगों की परीक्षा
जलोटा, एस. - बुद्धि परीक्षा, वर्तमान परीक्षा पद्धति ।
दत्ता, ए.- वर्ण और बृहत्ता ।
दानी, एस.के.- सामान्य बुद्धि परीक्षा ।
देसाई, के.जी. - गुजराती बुद्धि परीक्षा ।
परसराम - मिल मजदूरों की कर्मनिष्ठा ।
पाल, जी. - वेवर के नियम का विस्तार,
गाङ्गुली, डी.- टर्मन और मेरिल की कसौटी
गाङ्गुली, एम.एल. - प्रतिक्रिया काल ।

गाङ्गुली, एच.सी. - आवाज का कार्य-शक्ति पर परिणाम ।
गाङ् गुली, एम. एन.- हिप का काल मापक ।
बिसी, एस.सी.- यन्त्र कर्म का मनोविज्ञान, मनोरुग्णता प्रश्नावली ।

बोस, एस.के.- मानसिक कसौटियां, शिक्षा व व्यवसाय के बारे में मार्ग दर्शन, अवधान, स्पर्श ।
बोस, जी.- विरोधी इच्छाएं, बृहत्स्नायु शक्ति मापक, निर्बल चेतन का संवेदन ।
बोस, एन.के. - स्मरण ।
बोस, एस.- बुद्धि की शीघ्रता ।
भट्टाचार्य, सी.सी- व्यक्तित्व परीक्षा ।
भाटिया, सी.एम.- बुद्धि परीक्षा, ग्रामीण विभाग ।
भौमिक, टी.पी. - बंगला परीक्षा, द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए ।
मर्फी, गार्डनर- भिन्न समूहों में संघर्ष ।
महालनवीस, पी. सी. - बुद्धि परीक्षा से भविष्यकथन, डीअर बोर्न आकार तख्ते का मूल्यांकन ।
मित्र, एस.सी. - वर्ग और बृहत्ता संवेदन ।
मुकर्जी, के.सी. - मनः शक्ति, उष्णता भान, स्पर्शभ्रम ।
मुकर्जी, के.आर.- मिलों में दुर्घटनाएं ।
मुकर्जी, एन. - वर्तमान परीक्षा पद्धति ।
मजूमदार, एस.एस. - वर्तमान परीक्षा पद्धति ।

स्मरण।

प्रसाद, के.- मिल कर्मचारियों की थकावट।

फॉरेस्ट, जीन - शिक्षकों की शिक्षा।

बैनर्जी, एम एन. - रसों का मनो-विज्ञान

बैनर्जी, एच.सी. - वर्तमान परीक्षा पद्धति।

बङ्गाली बुद्धि परीक्षा - द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए।

राइस, सी.एच. - हिन्दी और पंजाबी में बुद्धि परीक्षा।

राजनारायण - मनोविश्लेषण और तुष्टि का मनोविज्ञान।

राजाराम कुमार - हास्य और आत्म-स्थापना।

राय, पी. - भीलों की बुद्धि।

राय, एस.एन.- वैद्यक, कानून आदि व्यवसाय।

राय, डी. एन. - बंगाली बुद्धि परीक्षा-द्वितीय श्रेणी के छात्रों के लिए।

सरकार, जे.के. - प्रक्षेपण और अन्त:-क्षेपण, अवधान।

सामन्त, एस. एन. - डीअरवोर्न के आकार तख्तों से बुद्धिमापन, प्रति-क्रिया काल।

सिन्हा, डी - प्रत्यक्षानुभव में सामा-जिकता।

महरोत्रा, एस एम.- मनोमितिविषयक संख्याएं।

मैती, एच.पी. - स्टनफर्ड की कसौटियां, वर्तमान परीक्षा पद्धति, स्मरण।

मोहसिन, एस.एम - काम और क्रीडा, स्पिअरमन की बुद्धि विषयक उपपत्ति।

रमाराव, के जी.- यान्त्रिक उपकरणों में

आस्था, सामान्य बुद्धि की कसौटियाँ, वेग।

सेन, डी.एन. - मनोविद्युत और थकावट।

सेन, जे.एम. - उद्वर्तनी बालक।

सेन, गुप्ता एन. एन. - अवधान, चूहे और चक्रव्यूह।

सोहन लाल - बुद्धि परीक्षा, रक्षा मनो - विज्ञान।

हनुमन्तराव, जी.- हाथी और रस्सिओं का उपयोग।

हार्पर, एडविन - विशिष्ट बुद्धि परीक्षा।

शास्त्री, एन. एस. एन.- भाषा पटुत्व, स्मरण, माख्खेओं का वर्तन, मनोवियुत् और चित्रों के परिणाम।

शेन्दरकर, डी.डी. - शिक्षा के परिणामों की मर्यादा।

श्रीमाली, पी.एल. - गुडिनफ के बुद्धि परीक्षा परीक्षा का भारतीय स्वरूप।

श्रीनिवास राव, एस.व्ही. - बुद्धि परीक्षा में योगायोग।

यह सारा साहित्य *Indian Journal of Psychology*, शिक्षा, *Indian Journal of Educational Research, Journal of Education and Psychology, Punjab Education Journal, Teaching, Journal of Vocational and Educational Guidance* आदि में उपलब्ध है। कुछ स्वतन्त्र प्रबन्ध रूप में भी उपलब्ध हैं।

लेखक - परिचय

भीखन लाल आत्रेय, डी. लिट्., पद्मभूषण, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन, मनोविज्ञान तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। योगवासिष्ठ- दर्शन के प्रथम परिष्कर्ता। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष। भारत के वर्तमान मान्य दार्शनिकों में से अन्यतम हैं।

वि.मि. बेडेकर, महाराष्ट्र के एकमात्र सुप्रसिद्ध मासिक संशोधनात्मक पत्र 'नवभारत' के भूतपूर्व संपादक। सांख्य दर्शन तथा महाभारत से संबंधित अन्यान्य विषयों पर अनेक शोध निबंध भंडारकर रिसर्च जर्नल में प्रकाशित।

रामचन्द्र पाण्डेय, व्याकरणाचार्य, एम.ए. पी-एच.डी.। Philosophy of meaning in Indian Thought नामक व्याकरण दर्शन के शब्दार्थ विवेचन पर आधारित ग्रंथ सहित भारतीय दर्शन एवं बौद्ध दर्शन संबंधी अनेक ग्रंथों के लेखक एवं संपादक। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में व्याकरण तथा दर्शन की शिक्षा पायी। तदंतर प्रथम कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में और संप्रति दिल्ली विश्वविद्यालय में दर्शनाध्यापक रहे।

जितेन्द्रनाथ मोहन्ती, एम.ए., पी-एच.डी.। कलकत्ता विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त। गोषेटिंगेन विश्वविद्यालय से हाइडेगर एवं व्हाइटहेड के दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन पर पी-एच डी. पदवी द्वारा सम्मानित, Indian Philosophical Congress के विश्वभारती अधिवेशन के तर्कशास्त्र विभाग के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष। अनेक विद्वत्तापूर्ण शोध निबन्धों एवं भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन से संबंधित दर्जनों मौलिक और गवेषणात्मक ग्रंथों के विश्व प्रसिद्ध लेखक।

अ.ग. जावडेकर, एम.ए., पी-एच.डी., बड़ौदा विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष। अनेक शोध निबंधों तथा मौलिक दार्शनिक ग्रंथों के रचयिता। Indian Philosophical Congress के भूतपूर्व विभागाध्यक्ष तथा शंकर जयंती व्याख्यान के भूतपूर्व व्याख्याता।

पी.एस. शास्त्री, एम.ए., एम. लिट्., पी-एच.डी. (संस्कृत तथा इंग्लिश में)। संस्कृत, इंग्लिश, दर्शन तथा प्राचीन भारतीय इतिहास इन विविध विषयों पर प्रभूत लेखन कार्य किये हुए विद्वान्, परिष्कर्ता। सागर विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के भूतपूर्व सहायक अध्यापक तथा नागपुर विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष।

बलिराम येरकुंटवार, नागपुर के एक सुप्रतिष्ठित शास्त्रवेत्ता। आयुर्वेद मनोविज्ञान, साहित्यशास्त्र आदि विषयों से संबंधित अनेक मौलिक निबंधों के प्रणेता। 'प्रज्ञालोक' नामक एक मराठी त्रैमासिक के भूतपूर्व संपादक।

नी.र.व. पांडे, एम.ए., बी.लिट्, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से पी-एच.डी.। श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक, भारत सरकार के सुरक्षा विज्ञान संस्थान के मनोवैज्ञानिक के पद पर आसीन रहे। हिन्दी, मराठी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में मौलिक तथा शोधपूर्ण लेखन। 'सुख-दुख विवेक' तथा 'Ability and Education' इन दो गवेषणात्मक ग्रंथों के रचयिता।

नारायण शास्त्री द्राविड़, एम.ए., न्यायाचार्य, पी-एच.डी.। नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग के अध्यक्ष। इंगलिश, हिन्दी तथा मराठी में अनेक दार्शनिक निबन्धों के तथा वेदान्त पर मराठी में एक मौलिक ग्रंथ के लेखक।

श्याममनोहर गोस्वामी, आंध्रदेशीय कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत तैत्तिरीय शाखाध्यायी श्री वल्लभाचार्य की वंश पम्परा में सोलहवीं पीढ़ी में सम्प्रति वाल्लभ वेदांत के सहित शांकर वेदांत, रामानुज वेदांत, माध्यवेदांत के प्रकाण्ड आचार्य। पं. राहुल सांकृत्यायन के साथ बौद्ध धर्मदर्शन एवं हकीम मिर्ज़ा हेदरवेग के साथ कुर्आन, फारसी-सूफी मत का अध्ययन। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शरचंद्र बोस, जयप्रकाश नारायण, रामनोहर लोहिया इत्यादि के सहचर। बीसवीं शताब्दी में पुष्टि भक्ति मार्गीय शुद्धाद्वैतवादी दर्शन के युक्ति-प्रमाण-पुरस्सर परिष्कर्ता एवं तत्सम्बन्धी लगभग चालीस ग्रन्थों के सम्पादक एवं प्रणेता।

राजेश कुमार चौरसिया, एम. ए. (दर्शनशास्त्र), पी-एच.डी. (जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन में स्वतंत्रता की अवधारणा), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्त कनिष्ठ एवं वरिष्ठ शोध अध्येयता वृत्ति (1998-2002), सम्प्रति दर्शनविभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में तदर्थ व्याख्याता। दार्शनिक त्रैमासिक एवं परामर्श तथा जे. आई. सी. पी. आर. इत्यादि पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन। जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन पर हिन्दी में शीघ्र ही एक ग्रंथ प्रकाश्य।

संपादक-परिचय

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रो. एन.एस. द्राविड़ की गणना स्वांतत्र्योत्तर युग के कुछ एक परिष्कर्त्ता दर्शनशास्त्रियों में की जा सकती है जो भारतीय दर्शन की शास्त्रीय परम्परा और विश्वदृष्टि में बद्धमूल रहते हुए दर्शनशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों से अपरिचित नहीं थे। इनका जन्म (१९२४) कुल-परम्परा से एक नैयायिक परिवार में हुआ लेकिन अद्वैत वेदान्त के प्रति इनकी अप्रतिहत निष्ठा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन दृष्टि के रूप में क्या सचमुच न्यायदर्शन का पर्यवसान वेदान्त में हो जाता है ? प्रो. द्राविड़ दर्शनशास्त्र में एम.ए., पी-एच.डी. एवं न्यायाचार्य थे। नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर आसीन रहते हुए इन्होंने लम्बे समय तक दर्शन-साधना किया है। अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय में ये कुछ दिनों तक विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। १९५० के दशक से लेकर अद्यतन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्रीय समस्याओं पर अनेकों परिष्कारात्मक निबन्धों को लिखकर इन्होंने उच्चस्तरीय दार्शनिक साहित्य को राष्ट्रभाषा में उपलब्ध कराया है। भारतीय प्रमाणशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति इनकी मराठी भाषा में प्रकाशित है। इनके द्वारा "भारतीय मनोविज्ञान" शीर्षक से एक सम्पादित कृति भी उल्लेखनीय है। प्रो. द्राविड़ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उपक्रमों से लम्बे समय तक जुड़े रहे। इन्हें परिषद् के अहमदाबाद अधिवेशन का अध्यक्ष भी मनोनित किया गया था। प्रो. द्राविड़ पाश्चात्य दर्शन की अधुनातन प्रवृत्तियों का अवगाहन प्रारम्भ से ही भारतीय दर्शन को समृद्ध करने के लिए करते रहे हैं। इन्होंने अपनी दार्शनिक निष्ठा पर आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को कभी आरोपित नहीं होने दिया बल्कि उनके गुण-दोषों की जाँच-पड़ताल करते हुए उन्हें अन्तर्भुक्त भी किया। भारतीय दर्शन के समक्ष उपस्थित होने वाले विलायती चुनौतियों का ससम्मान विवेचन करते हुए स्वयूथ्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इनके आलेखों में सर्वत्र द्रष्टव्य है। सम्प्रति - आकलैण्ड (न्यूजीलैण्ड) में रहते हुए भारतीय तत्व ज्ञान में प्रमाणशास्त्रीय चिंतन पर लेखन में संलग्न।

साभार-स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-1 समेकित दार्शनिक विमर्श

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया

सांख्य एवं शांकर वेदान्त के विशिष्ट अध्ययन के साथ दर्शनशास्त्र में एम. ए.। प्री. पी-एच.डी. कोर्स इन आइ. आई. टी. दिल्ली। स्वतंत्रता का सम्प्रत्यय: एक आलोचनात्मक अनुशीलन (जिद्दू कृष्णमूर्ति के विशेष संदर्भ में) विषय पर पी-एच. डी. उपाधि। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से कनिष्ठ एवं वरिष्ठ शोध अध्येयता वृत्ति। I.P.C.R. द्वारा 2006 में Nature and lelvels of consciousness with special reference to panchakosha text of taitiriya Upanishad नामक शोध योजना पर Post Doctoral General Fellowship Award। दार्शनिक त्रैमासिक, परामर्श, जे. आइ. सी. पी. आर. आदि पत्रिकाओं में आलेखों का प्रकाशन। समकालीन भारतीय दार्शनिकों के अध्ययन में विशेष रूचि है। श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य तथा जे. कृष्णमूर्ति के दर्शन का विशेष अध्ययन। जे. कृष्णमूर्ति के विचारों पर आधारित 'मानव स्वातंत्र्य की अवधारणा' को लक्षित करते हुए एक ग्रंथ शीघ्र प्रकाश्य।

नारायण शास्त्री द्राविड़

प्रो. एन.एस. द्राविड़ की गणना स्वांतंत्र्योत्तर युग के कुछ एक परिष्कर्त्ता दर्शनशास्त्रियों में की जा सकती है जो भारतीय दर्शन की शास्त्रीय परम्परा और विश्वदृष्टि में बद्धमूल रहते हुए दर्शनशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों से अपरिचित नहीं थे। इनका जन्म (१९२४) कुल-परम्परा से एक नैयायिक परिवार में हुआ लेकिन अद्वैत वेदान्त के प्रति इनकी अप्रतिहत निष्ठा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन दृष्टि के रूप में क्या सचमुच न्यायदर्शन का पर्यवसान वेदान्त में हो जाता है ? प्रो. द्राविड़ दर्शनशास्त्र में एम.ए., पी-एच.डी. एवं न्यायाचार्य थे। नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर दर्शन विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर आसीन रहते हुए इन्होंने लम्बे समय तक दर्शन-साधना किया है। अमेरिका के हवाई विश्वविद्यालय में ये कुछ दिनों तक विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। १९५० के दशक से लेकर अद्यतन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनशास्त्रीय समस्याओं पर अनेकों परिष्कारात्मक निबन्धों को लिखकर इन्होंने उच्चस्तरीय दार्शनिक साहित्य को राष्ट्रभाषा में उपलब्ध कराया है। भारतीय प्रमाणशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति इनकी मराठी भाषा में प्रकाशित है। इनके द्वारा "भारतीय मनोविज्ञान" शीर्षक से एक सम्पादित कृति भी उल्लेखनीय है। प्रो. द्राविड़ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उपक्रमों से लम्बे समय तक जुड़े रहे। इन्हें परिषद् के अहमदाबाद अधिवेशन का अध्यक्ष भी मनोनित किया गया था। प्रो. द्राविड़ पाश्चात्य दर्शन की अधुनातन प्रवृत्तियों का अवगाहन प्रारम्भ से ही भारतीय दर्शन को समृद्ध करने के लिए करते रहे हैं। इन्होंने अपनी दार्शनिक निष्ठा पर आधुनिकतावादी प्रवृत्तियों को कभी आरोपित नहीं होने दिया बल्कि उनके गुण-दोषों की जाँच-पड़ताल करते हुए उन्हें अन्तर्भुक्त भी किया। भारतीय दर्शन के समक्ष उपस्थित होने वाले विलायती चुनौतियों का ससम्मान विवेचन करते हुए स्वयूथ्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन इनके आलेखों में सर्वत्र द्रष्टव्य है। सम्प्रति - आकलैण्ड (न्यूजीलैण्ड) में रहते हुए भारतीय तत्व ज्ञान में प्रमाणशास्त्रीय चिंतन पर लेखन में संलग्न।

साभार-स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण-1 समेकित दार्शनिक विमर्श

किताब के बारे में

विश्वव्यापी वैज्ञानिक संस्कृति के निर्माण में आधुनिक युग से लेकर आधुनिकोत्तर युग पर्यन्त मनोवैज्ञानिक चिन्तन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक मनोविज्ञान, वास्तव में, मनोवैज्ञानिक चिन्तन का एक ऐसा पाश्चात्य संस्करण है जो मानवीय मन और उसके क्रियाकलापों का अध्ययन मानवीय अस्तित्व की आधिभौतिक सीमा में करता है। भारतीय दर्शनों में प्राप्त मनोवैज्ञानिक चिन्तन का जैसा स्वरूप इस पुस्तक में, दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा, उपस्थापित किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि भारतीय मनोविज्ञान मनुष्य को 'आत्मन्' मान कर उसके मनोदैहिक क्रिया-व्यापारों का अध्ययन - आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक - इन तीनों आयामों में करता है। मनुष्य की गहन एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को आज का प्रायोगिक मनोविज्ञान अपनी सीमा में व्याख्यायित न कर पाने के कारण उन्हें अनुभूति की कोटि से ही बहिष्कृत कर देता है जबकि इसी प्रकार की अनुभूतियों से ही मनुष्य में मूल्यात्मक रूपान्तरण घटित होता है। इस दुनियाँ को बेहद प्रभावित करने वाले ऋषि, मनीषी, नबी, संत और महात्मा इसी प्रकार की अनुभूतियों को आत्मसात् करने वाले द्रष्टा कहे जा सकते हैं। ऐन्द्रिक सभ्यता के इस युग में जहाँ मानवता के अर्थ का दैहिक आयाम में ही अवमूल्यन हो रहा है, भारतीय मनोवैज्ञानिक चिन्तन ही उसके आत्मोन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। यह ग्रंथ इसी दिशा में एक अकादमिक पहल है। सम्प्रति दर्शनशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान एक दूसरे से अपना सम्बन्ध विच्छेद सा कर चुके हैं। आज जबकि दार्शनिक चिन्तन के अनुप्रयुक्त आयाम पर अधिक बल दिया जा रहा है तो फिर से दर्शन एवं मनोविज्ञान को एक दूसरे का सम्पूरक बनना चाहिये। एतदर्थ मनुष्य को उसके मनोदैहिक व्यापारों और आत्मिक अभीप्साओं को सम्पूर्णता में व्याख्यायित करने के लिये एवं मनुष्य के मूल्योन्मुखी रूपान्तरण के सूत्रों को खोजने के लिये आधुनिक पाश्चात्य-मनोविज्ञान एवं भारतीय मनोविज्ञान का दार्शनिक धरातल पर सम्मिलन आवश्यक है।

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा



विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
सागर, मध्यप्रदेश

किताब के बारे में

विश्वव्यापी वैज्ञानिक संस्कृति के निर्माण में आधुनिक युग से लेकर आधुनिकोत्तर युग पर्यन्त मनोवैज्ञानिक चिन्तन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आधुनिक मनोविज्ञान, वास्तव में, मनोवैज्ञानिक चिन्तन का एक ऐसा पाश्चात्य संस्करण है जो मानवीय मन और उसके क्रियाकलापों का अध्ययन मानवीय अस्तित्व की आधिभौतिक सीमा में करता है। भारतीय दर्शनों में प्राप्त मनोवैज्ञानिक चिन्तन का जैसा स्वरूप इस पुस्तक में, दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा, उपस्थापित किया गया है उससे स्पष्ट होता है कि भारतीय मनोविज्ञान मनुष्य को 'आत्मन' मान कर उसके मनोदैहिक क्रिया-व्यापारों का अध्ययन - आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक - इन तीनों आयामों में करता है। मनुष्य की गहन एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों को आज का प्रायोगिक मनोविज्ञान अपनी सीमा में व्याख्यायित न कर पाने के कारण उन्हें अनुभूति की कोटि से ही बहिष्कृत कर देता है जबकि इसी प्रकार की अनुभूतियों से ही मनुष्य में मूल्यात्मक रूपान्तरण घटित होता है। इस दुनियाँ को बेहद प्रभावित करने वाले ऋषि, मनीषी, नबी, संत और महात्मा इसी प्रकार की अनुभूतियों को आत्मसात् करने वाले द्रष्टा कहे जा सकते हैं। ऐन्द्रिक सभ्यता के इस युग में जहाँ मानवता के अर्थ का दैहिक आयाम में ही अवमूल्यन हो रहा है, भारतीय मनोवैज्ञानिक चिन्तन ही उसके आत्मोन्नयन का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। यह ग्रंथ इसी दिशा में एक अकादमिक पहल है। सम्प्रति दर्शनशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान एक दूसरे से अपना सम्बन्ध विच्छेद सा कर चुके हैं। आज जबकि दार्शनिक चिन्तन के अनुप्रयुक्त आयाम पर अधिक बल दिया जा रहा है तो फिर से दर्शन एवं मनोविज्ञान को एक दूसरे का सम्पूरक बनना चाहिये। एतदर्थ मनुष्य को उसके मनोदैहिक व्यापारों और आत्मिक अभीप्साओं को सम्पूर्णता में व्याख्यायित करने के लिये एवं मनुष्य के मूल्योन्मुखी रूपान्तरण के सूत्रों को खोजने के लिये आधुनिक पाश्चात्य-मनोविज्ञान एवं भारतीय मनोविज्ञान का दार्शनिक धरातल पर सम्मिलन आवश्यक है।

डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा



विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
सागर, मध्यप्रदेश